कुंभनदास

कुंभनदास जी का जन्म सं० १५२५ में[1] गोवर्धन के निकट जमुनावतौ नामक गाँव में हुआ। इनके पिता का नाम भगवानदास था[2] और चाचा का धरमदास[3]। इनकी जाति के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है। मिश्रबन्धुओं ने इन्हें ब्राह्मण माना है।[4] श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार आप क्षत्रिय थे[5] और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार शूद्र[6]।

कुंभनदास जी सात[7] या आठ[8] पुत्रों के पिता थे और थोड़ी-सी खेती से सबकी जीविका चलाते थे। इनका पारिवारिक जीवन आर्थिक कष्टों से भरा था, किन्तु यह गृही संत सदा अपने में मस्त रहा, किसी के सामने अपना हाथ नहीं पसारा और श्रीनाथ जी को छोड़ कर किसी की कीर्त्ति नहीं गायी। इनके पुत्रों में एक चतुर्भुजदास भी थे जो अष्टछाप के कवि और प्रसिद्ध भक्त हुए।

कुंभनदास जी को काव्य रचने और गायन करने की अभिरुचि बचपन से थी और बचपन से ही भक्त चाचा की संगति ने उन्हें ईश्वरोन्मुख भी कर दिया था। इस प्रकार कुंभनदास जी छोटी अवस्था से ही भक्ति के पद रचकर गाया करते[1]।

सं० १५५६ के आसपास आपकी भेंट महाप्रभु वल्लभाचार्य से हुई और आप महाप्रभु के शिष्य हो गये। इस घटना के ३६ वर्षों के बाद जब गोसाईं विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' के नाम से आठ भक्त कवियों की

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास श्री प्रभुदयाल मीतल, श्री द्वारिका दास परीख। २. भाव-संग्रह। ३. श्रीनाथ जी के प्राकट्य की वार्त्ता। ४. मिश्र-बन्धु-विनोद। ५. अष्टछाप-परिचय। ६. हिन्दी साहित्य। ७. प्रभुदयाल मीतल। ८. हजारी प्रसाद द्विवेदी।

एक मण्डली बनाई तो उसमें कुंभनदास और उनके पुत्र चतुर्भुजदास दोनों को स्थान मिला। इस प्रकार कुंभनदास जी न केवल अष्टछाप के कवि हुए बल्कि अष्टछाप के एक कवि के पिता भी। यह गौरव अष्टछाप के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। तत्कालीन अन्य कृष्णभक्तों की तरह अष्टछाप के कवियों के भी भक्तिपरक साम्प्रदायिक उपनाम थे और ऐसे उपनाम को वे, अपने सामाजिक नाम से अधिक महत्त्व देने के लिये, 'मूल नाम' कहते थे। कुंभनदास जी का साम्प्रदायिक उपनाम था अर्जुनसखा।

कुंभनदास के परम संतोष, निर्भीकता और अनन्य भक्ति के प्रसंग में दो प्रमुख घटनाओं का उल्लेख होता है। एक घटना का सम्बन्ध राजा मान सिंह से है। एक बार राजा मान सिंह श्रीनाथ जी का दर्शन करने के लिये उनके मन्दिर में गये। वहाँ कुंभनदास जी विभोर होकर भक्ति के पद गा रहे थे। मान सिंह मुग्ध हो गये। उन्होंने बहुत-सा धन दे कर भक्त को आर्थिक संकट से मुक्त करने की इच्छा प्रकट की, किन्तु कुंभनदास जी ने कुछ भी लेना स्वीकार नहीं किया। जब मान सिंह ने कुछ भी माँगने का हठ ठान दिया तो कुंभनदास ने यही माँगा कि आप हमारे आगे से चले जायँ। कुंभनदास जी ऐसे निर्लोभ और निर्भीक थे।

दूसरी घटना का संबंध मुगल बादशाह अकबर से है। एक बार जब अकबर फतहपुर सीकरी आये तब दरबार में एक गायक ने संयोग से कुंभनदास जी का ही एक पद गाया। वह पद बादशाह को इतना अच्छा लगा कि वे कवि के दर्शनों के लिए व्याकुल हो उठे। तुरंत कुंभनदास जी को लाने के लिये पालकी लेकर बादशाह के सिपाही उनके गाँव गये। कुंभनदास जी ने सवारी पर चढ़ना अस्वीकार कर दिया और एक साधारण कृषक की तरह पैदल चल कर अन्यमनस्क भाव से फतहपुर सीकरी आये। जब अकबर ने एक नवीन पद सुनाने का आग्रह किया तब कुंभनदास ने यह पद गाया—

संतन को कहा सीकरी सो काम ।
आवत जात पनहियाँ टूटीं बिसरि गये हरिनाम ।
जिनको मुख देखै दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम ।
'कुंभनदास' लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥

ऐसी थी कुंभनदास की स्पष्टवादिता और भक्ति ! उनकी इस निश्छल स्पष्टवादिता पर अकबर को क्रोध नहीं आया और उन्होंने कुंभनदास जी को सम्मानपूर्वक घर पहुँचवाया ।

कुंभनदास बड़े निरीह भक्त थे । उनके एक पुत्र कृष्णदास जी श्रीनाथ जी की गायें चराया करते थे । एक दिन साँझ को जब वे गायें चरा कर लौट रहे थे, एक सिंह गायों पर टूट पड़ा । कृष्णदास जी उन्हें बचाने की कोशिश में सिंह से उलझ गये । और स्वयं पंचतत्व को प्राप्त हुए । जब यह समाचार कुंभनदास को मिला तो उन्हें यह जानकर संतोष हुआ कि उनका पुत्र श्रीनाथ जी के काम आया ।

कुंभनदास जी का देहावसान ११५ वर्ष की आयु में सं० १६४० में हुआ । अर्थात् कुंभनदास जी की मृत्यु उसी वर्ष हुई, जिस वर्ष सूरदास जी की ।

कुंभनदास का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । उनके स्फुट पद ही मिलते हैं । ऐसे पदों की संख्या कई सौ हैं और ये सभी कीर्त्तन के पद हैं। वैसे 'दानलीला' और 'मांनलीला' पुस्तकें इनकी लिखी कही जाती हैं ।

कुंभनदास जी 'अष्टछाप' के एक विशिष्ट कवि थे क्योंकि—

१. वे 'अष्टछाप' के कवियों में सबसे अधिक वयोवृद्ध थे ।
२. वे 'अष्टछाप' के एक कवि (चतुर्भुजदास) के पिता भी थे और यह गौरव अष्टछापी कवियों में केवल उन्हें ही प्राप्त था, और
३. 'अष्टछाप' के कवियों में केवल कुंभनदास ही ऐसे कवि थे, जिन्होंने कृष्ण की बाल-लीला का पद न गाकर केवल युगल-लीला के पद गाए।

वल्लभ-सम्प्रदाय (पुष्टि मार्ग) में दीक्षित होने के बाद तो श्रीनाथ के मंदिर में वे स्वरचित पद तबतक गाते रहे जबतक सूरदास जी वहाँ नहीं आये। अतः कुंभनदास जी के रचना-काल का आरंभ सं० १५५६ के पहले ही मानना चाहिए। इस प्रकार कुंभनदास जी ब्रजभाषा-काव्य के आरंभ-कर्त्ताओं में हैं। यदि सूरदास जी ब्रजभाषा के व्यास हैं तो कुंभनदासजी वाल्मीकि।

कुंभनदास जी का काव्य विषय, छंद, शैली और भाषा इन सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और अध्ययनीय है। कुंभनदास के काव्य का विषय है प्रेम। रूप-वर्णन, लीला-वर्णन और प्रकृति वर्णन (ऋतु एवं उत्सव-वर्णन) में वे इसी प्रेम का आधार एवं वातावरण प्रस्तुत करते हैं। यह बात इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ अष्टछाप के अन्य कवियों ने वात्सल्य-भक्ति के भी पद लिखे, वहाँ कुंभनदास ने केवल माधुर्य-भक्ति का गायन किया और इस प्रकार वे जयदेव और विद्यापति से आने वाली कृष्णकाव्य की परम्परा को भक्तिपूत कर नवीकृत करने वाले भक्त कवि हैं—

नव बन, नव घन, नव चातक पिक, नवल कसूमी सारी।
नवल किसोर वाम अंग सोभित, नव वृषभान दुलारी॥

उनके गोवर्धनधारी कृष्ण को देखकर 'मनज अमोल' बढ़ता है—

तेरे नैन चंचल बदन कमल पर, मनों जुग खंजन करत कलोल।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, देखत बाढ़ै मनज अमोल॥

शायद इसलिए कि कृष्ण के अंग-अंग में जीवनदायी 'प्रेमपियूष' भरा है।

'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर अँग-अँग प्रेम-पियूष भरयौ है।

कुंभनदास की अपने आराध्य की युगलमूर्त्ति के प्रति सहजा-सक्ति है—

'कुंभनदास' लाल गिरिधर, यह जोरी सहज समान।

वैसे गोचारण और गोदोहन के पदों में बाल-लीला का आभास मिलता है और शायद इसीलिए रामचन्द्र शुक्ल ने इनके प्रसंग में बाल-लीला का उल्लेख किया है। किन्तु वस्तुतः ये पद विशुद्ध बाल-लीला के पद न होकर अपने प्रेमपरक निष्कर्ष के कारण प्रेम-लीला के ही पद सिद्ध होते हैं। जैसे,

तुम नीके दुहि जानत गैया।
'कुंभनदास' प्रभु मानि लई रति गिरि-गोबरधन रैया ॥

इस पद की अंतिम पंक्ति में मान-लीला ही स्पष्ट है, न कि बाल-लीला।

कुंभनदास ने गीत के अतिरिक्त ऐसे छंद भी लिखे, जिनका अनुसरण बाद में हुआ। इस तथ्य को निम्नलिखित वसन्त-वर्णन उदाहृत करता है—

आई रितु चहुँ-दिसि फूले द्रुम-कानन,
कोकिला-समूह मिलि गावत बसंतहिं।
मधुप गुंजरत मिल सप्तसुर,
भयौ है हुलास तन-मन सब जंतहिं ॥
मुदित रसिक जन उमांग भरे हैं,
नहिं पावत मनमथ-सुख अंतहिं।
कुंभनदास' स्वामिनि बेगहिं चलि,
यह समऐं मिलि गिरिधर नव कंतहिं ॥

यह वर्णन भाव, छंद और शैली सभी दृष्टियों से भक्ति-काल से अधिक रीतिकाल के निकट है।

कुंभनदास की भाषा संस्कृतनिष्ठ या साहित्यिक है। वैसे उसमें लोकभाषा की सरल स्निग्धता के उदाहरण भी उपलब्ध हैं, जैसे,

मेरी सारी भीजत है जे नई।

सूरदास

सूरदास कृष्णकाव्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। हिन्दी साहित्याकाश में यदि तुलसी चन्द्रमा हैं, तो सूरदास सूर्य—'सूर सूर तुलसी ससी।' सूरदास हिन्दी के उन विरल कवियो में हैं जिनके गीत महाकाव्य बन गये। हिन्दी में विरह और बाल-साहित्य के अद्वितीय विधाता सूरदास ही हैं।

हिन्दी-साहित्य में सूरदास जी का इतना महत्त्व होते हुए भी उनका जीवन-वृत्त अभी तक प्रामाणिक रूप से उपस्थित नहीं किया जा सका है। सूरदास के जीवन-वृत्त जानने के तीन ही प्रमुख साधन हैं—

१. किंवदन्तियाँ,

२. भक्तों की जीवनियाँ, जिनमें प्रमुख हैं 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' और 'अष्टसखान की वार्त्ता', और

३. सूरदास के रचे पद।

इनके आधार पर कहा जा सकता है कि सूरदास का जन्म सं० १५३५ (कुछ विद्वानों के अनुसार सं० १५४०) में दिल्ली के निकट सीही नामक गाँव में बसनेवाले एक गरीब ब्राह्मण परिवार में हुआ।[1] सूरदास जन्मान्ध थे या बाद को, अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन की

---

१. (क) गो० यदुनाथजी सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं—

ततोऽर्कलपुरे समागताः। तत्राऽऽवासः कृतः।

ततो व्रजसमागमने सारस्वत-सूरदासोऽनुगृहीतः। (वल्लभदिग्विजय)

(ख) प्राणनाथ का भी यही मत है—

सुवल्लभ प्रभु लाड़िले, सीही-सर जलजात।

सारसुती दुज तरु सुफल, सूर भगत विख्यात॥ (अष्टसखामृत)

तरह, अन्धे हुए—इस बात को लेकर बड़ा विवाद है। लेकिन सूरदास ने बार-बार पदों में अपने को अन्धा कहा है—'सूर कहा कहौं द्विविध आँधरो।'

शायद माता पिता की निर्धनता और अपनी जन्मान्धता के कारण सूरदास जी को परिवार का स्नेह नहीं मिल सका और सूरदास जी बचपन में ही विरक्त होकर घर से निकल पड़े। अट्ठारह वर्षों तक अपने गाँव के पास ही एक कुटिया में रहे। यहाँ उन्होंने संगीत और ज्योतिष का अच्छा अभ्यास किया, किन्तु इन्हीं के कारण उन्हें वह स्थान छोड़ना भी पड़ा, क्योंकि उनके चारों ओर गान सुननेवालों और शकुन या भविष्य पूछनेवालों की भीड़ लगी रहती। भक्त को आराधना का समय नहीं मिलता। फलस्वरूप सूरदास गऊघाट (मथुरा और आगरा के बीच यमुना नदी के तीर पर बसा एक स्थल) चले गये। ३१ वर्ष की अवस्था तक यहीं रहे। यहाँ सूरदास को संगीत, काव्य और शास्त्र के अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। वे इन विद्याओं में निपुण हो गये। सूरदास के पद उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य के परिचायक हैं।

गऊघाट पर सूरदास जी वैराग्यभाव से विनय के पद रचते और गाकर भक्तों के हृदय को आनन्द-विभोर कर देते। सूरदास के दीनभाव से भरे भक्ति के पद यहीं लिखे गये थे। तब उनके जीवन में एक महान घटना घटी। सं० १५६७ में वल्लभाचार्य ब्रज जाते हुए गऊघाट पर एक बार रुक गये। सूरदास ने उन्हें विनय के पद सुनाये। वल्लभाचार्य मोहित हो गये और उधर सूरदास वल्लभाचार्य जैसे गुरु को प्राप्त कर कृतकृत्य हो उठे। सूरदास जी ने पदों में अपने गुरु वल्लभाचार्य के प्रति बड़ी हार्दिक भक्ति दिखलाई है:—

> भरोसे इन दृढ़ चरनन केरो।
> श्रीवल्लभ-नखचन्द्र-छटा बिन सब जग माँझ अँधेरो।

वल्लभाचार्य ने सूरदास को अपना शिष्य बनाते हुये तथा उन्हें अपने पुष्टि-मार्ग में दीक्षित करते हुए कहा कि सूर होकर अपने पदों में इतनी

दीनता क्यों प्रकट करते हो, कुछ भगवत्लीला का वर्णन करो—'श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर ह्वै के ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवत्लीला वर्णन करि'[1] तब से सूरदास दीन भाव के पद बनाना छोड़ कर लीला (विशेषतः बाललीला) के पद रचने लगे। सूरदास जी इसके बाद वल्लभाचार्य के साथ व्रज गये और गोवर्धन के पास परासोली नामक जगह को अपना स्थायी निवास-स्थान बनाया और मृत्यु तक वहीं रहे।

सूरदास जी वल्लभाचार्य जी द्वारा स्थापित पुष्टि-सम्प्रदाय (वैष्णव-भक्ति की एक शाखा जिसमें भगवान् की कृपा (Grace of God) को सब कुछ माना जाता है और भगवान् को सखा भाव से भजा जाता है) के सर्वश्रेष्ठ कवि भक्त थे। अतः उक्त सम्प्रदाय में उनका बड़ा सम्मान था। वल्लभाचार्यजी के बाद उनके सुपुत्र विट्ठलनाथ जी ने जो पुष्टिसम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों की एक मंडली बनायी, और जो 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध है, सूरदास जी उसी 'अष्टछाप' के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सदस्य थे।

कहा जाता है कि एक बार तानसेन ने अकबर के दरबार में सूरदास का एक पद सुनाया। उसे सुनकर अकबर बहुत प्रभावित हुए और सूरदास से मिलने मथुरा चले आये। अकबर के आग्रह पर सूरदास ने 'मन रे तू कर माधो से प्रीत' नामक भजन गाया। अकबर बहुत प्रसन्न हुये और प्रसन्नता के आवेश में सूरदास से बोले कि कुछ मेरा यश-वर्णन कीजिये। लेकिन क्या यह सम्भव था ? भक्त सूरदास ने गाया—

नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नंद नंदन अछत कैसे आनिये उर और ?

(अर्थात् हे अकबर, मेरे मन में अब दूसरों की प्रशंसा के लिए अव-

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता ।

सर और स्थान ही नहीं है। भला कृष्ण के रहते किसी दूसरे को हृदय में जगह कैसे मिल सकती है ?)

भक्त की इस निष्ठा ने अकबर को चुप कर दिया।

सूरदास जी की मृत्यु का बड़ा मार्मिक वर्णन मिलता है। सूरदासजी अपने निवास-स्थान परासोली से चलकर प्रति दिन श्रीनाथ जी के मंदिर में आते थे और फिर वापस लौट जाते थे। जिस दिन उनकी मृत्यु हुई, उस दिन भी वे श्रीनाथ जी के मन्दिर में आये, किन्तु आकर सवेरे ही लौट गये। विट्ठलनाथ जी उन्हें न देख कर उपस्थित व्यक्तियों से पूछने लगे। तभी कुछ सेवक दौड़ते हुये आये और कहा कि सूरदास जी अचेत हो कर पड़े हैं। विट्ठलनाथ जी विह्वल हो गये और बोले—'आज पुष्टि-मार्ग का जहाज जाने वाला है, जिसको जो कुछ लेना हो, वह ले ले।'

सभी दौड़ कर सूरदास जी के पास आये। विट्ठलनाथ जी ने जब सूरदास जी का हाथ पकड़ा और हाल पूछा तब सूरदास जी ने एक क्षण के लिये अपनी आँखें खोल दीं और यह पद गुनगुनाया—

खंजन नैन रूप-रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि-पलटि ताटंक फँदाते
'सूरदास' अंजन-गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

और इस पद की समाप्ति के साथ कविवर सूरदास जी की लौकिक लीला समाप्त हो गई। सूरदास की मृत्यु सं० १६४० में हुई।

सूरदास जी के रचे २५ ग्रन्थ कहे जाते हैं, पर इनमें से अनेक प्रामाणिक सिद्ध नहीं होते और कुछ 'सूरसागर' के ही अंशमात्र हैं। सूरदास की प्रामाणिक रचनाएँ हैं:—

१. सूरसागर

२. सूर-सारावली

३. साहित्य-लहरी

४. सूरपच्चीसी

५. सूर-साठी

६. सेवा-फल

७. सूरदास के विनय के पद ।

इन ग्रन्थों में सर्वमान्य और सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ 'सूरसागर' ही है और वही सूरदास जी के यश का मूल आधार भी है। वैसे 'सूर-सारावली' और 'साहित्य-लहरी' का भी अपना महत्त्व है।

सूरदास जी वैष्णव भक्तों की परम्परा में उत्पन्न हुए थे। वैष्णव सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है भक्ति। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान् एक है। वह संसार के कल्याण के लिए अवतार ग्रहण करता है। उस भगवान् की प्राप्ति ज्ञान से नहीं, भक्ति से हो सकती है। सूरदास जी वैष्णव मत के इन सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। भक्ति ही सूरदास का पौरुष है—

तुम्हरी भक्ति हमारे प्राण।

यदि भगवान् जहाज है तो सूरदास का मन समुद्र का वह पच्छी है जिसे जहाज को छोड़ कर और कहीं शरण नहीं मिलती—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥

सूरदास के प्रभु ने नंद के आँगन में बालक बन कर अवतार लिया है—

वेद उपनिषद यश कहै निर्गुणहिं बतावै॥
सोइ सगुण होइ नंद की दाँवरी बधावै॥

अथवा

जसोदा हरि पालने झुलावै।
जो सुख सूर अमर मुनि-दुर्लभ सो नंद भामिनी पावै॥

सूरदास मानते हैं कि भगवान् मूलरूप में निर्गुण हैं किन्तु भक्तों के लिए सगुण रूप भी ग्रहण करते हैं। चूँकि यह सगुण रूप सर्वसुलभ है इसलिये सूरदास जी सगुणरूप को ही श्रेयस्कर मानते हैं—

अवगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

सगुण की श्रेष्ठता सूरदास जी ने 'भ्रमरगीत' में बड़े विस्तार से प्रतिपादित की है और उतने ही विस्तार और विशदता से यह सिद्ध किया है कि भगवान् की प्राप्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा शुद्ध भक्ति की आवश्यकता है।

वैष्णवधर्म में युगलमूर्त्ति की आराधना की परिपाटी है। उसमें ब्रह्म के साथ माया, विष्णु के साथ लक्ष्मी, राम के साथ सीता और कृष्ण के साथ राधा की उपस्थिति वांछनीय है। सूरदास जी ने भी राधाकृष्ण के युगलस्वरूप का विहार ही वर्णित किया है।

वैष्णवभक्ति में भक्ति के ६ अंग माने गये हैं। ये सभी सूरदास के पदों में वर्त्तमान हैं। नीचे उदाहरण दिये जाते हैं—

१. आनुकूल्य-संकल्प (भगवान् के प्रति सब तरह से अनुकूल बने रहने की प्रतिज्ञा):—

रे मन कृस्न नाम कहि लीजै।
गुरु के वचन अटल करि मानों साधु समागम कीजै॥

२. प्रातिकूल्य-वर्जन (भगवान् की इच्छा के प्रतिकूल कुछ न करने का निश्चय)—

तजो मन हरि-विमुखन को संग।
जाके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग॥

३. रक्षण-विश्वास (भगवान् रक्षा करेंगे, सदा ऐसा विश्वास रखना):—

सरन गये को को न उबार्‌यो ।
जब-जब भीर परी भगतन पर चक्र सुदरसन तहाँ सँभार्‌यो ॥

४. गोप्तृत्व-वरण (एक मात्र भगवान् को मुक्ति-दाता और उद्धारक मानना)—

चरण कमल बंदौ हरि राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अँधरे को सब कछु दरसाई ॥

५. आत्मनिक्षेप (भगवान् को आत्मसमर्पण कर देना)—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ?
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै ।

अथवा

हमें नंद-नंदन मोल लिए । . . .
सब कोउ कहत गुलाम श्याम के सुनत सिरात हिये ।
सूरदास प्रभू जू के चेरे जूठन खात जिये ॥

६. कार्पण्य (भगवान् के सम्मुख दीनता का भाव रखना)—

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तनु दियों ताहि बिसरायो ऐसो नोन हरामी ॥

अथवा

प्रभु हम हौं पतितन को टींकौ ।
और पतित सब द्यौस चारि को हौं तो जनमत ही कौ ॥

सूरदास के पदों में कार्पण्य अथवा दीनता के इस स्वर को देख कर, यानी यह देख कर कि सूरदास बार-बार अपने पापों को स्वीकार करते हैं,

कुछ लोग यह कहने लगे थे कि सूरदास पर ईसाई मत की छाप है, क्योंकि ईसाई मत में पाप-स्वीकृति (Confession) का विधान है। किन्तु यह विचार भ्रामक है। ईसाइयों की पाप-स्वीकृति वास्तविक होती है जबकि सूरदास जैसे भक्तों का पाप-बोध उनके शील एवं अनन्य भक्ति का द्योतक होता है।

वैष्णव-भक्ति में दीनभाव की बड़ी महिमा है। वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति की सात भूमिकाएँ मानी गई हैं। इन सात भूमिकाओं में उतरे बिना विनय अपूर्ण समझी जाती है। भक्ति के छः अंगों की तरह इन सात भूमिकाओं का भी उद्देश्य है, सब प्रकार के मन को प्रभु की ओर प्रेरित करना। सूरदास के विनय के पदों में ये सातों भूमिकाएँ मिलती हैं। नीचे हम इन्हें उदाहृत करते हैं :

१. दीनता (अपने को सब प्रकार से तुच्छ समझना)—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नोन हरामी॥

२. मानमर्षता (अभिमान त्यागकर प्रभु की शरण में जाना)—

हमें नंद-नंदन मोल लिए।
सब कोउ कहत गुलाम श्याम के सुनत सिरात हिए।
सूरदास प्रभू जू के चेरे जूठन खाय जिये॥

अथवा

ऐसेहि बसिए ब्रज की बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि चुनि उदर जु भरिये सीतनि॥

३. भर्त्सना (मन को शासित करना और बुरे कर्मों के लिए डाँटना)—

जनम सिरानो अटके-भटके।
सुत संपति गृहराज मान को फिरो अनत ही भटके॥

अथवा

छाँड़ि मन हरि विमुखन को संग ।
जाके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग ॥

अथवा

रे मन मूरख जनम गँवायो ।
करि अभिमान विषय रस राच्यो श्याम सरण नहिं आयो ॥

४. भय-दर्शन (भगवान् के प्रतिकूल चलने के कारण अर्थात् माया-मोह में फँसने के कारण होनेवाली बुराइयों का भय दिखलाकर मनको भगवान् की ओर उन्मुख करना)—

भगति बिन बैल बिरानो ह्वै हौ ।

अथवा

भगति बिन सूकर कूकर जैसो ।

५. आश्वासन (भगवान् की वत्सलता में विश्वास करके मन को दृढ़ और निश्चित करना)—

गोबिन्द प्रीति सबन की मानत ।
जो जेहि भाय करै जनु सेवा अन्तरगति की जानत ॥

अथवा

जा पर दीनानाथ ढरै ।
ताकर केस खसै ना सिरते जो जग बैर परै ॥

६. मनोराज्य (अपने मन में बड़ी-बड़ी इच्छाएँ करना और भगवान् से उनकी पूर्त्ति की आशा रखना)—

ऐसो कब करिहौ गोपाल ।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हौ प्रभु दीनदयाल ॥

७. विचारण (संसार के मायाजाल पर तर्कपूर्वक विचारना और मनको उससे विरक्त कर ईश्वरोन्मुख करना)—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहै॥

अथवा

जगत में जीवन ही को नातो।
मन बिछुरे तन छार होइगो कोई न बात पुछातो॥

अतः सूरदास एक वैष्णव भक्त हैं और उनकी भक्ति में वैष्णव सम्प्रदाय की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। किन्तु सूरदास की इस भक्ति पर वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग की स्पष्ट छाप है। हम जानते हैं कि ३१ वर्ष की अवस्था तक सूरदास गऊ घाट में रहे और दीनभाव से भरे विशुद्ध वैष्णवपद गाते रहे। तभी उनकी भेंट वल्लभाचार्य से हुई और वे पुष्टि-मार्ग में दीक्षित हुए। पुष्टिमार्ग की कई विशिष्टताएँ हैं। पुष्टिमार्ग भगवान् की कृपा में विश्वास करता है, पुरुषार्थ में नहीं। पुष्टिमार्ग सख्य-भाव की भक्ति करता है, दीन-भाव की नहीं। पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण की उपासना होती है, उनकी रूपासक्ति (रूप-वर्णन) भी भक्ति मानी जाती है और उनकी दैनिक क्रियाओं की चर्चा होती है।

सूरदास पर स्वभावतः पुष्टिमार्ग की छाप है। वे भगवान् की कृपा को ही सकल पुरुषार्थ मानते हैं।

कृपा बिन नहीं या रसहिं पावै।

सूरदासजी ने सख्यभाव की भक्ति के अनेक पद रचे हैं। गऊघाट के सूरदास भगवान् से डरते थे। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने पर वे भगवान् के अंतरंग सखा हो गए, उनका भय मिट गया। उनमें प्रेमसुलभ धृष्टता आ गई। कहीं-कहीं अब वे अपने इष्टदेव से प्रेमपूर्वक झगड़ने को भी तैयार हो जाते हैं—

कै हमहीं के तुमही माधव, अपुन भरोसे लड़िहौं।

बालकृष्ण का रूपगुण वर्णन करते वे थकते नहीं हैं। कृष्ण की दैनिक क्रियाओं—सोना, उठना, नहाना, कलेवा करना आदि का वे बड़े मनोयोग से वर्णन करते हैं।

सूरदास की भक्ति के सम्बन्ध में एक बात और कहनी है और वह यह कि यद्यपि सूरदास की भक्ति का बाह्य रूप साम्प्रदायिक है किन्तु उसकी अन्तरात्मा सर्वथा मौलिक है।

सूरदास जी को अन्य साधारण भक्तों से अलग करनेवाली कई चीजें हैं। पहली वस्तु है अनन्यासक्ति की कोटि की भक्ति, चरम विरहानुभूति और पारदर्शी सरलता। जो तीव्र विरह-संवेदन सूरदास के विनय के पदों में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'निसि दिन बरसत नयन हमारे' जैसी पंक्ति हिन्दी-साहित्य में केवल सूरदास की ही विभूति है।

दूसरी चीज यह है कि सूरदास जी की भक्ति में वह पूर्वग्रह नहीं है, जो एक कट्टर वैष्णव या शैव में होता है। वे एक उदार वैष्णव हैं, पञ्चदेवोपासक हैं। उन्होंने कृष्ण के साथ राम का भी कीर्त्तन किया है और कृष्ण को शङ्कर-वेश में भी उपस्थित किया है। सच तो यह है कि सूरदास जी ने वैष्णव और शैव सिद्धान्तों का समुचित समन्वय किया है।

तीसरी चीज जो सूरदास को असाधारण सिद्ध करती है, वह है भक्ति और काव्य का संयोग। सूरदास एक भक्त कलाकार हैं, इसलिए उनके पदों में भक्ति और काव्य का मणिकांचन दुर्लभ संयोग हुआ है। जैसेः—

चरण कमल वंदौ हरिराई।

(यह पद भक्त की आत्मप्रेरणा के साथ गीत की अपूर्व गठन को उपस्थित करता है।)

बा पद पीत की फहरानि।

(यह पद प्रेमविभोर हृदय का चित्रण और उत्प्रेक्षा का चमत्कार एक साथ ही उपस्थित करता है।)

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।

(यह पद भक्त का मनोराज्य और काव्य का ओज एक साथ ही लिये हुए है।)

'भ्रमरगीत' में जहाँ सूरदास निर्गुण-सगुण-विवेचन करते हैं, वहाँ भी उनकी शैली तार्किकता के कारण नीरस और जड़ नहीं हो पाई है, बल्कि वक्रोक्तिपूर्ण होने के कारण उनका 'भ्रमरगीत' उपालम्भ काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण हो गया है।

सूरदास जी वात्सल्य रस के आचार्य हैं। सूर जैसा वात्सल्य-स्नेह का भावुक कवि शायद ही कहीं मिले। सूरदास जी ने राधा-कृष्ण के बालपन के असंख्य मनोहर चित्र रखे हैं। सूर-साहित्य में कृष्ण का पालने पर झूलना, घुटने के बल चलना, चाँद के लिए मचलना, नहाते समय रूठ जाना, मक्खन-चोरी करना, मिट्टी खाना आदि के अतिरिक्त गोचारण, दानलीला, मान-लीला के असंख्य रसपूर्ण चित्र हैं। सूरदास ने अपनी बंद आँखों से वात्सल्य के क्षेत्र का जितना उद्घाटन किया है, उतना आँखवाले कवि भी नहीं कर सके। फिर सूरदास जी जिस परिस्थिति का चित्रण करते हैं, उसमें डूब जाते हैं। ऐसा लगता है कि सूरदास जी बालक कृष्ण के हृदय में उतर कर उनकी मनोदशाओं का चित्रण कर रहे हैं। जब कृष्ण बोलते हैं तो लगता है कि बालक ही बोल रहा है, सूरदास कवि नहीं। फिर सूरदास ने बालकों के अनुरूप सीधी-सादी देशज-शब्दों से भरी हुई भाषा का प्रयोग किया है। अतः उनके वर्णन में सर्वत्र स्वाभाविकता है।

वात्सल्य-चित्रण दो प्रकार का होगा। एक में बालक के रूप का वर्णन होगा और दूसरे में उसकी प्रवृत्तियों का। एक वात्सल्य का बाहरी रूप

होगा और दूसरा उसका आन्तरिक स्वरूप। सूरदास के वात्सल्य-चित्रण में ये दोनों रूप पुष्ट हैं। सूरदासजी ने बालक कृष्ण के रूप का चित्रण अनेक पदों में किया है। ये रूप दो प्रकार के हैं—स्थिर रूप (Static picture) और गत्यात्मक रूप (Dynamic picture) जहाँ सूरदास जी ने कृष्ण के सुन्दर मुखड़े, कमल-सी आँखों, लटों, टोपी, घुँघरू आदि का चित्रण किया है, वहाँ रूप का स्थिर चित्र उतारा गया है और जहाँ खेलते-खाते या रेंगते समय कृष्ण का चित्रण किया गया है वहाँ गत्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है।

(१) जसोदा हरि पालने झुलावै
(२) देखो री सुन्दरता को सागर।

आदि पदों में कृष्ण का स्थिर चित्र उतारा गया है।

सिखवन चलत जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरनी धरि पैंया॥

यहाँ गतिपूर्ण चित्र है। कृष्ण के रूप के साथ उनकी गति चित्रित हुई है। यहाँ यशोदा का कृष्ण को अँगुलि पकड़ कर चलाना, कृष्ण का हाथ पकड़ कर चलना, फिर गिरना आदि सब कुछ चित्रित है। कहना न होगा कि सूरदासजी को रूप के इन दोनों अङ्गों का चित्रण करने में समान सफलता मिली है।

बालक के रूप-वर्णन के साथ सूरदास उसकी प्रवृत्तियों के चित्रण में भी समान रूप से कुशल हैं। बालक में कौतूहल की प्रवृत्ति होती है। सूरदास के कृष्ण में भी वह प्रवृत्ति पाई जाती है। इसी से वे चाँद के लिए मचलते हैं—

लैहौं री माँ चंद चहौंगे।

बालक की एक दूसरी प्रवृत्ति है—स्पर्द्धा। स्पर्द्धा का अर्थ है, दूसरे

की बराबरी करने की इच्छा। सूरदासजी ने बाल-स्पर्द्धा का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। कृष्ण बलराम की बड़ी लंबी चोटी देख कर ललच जाते हैं। उनके मन में भी अपनी चोटी को उतनी ही बड़ी और लंबी बना लेने की इच्छा उत्पन्न होती है। कृष्ण यशोदा से अपने मन की बात कहते हैं। यशोदा को एक मौका मिल जाता है, दूध पिलाने का। अतः वह कहती है कि यदि तू दूध पियेगा तो तेरी चोटी पल मारते लंबी हो जायगी। निदान, कृष्ण दूध पीने लगते हैं। पर बहुत दिनों तक दूध पीते रहने पर भी जब चोटी लंबी नहीं होती तो माँ से शिकायत करते हैं कि—

> मैया, मेरी कब बाढ़ैगी चोटी।
> किती बार मोहि दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी।

बालक हठी होता है। सूरदास के कृष्ण भी हठी हैं। वे चाँद के लिए मचलते हैं तो फिर मानने का नाम नहीं लेते। यशोदा मुश्किल में पड़ जाती है—

> मेरो, माई! ऐसो हठी बाल गोबिन्दा।
> अपने करगहि गगन बतावत, खेलन को माँगै चंदा।

बालक की एक और प्रमुख प्रवृत्ति है—क्षोभ। बालक को छोटी-सी बात भी लग जाती है। सूरदासजी ने इस क्षोभ का चित्रण भी बड़ा सटीक किया है। कृष्ण बलराम के साथ गायें चराने जाते। बलराम कृष्ण को चिढ़ाते हैं। कहते हैं कि तू यशोदा का सच्चा बेटा नहीं है, खरीदा हुआ है। यदि ऐसा नहीं है तो बता कि यशोदा और नंद क्यों गोरे हैं और तू क्यों काला है। कृष्ण को यह बात लग जाती है। कृष्ण यशोदा के दरबार में फरियाद करते हैं कि देख बलराम ऐसा करता है और तू उल्टे मुझे ही मारती है—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजायौ ।
मोंसो कहत मोल को लीनो, तोहि जसुमति कब जायौ ।

तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै ।

अन्तिम पंक्ति में कैसा भोलापन है ! यही भोलापन सूरदास के वात्सल्य का प्राण है । यही उसका रस है ।

कृष्ण दही चुरा कर खाते हैं । चोरी पकड़ी जाती है । जब यशोदा पूछती हैं तो चट वे मुँह का दही पोंछ कर और दोने को पीठ पर छिपा कर कहते हैं कि मैंने दही नहीं खाया है । हाँ, मुझे याद आ गया, साथियों ने जबरदस्ती मेरे मुँह में दही लपेट दिया था । देखो न, दही का छींका कितना ऊँचा है और हमारे हाथ कितने छोटे हैं ! भला मैं दही चुरा सकता हूँ ?

मैया मोरी, मैं नाहीं दधि खायो ।
ख्याल परें ये सखा सबै मिलि, मेरे मुख लपटायो ।

कृष्ण के इस उत्तर में कवि की विदग्धता है, पर साथ ही उनकी तोतली बोली के इस उत्तर में परम स्वाभाविकता भी है ।

इसी स्वाभाविकता के लिए सूरदास ने अपने कृष्ण से झूठ बुलवाया है, मिट्टी खिलवायी है और बरतन-बासन फोड़वाया है ।

ऊपर कहा गया है कि वात्सल्य के दो पक्ष होंगे—संतानपक्ष और मातृ-पितृ पक्ष । सूरदास जी ने इन दोनों पक्षों का सम्यक् चित्रण किया है । बालक कृष्ण के रूप और प्रवृत्तियों के चित्रण में सूरदासजी को सफलता मिली है, इसका निर्देश किया जा चुका है । अब देखें कि यशोदा का स्नेह किस प्रकार चित्रित हुआ है ।

माता के स्नेह का क्या कहना ! यह उक्ति प्रसिद्ध है कि पुत्र कुपुत्र हो सकता है, लेकिन माता कुमाता नहीं हो सकती । फिर यशोदा तो

कृष्ण की माता हैं ! यशोदा का हृदय कोमल है । उसमें माता के सभी गुण हैं । माता की सबसे बड़ी इच्छा यही होती है कि उसका बालक सयाना हो जाय । यशोदा यही अभिलाषा करती है—

जसुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरे लाल घुटुरुवन रेंगे, कब धरनी पर द्वैक धरै ।

माता चाहती है कि उसका पुत्र सदा उसकी आँखों के सामने रहे । वही उसके नयन का प्रकाश है ।

खेलन कौं मेरो दूर गयौ ।
संग-संग कहँ धावत ह्वै हैं, बहुत अवेर भयौ ।

जब कृष्ण आते हैं, तो वह कहती है कि तू दूर खेलने न जाया कर । सुना है, जंगल में 'हाऊ' आया है ।

खेलत दूर जात कित कान्हा ?
आज सुन्यौ बन हाऊ आयौ, तुम नहीं जानत नान्हा ।

'हाऊ' का झूठा डर दिखा कर माता का अपने पुत्र को भटकने से रोकना कितना स्वाभाविक है ! सूरदासजी को बाल-मनोविज्ञान के साथ माता के हृदय का भी पूर्ण ज्ञान था ।

माता अपनी संतान को डाँटती भी है, पीटती भी है । पर उसकी डाँट स्कूल के गुरुजी की डाँट नहीं होती । उसकी डाँट प्रेमपूर्ण होती है । एक दृश्य देखिए । कृष्ण दही चुराते हैं । ग्वालिन यशोदा को उलाहना देती हैं । यशोदा को विश्वास नहीं होता कि पाँच साढ़े-पाँच साल का कृष्ण चोरी करेगा । मगर जब वह कृष्ण को देखती है तो उसके क्रोध का ठिकाना नहीं रहता । वह गाँव की मालकिन है । उसका बेटा दही चुराये और उसे उलाहना सहना पड़े, यह उसके लिए असह्य है । वह हाथ में छड़ी लेकर कृष्ण को मारने दौड़ती है । पर जब पाँच वर्ष का

कृष्ण मुँह के दही को पोंछकर कहता है कि साथियों ने मेरे मुँह में लपेट दिया है, तो उसकी तोतली बोली का जवाब सुनकर उलाहना देनेवाली ग्वालिनों की आँखें स्नेह से डबडबा आती हैं। यशोदा के हाथ की छड़ी गिर जाती है और वह कृष्ण को गोद में लेकर पुचकारने लगती है--

डारि साँटी, मुसुकाय तबै गहि सुत को कंठ लगायौ।

कृष्ण संबंधी वात्सल्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक को संयोग वात्सल्य और दूसरे को वियोग वात्सल्य कह सकते हैं। अक्रूर के आने के पूर्व तक का भाग, जब तक श्रीकृष्ण नंद और यशोदा के सामने हैं, संयोग वात्सल्य के अन्तर्गत आवेगा और अक्रूर के साथ कृष्ण के चले जाने के बाद का भाग वियोग वात्सल्य के भीतर होगा। संयोग वात्सल्य का चित्रण हो चुका। वियोग वात्सल्य का चित्रण देखिए। वियोग की इस दशा में माता-पिता-पुत्र के हृदय का अपूर्व चित्रण हुआ है।

जिस कृष्ण को यशोदा एक पल के लिए भी अपनी आँखों से दूर नहीं होने देती थी, वही कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा जा रहे हैं। बलराम और कृष्ण की जोड़ी टूट रही है। यशोदा की छाती फट रही है। उसके आगे अँधेरा छाया है। उसका गला भर आया है। कंस चाहे तो सब गाएँ ले ले, यशोदा को ही बंदी बना ले, मगर कृष्ण को न ले जाय। लेकिन यशोदा किसे अपनी बातें सुनाये? कौन हितू है जो कृष्ण को मथुरा जाने से बचा ले?

बरु या गोधन हरौं कंस सब, मोहि बंदि लै मेलौ।
इतनौ ही सुख कमल नैन मो अँखियन आगे खेलौ।

यशोदा की इस विनती में कितनी दीनता और कितनी विवशता है! यह दीनता यशोदा के वात्सल्य स्नेह के आधिक्य और कविवर सूरदास की प्रतिभा का फल है।

कृष्ण चले गए। महीनों बीत गए, पर न लौटे। यशोदा विकल है। वह सोचती है कि कृष्ण की भेंट अपने माता-पिता देवकी-वासुदेव से हो गई होगी। मैं तो गोपाल की 'धाय' थी। उसने मुझे भुला दिया। मगर मैं कैसे भुलाऊँ? एक पथिक को मथुरा की ओर जाते देखकर कहती है कि देवकी को हमारा एक संदेशा कह देना।

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, दया करत नित रहियो।

यशोदा अपने को कृष्ण की धाय मानती है और देवकी से प्रार्थना करती है कि कृष्ण की धाय समझ कर भी उसपर दया रखें। 'धाय' शब्द में कितनी ममता और फिर कितनी दीनता है। यशोदा जैसे सम्पूर्ण अस्तित्व से कृष्ण के लिए पागल हो रही है।

एक दिन एक पथिक नंद गाँव लौटता है। कृष्ण ने यशोदा को संदेशा भेजा है और लिखा है कि यशोदा, तुम मेरी माँ हो। माता भी कहीं धाय होती है? धाय शब्द का प्रयोग कर तुमने मुझे लज्जित किया है। तुमसे बिछुड़ने का मुझे बड़ा दुःख है। जिस दिन से तुम्हारा सँग छूटा, मुझे किसी ने 'कन्हैया' नहीं कहा—

जा दिन ते हम तुम तें बिछुरे,
काहु न कह्यो 'कन्हैया'।

यशोदा को कृष्ण की याद सताती रहती है। कृष्ण के वियोग में नंद और यशोदा का क्या हाल हुआ, इसका वर्णन सूरदास जी ने उद्धव के द्वारा बड़े मार्मिक शब्दों में कराया है। उद्धव को कृष्ण ने सन्देश देकर नंद और यशोदा के पास भेजा था। उद्धव लौटकर कृष्ण से कहते हैं कि नंद और यशोदा विक्षिप्त-से हो गए हैं। वे शाम-सुबह तुम्हारी ही राह देखते रहते हैं। वे दिन-रात 'कान्ह-कान्ह' की रट लगाये रहते हैं और

वे पागलों की तरह इधर-उधर तुम्हें ढूँढ़ते रहते हैं और उनकी आँखों में आँसू का स्रोत बहता रहता है—

नंद-जशोदा मारग जोवत नित उठि साँझ सकारे।
चहुँ दिसि 'कान्ह-कान्ह' कहि टेरत अंसुवन बहत पनारे॥

बाबा और मैया की यह दशा सुन कर कृष्ण 'मैया-मैया' कहकर रोने लगते हैं। उन्हें ब्रजभूमि भुलाये नहीं भूलती—

ऊधो ब्रज मोहि बिसरत नाहीं।

इस प्रकार वियोग वात्सल्य के क्षेत्र में भी सूरदास जी ने कमाल किया है। पुत्र के लिए माता-पिता के दीन स्नेह और माता-पिता के लिए पुत्र के विवश आकर्षण का ऐसा हृदय-स्पर्शी चित्र अन्यत्र नहीं मिलता।

हम सूरदास की तुलना देश और विदेश के कवियों से कर सकते हैं। विदेश में लौंगफेलो (Longfellow), वर्डस्वर्थ (Wordsworth) और ब्लेक ने वात्सल्य रस का चित्रण किया है, पर वे सूरदास के समकक्ष नहीं माने जा सकते। लौंगफेलो ने एक जगह लिखा है कि बालक संसार की सभी प्रबंध-कविताओं से श्रेष्ठ है—'You are better than all ballads. वर्डस्वर्थ ने लिखा कि बालक मनुष्य का पिता है—'The child is the father of man'. मगर इन कवियों ने बालक को दार्शनिक भाव से देखा, बालक को बालक-रूप में नहीं। इनकी कविताओं में हमें विचार मिलते हैं, किन्तु बालसुलभ क्रीड़ाओं और प्रवृत्तियों का वह सौंदर्य नहीं जो सूरदास की विभूति है।

ब्लेक और रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी बालक का चित्रण किया है। पर ब्लेक ने सर्वत्र, और रवीन्द्रनाथ ने कहीं-कहीं बालक को रहस्य के रूप में देखा है। ये दोनों कवि रहस्यवादी हैं। उन्होंने बालकों में

अज्ञात का सौंदर्य देखा है। उनकी रहस्यवादिता के नीचे बालकों का वह सहज सौंदर्य दबकर मर्माहत हो गया है जिसे हम सूरदास के पदों में देखते हैं।

हिंदी के आधुनिक काल के कवियों में हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण के वात्सल्य का और मैथिलीशरण ने 'यशोधरा' में राहुल के बचपन का जो चित्रण किया है वह तो सूरदास जी की नकल मात्र है। सुभद्रा कुमारी चौहान भी वात्सल्य-चित्रण के लिये प्रसिद्ध रही हैं। उनकी कई कविताएँ अच्छी बन पड़ी हैं। पर इनकी कविताओं में मातृ-पक्ष का ही अधिक सफल चित्रण हो सका है, जो स्वाभाविक था। सूरदास जैसी चतुर्मुखी सफलता किसी को नहीं मिली।

सूरदास जी को वात्सल्य-चित्रण में जो सफलता मिली है, उसके अनेक कारण हैं।

(१) पहला कारण सूरदास जी की भावुकता यानी प्रतिभा है। सूरदास जी को बालमनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान था और इसके साथ ही उनमें बालक के हृदय में उतर जाने की भावुकता थी। इसीलिए बालकों की सभी प्रवृत्तियों और विशेषताओं का वे चित्रण कर सके हैं और सो भी अत्यन्त स्वाभाविक रूप में।

(२) दूसरा कारण यह है कि सूरदास जी ने अपने वात्सल्य को अभिजात तत्वों से मुक्त रखा है। उन्होंने झूठे आदर्शवाद को प्रोत्साहन नहीं दिया है। उनके कृष्ण राजकुमार नहीं, एक साधारण बालक हैं। मिट्टी खाते हैं, दही चुराते हैं, बरतन-बासन फोड़ते हैं और वक्त आने पर झूठ बोलने में भी नहीं चूकते। इन सब बातों के कारण सूर का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और विश्वसनीय हुआ है।

(३) तीसरा कारण है अनुकूल भाषा। सूरदास जी ने बालक का चित्रण बालक के अनुरूप ही सरल-सुबोध भाषा में किया है। यदि वे

क्लिष्ट साहित्यिक भाषा का प्रयोग करते तो यह मनोरमता और सहज सौंदर्य नहीं आता। सरल-सुबोध भाषा के साथ सूरदास जी ने स्वभावोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है। चित्र को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में रख देना ही सूर की कला का रहस्य है। बहुत कुछ इसी के अभाव में तुलसी जैसे महाकवि को शिशु राम के वर्णन में सूर जैसी सफलता नहीं मिल पाई है।

(४) चौथा कारण यह है कि सूर का वात्सल्य एकांगी नहीं है। इसमें वात्सल्य के सभी पक्षों का उद्‌घाटन हुआ है। एक ओर कृष्ण (पुत्र) का वर्णन है तो दूसरी ओर नंद (पिता) और यशोदा (माता) का भी। अर्थात् सूर के वात्सल्य में सन्तान पक्ष और मातृ पितृ दोनों का चित्रण हुआ है। इस कारण उसका रस सघन, व्यापक और पूर्ण हुआ है। फिर उसमें वात्सल्य के संयोग और वियोग दोनों पहलुओं का चित्रण हुआ है। इस कारण उसमें उत्साह के साथ मर्मोच्छ्‌वास भी है। संयोग और वियोग के उपकूलों में बहनेवाली वात्सल्य की यह सरिता आवेग की लहरों से भरी है।

(५) पाँचवा कारण यह है कि सूरदासजी ने कृष्ण को अकेला चित्रित नहीं किया है, बल्कि उन्हें असंख्य ग्वाल बाल-बालों के बीच रख कर देखा है। ये ग्वाल-बाल कृष्ण के लिए एक अनुकूल पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं। यदि केवल कृष्ण का चित्रण किया जाता तो वह सजीव वातावरण नहीं आता जो ग्वाल-बालों की संगति के कारण आया है।

सूरदास के बाल-वर्णन की उत्कृष्टता असंदिग्ध है, किन्तु 'भ्रमरगीत' सूरसागर का सर्वश्रेष्ठ प्रसंग है। भ्रमरगीत सूर-साहित्य का 'मुकुट-मणि' है।

भ्रमरगीत की कथा संक्षेप में यह है। कंस अक्रूर को भेज कर कृष्ण को गोकुल से मथुरा बुलाता है। कंस का निमन्त्रण स्वीकार कर कृष्ण

मथुरा जाते हैं और कंस को मार कर माता-पिता को कारागार से मुक्त करते हैं। किन्तु कुब्जा नामक कंस की दासी अपनी निश्छलता से कृष्ण के प्रेम को जीत लेती है। मथुरा की राज्य-व्यवस्था तथा अन्य समस्याओं में उलझे रहने के कारण कृष्ण गोकुल नहीं जा पाते। इधर नंद, यशोदा, राधा तथा गोकुल की अन्य गोप-गोपियाँ सभी कृष्ण के विरह में व्याकुल रहते हैं। आखिर एक दिन जब कृष्ण को गोकुल का ध्यान आता है तब वे अपने परम मित्र उद्धव जी को गोकुलवासियों का हाल लेने के लिये भेजते हैं। कृष्ण ने उद्धव जी को केवल इसीलिए नहीं भेजा कि वे उनके अन्तरङ्ग मित्र होने के कारण सब प्रकार से विश्वासपात्र थे, बल्कि इसलिए भी भेजा कि उद्धव जी को ज्ञान का अभिमान था तथा वे ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ मानते थे, और कृष्ण जी चाहते थे कि गोपियों की अगाध भक्ति के सामने उद्धव का ज्ञानाभिमान टूट जाय और वे भक्ति की महिमा समझें। जब उद्धव गोकुल आए तब व्रज की गोपियाँ उनसे मिलने गईं। उद्धव ने उन्हें ज्ञान का महत्त्व बतलाना चाहा। इस पर गोपियाँ सगुण भक्ति के पक्ष में तर्क उपस्थित करने लगीं। उसी समय एक भौंरा उड़ता हुआ वहाँ आ कर गुनगुनाने लगा। बस गोपियों ने उसे भौंरे के व्याज से उद्धव जी को बनाना शुरू किया। इसलिये इस प्रसङ्ग का नाम भ्रमर-गीत पड़ा है। अन्त में उद्धव का ज्ञानाभिमान भङ्ग हुआ और वे सगुण भक्ति की प्रेरणा लेकर ही वापस गए।

भ्रमर-गीत का आधार है 'श्रीमद्भागवत'। 'श्रीमद्भागवत' के दसवें स्कन्ध के दस श्लोकों में भ्रमरगीत की मूल कथा आई है। किन्तु 'श्रीमद्भागवत' और 'सूरसागर' में एक मौलिक अन्तर है। 'श्रीमद्भागवत' में यद्यपि भक्ति के विरोध में कुछ नहीं कहा गया है, किन्तु यहाँ ग्रन्थकार का उद्देश्य भक्ति पर ज्ञान की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना अवश्य है, जब कि 'सूरसागर' के भ्रमरगीत में ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता दिख-

लाई गई है। फिर 'सूरसागर' के भ्रमर-गीत में जो काव्योत्कर्ष है वह 'श्रीमद्भागवत' में कहाँ ?

'श्रीमद्भागवत' की शैली वर्णनात्मक है, अतः उसमें काव्य का उत्कर्ष नहीं आ पाया है। 'श्रीमद्भागवत' के भ्रमर-गीत ने सूरदास के हृदय में पैठ कर एक नवीन रूप धारण किया। ज्ञान पर भक्ति की विजय हुई और शैली के व्यञ्जनात्मक होने के कारण पंक्ति-पंक्ति में काव्य का चमत्कार आया। यह परवर्त्ती भ्रमर-गीत-परम्परा के लिये स्रोत और आदर्श सिद्ध हुआ।

सूरदास के भ्रमर-गीत के दो पक्ष हैं--दार्शनिक पक्ष और साहित्यिक पक्ष। दार्शनिक दृष्टि से भ्रमर-गीत एक प्रतीकात्मक रचना है। इसमें प्रत्येक पात्र, स्थान और घटना एक-एक आध्यात्मिक तथ्य का प्रतीक है। कृष्ण ब्रह्म हैं, गोपियाँ जीवात्माएँ हैं, गोपियों की विरह-वेदना परमात्मा के लिए आत्मा की पुकार है और उद्धव उस ज्ञानाभिमान के प्रतीक हैं जिसे मिटा कर ही भगवान को पाया जाता है।

भ्रमर-गीत के इस चिरन्तन आध्यात्मिक तथ्य पर तत्कालीन साम्प्रदायिकता की छाप है। यों तो ज्ञान और भक्ति का संघर्ष भारतीय दर्शन और धर्म में सदा बना रहा और उपनिषद्-काल से ही साधना की दो धाराएँ--ज्ञानमार्गी धारा और भक्ति-मार्गी धाराप्रवाहित होती, रहीं, किन्तु मध्य-युग में इस संघर्ष ने बड़ा जोर पकड़ा। सूरदास के पहले कबीर आदि सन्त ज्ञान-प्रधान निर्गुण मत का प्रचार कर गये थे। बाद में उनका बहुत विरोध हुआ। सगुण भक्ति के प्रवर्त्तक आचार्यों ने भक्ति को ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण ठहराया था। सूरदास जी के गुरु वल्लभाचार्य जी ने कहा था कि यदि ज्ञान सरसों है तो भक्ति सुमेरु पर्वत।[1] सूरदास

---

१ मुख्यं यदद्वैतज्ञानं तद्भक्तिभावैकदेशव्यभिचारिभावेष्वेकतरमितिसर्षपस्वर्णाचलयोरिवज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयम् ?—अणुभाष्य (वल्लभाचार्य)।

के जीवन-काल में ज्ञानवाद के विरोध में सगुण-भक्ति-सम्प्रदाय ने बड़ा जोर पकड़ा था। सूरदास का भ्रमर-गीत इसका प्रमाण है। भ्रमरगीत में ज्ञान, योग एवं निर्गुण ब्रह्म का बड़ा उपहास किया गया है और भक्ति का सब प्रकार से समर्थन।

सूर की गोपियाँ उद्धव जी से पूछती हैं कि निर्गुण ब्रह्म किस देश का रहने वाला है? उसके माता-पिता कौन हैं? उसकी पत्नी और दास-दासी के क्या नाम हैं? उसका रूप-रङ्ग कैसा है? उसकी आकांक्षाएँ क्या हैं?

निरगुन कौन देस को बासी?
को है जनक. जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी।
कैसो बरन, भेस है कैसो, केहि रस में अभिलासी॥

गोपियों के कहने का तात्पर्य यह है कि निर्गुण का कोई आधार नहीं है। निर्गुण ब्रह्म का निश्चित स्वरूप नहीं है। उसकी आकांक्षाएँ और निर्देश अनिश्चित हैं। इस तरह सब प्रकार से अज्ञात सत्ता की आराधना कैसे हो सकती है?

उद्धव का पक्ष है कि निगुण ब्रह्म ज्ञान से जाना जाता है। किन्तु गोपियों की दृष्टि में ज्ञान मन का बोझ है। बोझ लेकर आदमी उतनी दूर नहीं जा सकता जितनी दूर तक बिना बोझवाला जा सकता है, क्योंकि बोझ सँभालने की उसे कोई जरूरत नहीं होती। तात्पर्य यह कि ज्ञान साधना-मार्ग का बाधक है। ज्ञान का अहंकार ले कर भगवान् तक पहुँचना कठिन है। अतः ज्ञान की गठरी पटक कर और सब प्रकार से अहंकार-मुक्त होकर ही भगवान् को पाया जा सकता है। इसलिये गोपियाँ ज्ञानी-योगी उद्धव की तुलना गठरी ढोनेवाले व्यापारी से करती हैं। गोपियों की दृष्टि में भक्ति के सामने ज्ञान अति तुच्छ है। यदि भक्ति सोना है तो ज्ञान भुस्सी है; यदि भक्ति असली दूध है तो ज्ञान खारे कुएँ का पानी।

आयो घोष बड़ो ब्यौपारी ।
लादि खेप गुन ग्यान जोग की ब्रज में आय उतारी ।।
फाटक दै के हाटक माँगत भोरो निपट सुधारी ।
धुरही ते खोटो खायो है लिये फिरत सिर भारी ।।
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अनारी ।
अपनी दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप की बारी ।।

ज्ञान चंचल होता है, भक्ति अचल। ज्ञान का दीपक बुझ सकता है किन्तु भक्ति की मणि सदा ज्योतित रहती है। भक्ति हृदय की वह प्रेम-वृत्ति है जो एक स्थान पर टिक जाने पर फिर इधर-उधर नहीं होती। अतः भक्त दानी बन कर अपनी समस्त इच्छाओं को प्रभु पर अर्पित कर देता है। गोपियाँ ऐसे ही दानी भक्तों की प्रतीक हैं। उनका मन समस्त रूप से प्रभु पर अर्पित हो चुका है। अतः उस पर योग और ज्ञान का जादू नहीं चल सकता—

ऊधो मन तो एकै आहि ।
सो तौ हरि लै संग सिधारे, जोग सिखावत काहि ।।

भक्ति मन का विषय है, ज्ञान तर्क का। मन के सामने तर्क नहीं चलता। मन जिससे प्रेम कर लेता है उससे उसे कोई तर्क हटा नहीं सकता। प्रेम मन को विवश कर लेता है। सूर की गोपियाँ भी तर्क के परे भावना के क्षेत्र में पलनेवाली सुकुमारियाँ हैं। वे कृष्ण की भक्ति में इस प्रकार तन्मय हैं कि तर्क-वितर्क के लिये उनके पास अवकाश नहीं है। वे उद्धव के सामने तर्क न करके हृदय को ही उपस्थित करती हैं :—

ऊधौ मन माने की बात ।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल, विष-कीरा विष खात ।।
जौ चकोर को देइ कपूर कोउ, तजि अंगार अघात ।
मधुप करत घर खोरि काठ मैं, बँधत कमल के पात ।।

इस प्रकार सूर की गोपियाँ प्रेम में विवशता मानती हैं किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि प्रेम या भक्ति कमजोरों का धर्म है। गोपियाँ तो इस विवशता को ही बल मानती हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान कायरों का धर्म है और भक्ति शूर-वीरों का, क्योंकि ज्ञान चंचल है और भक्ति अचल। भक्ति वा प्रेम किसी कठिनाई की परवाह नहीं करता। उद्धव व्याधा बनकर भक्तिन गोपियों की प्रेमभरी आँखों का वध करने आये हैं, किन्तु मृग की तरह वे आँखें भाग खड़ी नहीं होतीं—

आयो बधन व्याध ह्वै ऊधो, जो मृग क्यों न पलात।

गोपियों की इस अचला भक्ति में बड़ी तन्मयता है। इस तन्मयता के सामने उद्धव के ज्ञान का अभिमान चूर हो गया। गोपियों की आँखों से, कृष्ण-विरह के कारण, उमड़नेवाले सावन-भादों के प्रवाह में उद्धव का ज्ञान-योग तिनके की तरह बह गया। वे भी भक्ति में सराबोर हो गये और इस प्रकार सूरदास ने ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय दिलाई।

भ्रमरगीत का साहित्यिक या काव्य-पक्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भाव-व्यंजना, रस-परिपाक, अलंकार-चमत्कार, चाहे जिस दृष्टि से देखिये, सूरदास का भ्रमरगीत अनूठा है।

भाव की दृष्टि से भ्रमरगीत का विषय प्रेम है और रस की दृष्टि से भ्रमरगीत का यह विषय विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत पड़ता है। सूरदास जी प्रेम अथवा शृङ्गाररस के आचार्य कहे गये हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'प्रेम नाम की मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था, वैसा और किसी कवि को नहीं।' शुक्ल जी का यह कथन उचित ही है, क्योंकि सूरदास का संयोग-शृङ्गार जितना विस्तृत और व्यापक है उतना ही वियोग-शृंगार भी। 'वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद हैं। विरह की ग्यारह

दशाएँ मानी गई हैं—१. अभिलाषा, २. चिन्ता, ३. स्मरण, ४. गुण-कथन, ५. उद्वेग, ६. प्रलाप, ७. उन्माद, ८. व्याधि, ९. जड़ता, १०. मूर्च्छा और, ११. मृत्यु। उन सभी अवस्थाओं का अत्यन्त ही सफल चित्रण सूरदास ने किया है। खूबी यह है कि प्रत्येक अवस्था के साथ भाव-व्यञ्जना और रूप-चित्र वर्णन को पूर्णता देते चलते हैं। 'स्मरण' का एक उदाहरण देखिये—

आजु घनस्याम की अनुहारि।
उनै आये सांवरो सखि, लेहिं रूप निहारि॥
इन्द्र धनुष मनों पीत-वसन-छबि, दामिनि दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत चित लै हारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिन्द की, सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमरि स्याम के बिकल भईं ब्रजनारि॥

सावन के श्याम घन को देख कर मुरलीधर श्याम का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। फिर इस स्मरण के लिये बादलों की जो पृष्ठ-भूमि तैयार की गई है उसमें और श्रीकृष्ण के रूप-गुण में कितनी समानता है ?

'चिन्ता' के वर्णन का एक उदाहरण लीजिये—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो तिरछै ह्वै जु अड़े।

कृष्ण तिरछे हो कर गोपियों के सरल सीधे हृदय में बैठे हैं, इसीसे निकल नहीं पाते। तिरछी चीज का सीधे छेद से निकलना कठिन होता है, यह तो वर्णन की युक्तियुक्तता हुई। किन्तु इतने से इस पद का काव्य-सौन्दर्य नहीं जाना जा सकता। इसमें अपार भाव-व्यंजना है। इसमें कृष्ण के त्रिभंगी रूप का संकेत है, जिसमें अगाध सौन्दर्य है, अथाह आक-

र्पण है। जो उस रूप पर मुग्ध है उसके लिये उस छवि को हृदय से निकाल देना असम्भव है। फिर गोपियों का हृदय तो भक्त का सरल हृदय है।

भाव-व्यंजना और रूप-चित्रण का यही औचित्य सूरदास के भ्रमरगीत को अमर काव्य बना गया है। डा० रामकुमार वर्मा ने ठीक ही कहा है कि सूरदास ने 'मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य किया है।'

सूरदास की गोपियों के विरह में व्यापकता के साथ इतनी तन्मयता है कि यह विरह की अन्यतम अवस्था को पहुँच गया है। लगता है कि यह केवल गोपियों का विरह नहीं है, बल्कि विश्व-विरहिणी का अनन्तकाल से चला आनेवाला सार्वभौम विरह है। इसका प्रमाण सूरदास का प्रसिद्ध पद है:—

निसि-दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे।

इसी प्रकार—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी पावक सौं, आपै प्रान दह्यौ॥

इस पद में प्रेम की जो अचूक व्यंजना हुई है वह सब देश और सब काल में समान रूप से सत्य बनी रहेगी।

भ्रमर-गीत के विरह-वर्णन में जो प्रभावोत्पादकता है, उसका एक और कारण है। भ्रमरगीत का विरह एकांगी नहीं है। यदि एक ओर गोप-गोपी, यमुना और मधुवन कृष्ण के लिये रो रहे हैं तो दूसरी ओर कृष्ण भी उनके लिये विकल हैं। बड़ी बेबसी से कृष्ण उद्धव से कहते हैं कि—

ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुन्दरि कगरी, अरु कुंजन की छाँहीं।

उपालम्भ-काव्य की दृष्टि से तो भ्रमर-गीत की जितनी प्रशंसा को जाय थोड़ी है। शुक्ल जी के शब्दों में 'श्रृंगार रस का ऐसा सुन्दर उपालम्भ-काव्य दूसरा नहीं है।' उद्धव जब ज्ञान का उपदेश देते हैं तब गोपियाँ बड़ा मधुर व्यंग्य करती हैं।

निरगुन कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दे, बूझति साँच, न हाँसी ॥

निर्गुण का ठिकाना पूछने के बहाने जैसे गोपियाँ पूछती हैं कि कहिये उद्धव जी, आप ऐसी अक्ल लेकर कहाँ से आये हैं ? फिर यह कह कर कि 'हमलोग वास्तव में सही बात जानना चाहती हैं, हँसी-मजाक नहीं' वे मजाक को और चुटीला कर देती हैं।

किन्तु खूबी यह है कि कहीं भी उद्धव के प्रति गोपियों का व्यंग्य या मजाक मर्यादा और शालीनता का अतिक्रमण नहीं करता। सर्वत्र मर्यादित रहने के कारण भ्रमर-गीत का व्यंग्य परम आस्वादनीय और मधुर है। भ्रमर-गीत का व्यंग्य एक 'मीठी छुरी' है।

उपालम्भ काव्य की प्रकृति हास्यरस की होती है। सूरदास के भ्रमर-गीत की विशेषता यह है कि इसका हास्य कहीं भी अशिष्ट अट्टहास नहीं हुआ है। इसमें गोपियों की मर्यादा के अनुकूल सर्वत्र मधुर स्मिति की व्यवस्था हुई है। कहीं-कहीं तो हास्य और व्यथा का दुर्लभ करुण-मधुर संयोग हुआ है, जैसे—

मधुकर स्याम हमारे चोर।
गये छँड़ाइ तोरि सब बंधन, दै गए हँसनि अँकोर।
चौंकि परीं जागत निसि बीती, दूत मिल्यो इक भौंर।

सूरदास ने संगीत और काव्य दोनों के गुणों से मंडित जैसे पदों की रचना की है, उनमें एक ओर तो जयदेव और विद्यापति जैसे संस्कृत

और लोक-भाषा के पूर्ववर्त्ती कवियों के द्वारा प्रवर्तित परम्परा का निर्वाह हुआ है और दूसरी ओर परिनिष्ठित तथा साहित्यिक व्रजभाषा में उस गेय पदावली की अभिनव परम्परा की उद्भावना है, जिसने परवर्त्ती कृष्ण-काव्य और रीति-काव्य का मार्ग प्रशस्त किया और उत्तर भारत के शास्त्रीय संगीत का आधार प्रस्तुत किया।

सूरदास के पहले के व्रजभाषा-काव्य का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, किन्तु यह भाषा अपने प्रथम कवि में ही इतना परिष्कृत साहित्यिक रूप धारण कर लेगी यह मान लेना भी कठिन है, यद्यपि उपलब्ध सामग्री के आधार पर मानना यही पड़ता है। सूरदास ने व्रजभाषा को परिनिष्ठित, परिमार्जित और साहित्यिक बनाया, किन्तु तुलसी की तरह लोक-भाषा को संस्कृत-गर्भित करने की पद्धति से नहीं, बल्कि उसके प्रकृत रूप को ही निखार कर। व्रजभाषा का यह परिष्कृत पर साथ ही साथ गहन भावों को व्यक्त करनेवाला रूप इतना लोकप्रिय हुआ कि वह कृष्ण-काव्य के रचयिताओं के लिए अनिवार्य बन गई—यहाँ तक कि बँगला के भक्त-कवियों ने बँगला और व्रजभाषा के मिश्रित रूप 'व्रजबुलि' में ही कृष्ण के गीत गाये। इससे भी बड़ी बात तो यह हुई कि व्रज की भौगोलिक सीमा और कृष्ण-चरित की साहित्यिक परिधि को पार कर व्रजभाषा शताब्दियों तक आधुनिक हिन्दी-भाषा क्षेत्र मात्र की काव्य-भाषा बनी रही।

▲

परमानंददास

महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रिय शिष्य और इस प्रकार कुंभनदास और सूरदासजी के गुरुभाई परमानन्दजी का संक्षिप्त-जीवन-वृत्त, 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता', 'भक्तमाल', 'भाव प्रकाश' आदि में उपलब्ध होता

है किन्तु कहीं भी उनकी जन्म या मृत्यु-तिथि का उल्लेख नहीं मिलता। वल्लभसम्प्रदाय में प्रचलित प्रसिद्धि के अनुसार वल्लभाचार्यजी परमानन्दजी से १५ वर्ष बड़े थे। प्रासंगिक कथाओं एवं घटनाओं की तिथियों एवं हाल की खोज के अनुसार परमानन्दजी का जन्म संवत् १५५० माना जाता है और मृत्यु संवत् १६४१।

परमानन्द नाम के कई भक्त हो गये हैं। नाभादासजी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'भक्तमाल' में चार परमानन्दों का विवरण दिया है। इनमें एक हैं, 'परमानन्द सारंग' जिनकी प्रशस्ति उक्त ग्रन्थ के एक छप्पय में इस प्रकार गायी गई है—

पौगंड, बाल, कैसोर, गोप-लीला सब गाई।
अचरज कहा यह बात, हुतौ पहिलौ जु सखाई॥
नैननि नीर प्रवाह, रहत रोमांच रैन-दिन।
गदगद गिरा उदार, स्याम सोभा भीज्यौ तन॥
सारंग छाप ताकी भई, स्रवन सुनत आवेस देत।
ब्रज बधू रीति कलिजुग बिषै, परमानंद भयो प्रेम केत॥

यह प्रशस्ति 'अष्टछाप' के भक्त कवि परमानन्ददास के ही योग्य है। फिर यद्यपि परमानन्द के अधिकांश पदों में 'परमानन्द', परमानन्द-दास', और 'दास परमानन्द' नाम ही मिलते हैं किन्तु दो-तीन पद ऐसे भी हैं जिनमें 'सारंग' छाप मिलती है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि भक्तमाल-उल्लिखित 'सारंग' छापवाले परमानन्द अन्य कोई व्यक्ति नहीं, 'अष्टछाप' के 'काव्य-संगीत-निपुण कवि परमानन्ददास ही हैं। ध्रुवदासजी की 'भक्त नामावली' से भी इसकी पुष्टि होती है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' आदि उपर्युक्त ग्रन्थों में परमानन्दजी का जो संक्षिप्त जीवन-वृत्त संग्रहीत है उसके अनुसार परमानन्दजी कान्य-कुब्ज ब्राह्मण और कन्नौज के निवासी थे। आप बालब्रह्मचारी थे और

जवानी में ही गृहत्यागी साधु हो गए थे। काव्य और संगीत का अभ्यास बचपन में ही किया था और जवानी आते-आते एक मर्मज्ञ कवि और निष्णात गायक के रूप में उनकी प्रसिद्धि चतुर्दिक फैल चुकी थी। यह प्रसिद्ध है जब परमानन्दजी कन्नौज से प्रयाग आकर रहने लगे थे तब वल्लभाचार्य का सेवक कपूर जलधरिया उनका संगीत सुनने के लिए यमुना नदी तैरकर प्रयाग आया था और इस प्रकार जब परमानन्दजी को ज्ञात हुआ कि वल्लभाचार्यजी यमुना के उस पार अड़ैल में पधारे हैं तब वे भी उनके दर्शनार्थ अड़ैल चले गए थे। वहीं वे वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए।

परमानन्दजी के संगीत में अपूर्व आकर्षण था। जिस प्रकार विद्यापति के पदों को सुनकर चैतन्य महाप्रभु विह्वल हो जाते थे उसी प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्यजी परमानन्द का कीर्तन सुनकर आत्मविभोर हो जाते थे। कहा जाता है कि एक बार जब परमानन्दजी ने 'हरि ! तेरी लीला की सुधि आवै।' नामक पद सुनाया तो महाप्रभु मूर्च्छित हो गए और तीन दिनों तक समाधिस्थ रहे।

भक्ति-भावना और संगीत-साधना के मणिकांचन-संयोग के कारण सूरदास और परमानंददास 'अष्टछाप' के कवियों में स्वभावतः विशेष लोकप्रिय रहे। 'भक्तनामावली' की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं—

परमानंद अरु सूर मिलि, गाई सब ब्रज-रीति।
भूलि जात विधि भजन की, सुनि गोपिन की प्रीति॥

इसके अतिरिक्त सूरदास और परमानन्ददासजी में एक और साम्य है। इयत्ता ही नहीं इयत्ता भी दोनों एक विशेष समता रखते हैं। 'सूरसागर' के विधाता सूरदास और 'परमानन्द सागर' के रचयिता परमानन्दजी के उपलब्ध पदों की संख्या कई हजार है। 'परमानन्द-

सागर' में दो हजार से भी अधिक पद हैं। असंख्य कीर्त्तन-पद रचने के कारण इन दोनों कवियों को 'सागर' की उपाधि मिली थी और परमानन्दजी के देहावसान पर 'अष्टछाप' के प्रतिष्ठापक गो० विट्ठलनाथ ने बड़े दुःख से कहा था कि दोनों 'सागर' समाप्त हो गये।

विषय की दृष्टि से भी सूरदास और परमानन्द जी एक दूसरे के समकक्ष हैं। दोनों बाल-लीला अर्थात् वात्सल्य-चित्रण के कुशल कवि हैं और दोनों ने श्रीमद्‌भागवत के आधार पर गोपी-कृष्ण लीला के पद रचे हैं।

यह सही है कि सूरदास के कुछ पदों में जैसी शीलसम्पन्न सुरुचि, आत्म-मंथन एवं कला की अन्तर-माधुरी है वैसी परमानन्द के पदों में नहीं है, किन्तु यह भी सही है कि परमानन्द जी की रचनाएँ अधिकांशतः प्रकाश में नहीं आईं और इसलिये हिन्दी के अध्येताओं एवं पाठकों को उनकी समग्रता पर निर्णय करने का अवसर नहीं मिला। इस अर्थ में परमानन्द जी सूरदास के-से भाग्यशाली न हो सके।

परमानन्द जी का प्रामाणिक ग्रन्थ 'परमानन्द-सागर' है। इसके अतिरिक्त 'ध्रुव-चरित्र', 'उद्धवलीला', 'दानलीला', 'संस्कृत माला' और 'परमानन्द जी कौ पद' नाम की पुस्तकें भी उनकी ही रची कही जाती हैं।

परमानन्द जी का काव्य वात्सल्य एवं विरह के चित्रण के लिये प्रसिद्ध है। विरह का पद सुनकर ही महाप्रभु मूर्च्छित हुये थे। परमानन्ददास के विरह के पदों में एक निश्छल तलस्पर्शी मार्मिकता है, एक ऐसी पीड़ा है जो प्राणों को बाँध लेती है। उनके प्रसिद्ध पद हैं—

१. जिय की साध जिय ही रही री।
 बहुरि गुपाल देखन नहीं पाए, बिलपत कुंज अहीरी॥
२. जब तें प्रीति स्याम सो कीनीं।
 ता दिन तें मेरे इन नैननि, नैंकहुँ नींद न लीनीं। आदि।

वैसे संयोग के कुछ पद भी अपनी चित्रोपम स्निग्धता में कम नहीं; जैसे--

मदन गोपाल के रंग राती।
गिरि-गिरि परत सँभार न तन की, अधर-सुधा-रस माती॥

▲

कृष्णदास

अष्टछाप के प्रथम चतुष्टय, अर्थात् वल्लभाचार्य के चारों शिष्यों में, कृष्णदास तिथिक्रमानुसार सब के बाद में आते हैं। उनका जन्म संवत् १५५३ में गुजरात के चिलोतरा नामक ग्राम में हुआ था। वे उनतालीस वर्ष की अपेक्षाकृत अल्प आयु में ही दिवंगत हो गये थे। वे मूलतः गुजरात के निवासी और जाति के कुनबी पटेल थे।

कृष्णदास ने शैशव में ही ईश्वर-भक्ति और चारित्रिक दृढ़ता का परिचय दिया था। आगे चल कर उनके इन गुणों के अनेक प्रमाण मिले।

कृष्णदास जब अभी दस-बारह वर्ष के किशोर ही थे तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपने पिता के अनैतिक कार्यों का विरोध किया और उनके कोप-भाजन बने। बात यहाँ तक बढ़ी कि जब गाँव में आये हुए एक बाहरी व्यापारी की सारी पूँजी, गाँव के मुखिया कृष्णदास के पिता के इशारे पर, लुट गई तो कृष्णदास ने व्यापारी से बादशाह के पास फरियाद करने को कहा और स्वयं साक्षी बनने का आश्वासन भी दिया। इस घटना से कृष्णदास को ऐसी विरक्ति हुई कि उन्होंने सदा के लिये घर छोड़ दिया।

वे घूमते-घूमते ब्रज में पहुँचे और वहीं संवत् १५६७ में वल्लभाचार्य जी के द्वारा दीक्षित हुये। उस समय उनकी आयु केवल तेरह वर्ष

की थी, किन्तु उनकी भक्ति और निष्ठा से प्रभावित होकर आचार्य जी ने उन्हें इसी आयु में न केवल शिष्य बनाया, अपितु कुछ समय बाद ही, उनकी व्यावहारिक कुशलता से प्रसन्न हो कर, उन्हें मन्दिर का अधिकारी नियुक्त कर दिया।

गुजराती होते हुए भी, इस प्रकार, कृष्णदास व्रज के हो रहे, वहाँ की भाषा पर अधिकार प्राप्त किया और वहाँ के कृष्ण-भक्तों में अग्रगण्य आठ भक्तों के बीच स्थान पाने के अधिकारी बने। उन्होंने अपना सारा जीवन मन्दिर की व्यवस्था और प्रभु-भक्ति में लगा दिया था, यहाँ तक कि वे अविवाहित ही रहे और गृहस्थी नहीं बसाई।

कृष्णदास के जीवन की दो ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं जिनसे उनके चरित्र-बल पर प्रकाश पड़ता है। कृष्णदास ने अपने पिता तक की अनैतिकता क्षमा नहीं की तो मन्दिर की कुव्यवस्था या उसकी आय के दुरुपयोग को कैसे बर्दाश्त कर सकते थे। स्वयं वल्लभाचार्य जी के द्वारा नियुक्त कुछ बंगाली पुजारी इसके लिए उत्तरदायी थे। वल्लभाचार्य की मृत्यु के उपरांत कृष्णदास ने इन पुजारियों को विट्ठलनाथ जी की अनुमति से मन्दिर से अलग करके ही दम लिया, यद्यपि इसमें उन्हें संघटित विरोध का सामना भी करना पड़ा।

दूसरी घटना है स्वयं विट्ठलनाथ जी से ही कृष्णदास का विरोध! वल्लभाचार्य जी की मृत्यु के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी उनके उत्तराधिकारी हुए। जब उनकी भी मृत्यु हो गई तो उनकी विधवा ने अपने द्वादश-वर्षीय पुत्र पुरुषोत्तम को आचार्य के पद पर स्थापित करना चहा जो विधानतः उचित ही था, किंतु जिसके कारण विट्ठलनाथ जी के समान योग्य व्यक्ति की उपेक्षा होती थी। कृष्णदास ने इस अवसर पर भी, बहुमत का विचार न कर, जो विट्ठलनाथ जी के पक्ष में था, पुरुषोत्तम के विधान-सम्मत पक्ष का ही समर्थन किया, और विट्ठलनाथ

जी को पुरुषोत्तम की अनुमति के बिना मंदिर में प्रवेश करने से भी रोक दिया। किंतु अंततः विट्ठलनाथ जी की महत्ता के सामने वैधानिकता परास्त हुई और कृष्णदास ने विट्ठलनाथ जी से क्षमा-याचना की।

कृष्णदास का अधिक समय तो मंदिर की व्यवस्था में ही लगता होगा, फिर भी उनकी जो कृतियाँ प्राप्य हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि उनमें कवि और संगीतज्ञ की प्रतिभा थी, यद्यपि शुक्ल जी के शब्दों में, यह तो ठीक ही है कि 'सूरदास और नंददास के सामने इनकी कविता साधारण कोटि की है'। हाँ, वल्लभ-संप्रदाय की परंपरा और कर्मकांड के वे ऐसे मान्य विशेषज्ञ थे कि विद्वानों को भी अपने संदेहों के समाधान के लिए उनके पास जाना पड़ता था।

अष्टछाप के भक्तों के जीवन-सम्बन्धी विवरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पद-रचना और गायन-कीर्त्तन में कृष्णदास स्वयं सूरदास से होड़ लेने की कोशिश करते थे। संभवतः इसी कारण उनके पदों में बहुधा सूर के पदों की अनुकृति दृष्टिगोचर होती है।

कृष्णदास रास-लीला के प्रसंग में विशेष अभिरुचि रखते थे। स्वभावतः उन्होंने संयोग और वियोग शृंगार के ही अधिक पद रचे हैं।

▼

हितहरिवंश

गोसाईं हितहरिवंश जी कृष्ण-भक्त कवियों के मध्य असाधारण महत्त्व के अधिकारी हैं। वे एक साथ ही राधावल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्त्तक भी हैं और उच्चकोटि के कवि भी, 'राधासुधानिधि' जैसे संस्कृत काव्य के रचयिता भी हैं और ब्रजभाषा के ललित पदों के गायक भी

हितहरिवंश जी केशवदास मिश्र और तारावती के सुपुत्र थे। उनका जन्म मथुरा के पास वाद ग्राम में हुआ था—किसी के मतानुसार संवत् १५३० में और किसी के मतानुसार संवत् १५५९ में। शुक्ल जी ने, तथा अन्य विद्वानों ने भी, बहिस्साक्ष्य के आधार पर, दूसरे मत को ही स्वीकार किया है, यद्यपि राधावल्लभीय संप्रदाय के अनुयायी गोपाल प्रसाद शर्मा पहले मत के पक्ष में हैं।

हितहरिवंश जी गृहस्थ होते हुये भी परम भक्त थे। ऐसी अनुश्रुति है कि वे पहले माध्व संप्रदाय में दीक्षित हुए थे, किंतु उन्हें स्वप्न में स्वयं राधिका जी ने मंत्र दिया और इस प्रकार प्रेरणा पा कर उन्होंने राधावल्लभीय संप्रदाय की स्थापना की। फलतः स्वतंत्र संप्रदाय होने पर भी सिद्धांत की दृष्टि से माध्व संप्रदाय से राधावल्लभीय संप्रदाय बहुत भिन्न नहीं है, और दूसरे को पहले के अंतर्गत माना जा सकता है।

हितहरिवंश जी ने संवत् १५८२ में वृंदावन में श्री राधावल्लभ जी की मूर्त्ति स्थापित की थी और अपने जीवन का शेषांश उन्होंने वहीं अर्चना-उपासना में बिताया था। अपनी पद-माधुरी के कारण हितहरिवंश जी कृष्ण-भक्तों के बीच श्रीकृष्ण की मुरली के साक्षात् अवतार के रूप में प्रसिद्ध थे। वे राधाकृष्ण के उपासक थे, अतः उनकी रचनाओं में भक्तोचित शृंगार की ही प्रधानता है।

हितहरिवंशजी की अपने समय में कितनी प्रतिष्ठा थी यह इसी से ज्ञात हो जाता है कि ओरछा-नरेश मधुकरशाह के गुरु हरिराम व्यास, ध्रुवदास और हितवृंदावनदास जैसे भक्त उनके शिष्य और देव और बिहारी जैसे कवि उनके कुल के अनुयायी। इतना ही नहीं, हित परमानंद एवं व्रजजीवनदास ने हितहरिवंश की 'जन्म बधाइयाँ' लिखी हैं। हरिराम व्यास ने उनकी मृत्यु पर बड़े ही मार्मिक पद कहे हैं और वृंदा-

वनदास ने 'हितजी की सहस्रनामावली' में तथा चतुर्भुजदास ने 'हितजू को मंगल' में उनका स्तवन किया है।

हित हरिवंशजी के द्वारा रचित संस्कृत काव्य 'राधासुधानिधि' में १७० हृदयग्राही श्लोक हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार इसकी रचना किसी दूसरे भक्त ने की थी। पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में निर्णय करना कठिन है, किंतु हितहरिवंशजी के व्रजभाषा के पदों को देखते हुए इतना तो कहा ही जा सकता है कि वे संस्कृत काव्य के भी मर्मज्ञ थे, और वे संस्कृत के उत्कृष्ट कवि रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

हितहरिवंशजी के व्रजभाषा के उपलब्ध पदों की संख्या अधिक नहीं है, किंतु परिमाणतः न्यून होने पर भी वे प्रकारतः हीन नहीं हैं। उनके सिद्धांत संबंधी फुटकल पदों के अतिरिक्त जो पद 'हित चौरासी' नामक चौरासी पदों के संग्रह में मिलते हैं, उनमें से अनेक जयदेव के गीतों की तरह 'ललित-कोमल-कांत' हैं।

एक भक्त कवि के रूप में उनके समकालीन कवि और विद्वान् उन्हें कितना महत्त्व देते थे, यह इससे प्रकट है कि उनकी 'हित चौरासी' जैसी छोटी-सी कृति पर प्रेमदास ने ५०० पृष्ठों को व्रजभापा गद्य में निवद्ध टीका लिखी है और लोकनाथ कवि ने भी इसकी एक टीका प्रस्तुत की है।

शुक्लजी का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि उनके द्वारा 'व्रजभापा की काव्य-श्री के प्रसार में बड़ी सहायता पहुँची है।'

गोविंदस्वामी

गोविंदस्वामी का संक्षिप्त जीवन-वृत्त 'दो सौ वैष्णवन की वार्त्ता' और 'अष्टसखान की वार्त्ता' में उपलब्ध है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' में गोविंद स्वामी के विट्ठलनाथ का शिष्य होने और उनके सम्प्रदाय में सम्मिलित होने का उल्लेख है। किन्तु इनका विशेष वृत्तान्त अनुपलब्ध है तथा जन्म-मृत्यु-संवत् अनिर्णीत है। फिर भी जो कुछ अन्तस्साक्ष्य एवं प्रासंगिक तथा बहिस्साक्ष्य प्राप्त हैं उनके आधार पर माना जाता है कि इनका जन्म व्रज के पास स्थित भरतपुर राज्य के आंतरी नामक ग्राम में एक सनाढ्य ब्राह्मण-परिवार में सं० १५६२ में हुआ। इनके जीवन का आरम्भ एक गृहस्थ के रूप में हुआ। बाद में विरक्ति हुई और आंतरी छोड़ कर व्रज के महावन नामक स्थान में रहने लगे। इनके माता-पिता के संबंध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। वार्त्ता से इतना ही पता चलता है कि विरक्त होने के पहले इनका विवाह हो चुका था और इनके एक कन्या भी थी जो इनके विरक्त होने के बाद इनसे मिलने आती थी।

सं० १५९२ में ये गो० विट्ठलनाथ के शिष्य हुए और गोवर्धन पर्वत पर रहने लगे। वहाँ इन्होंने कदंब वृक्षों का एक सुन्दर उपवन लगाया था जो आज भी 'गोविंदस्वामी की कदंबखंडी' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी एक बहन थीं कानबाई जो यहाँ इनके संग रहती थीं और गो० विट्ठलनाथ की शिष्या हो गई थीं।

गोविंदस्वामी कवि होने के साथ ही संगीत-शास्त्र के आचार्य थे। विट्ठलनाथ से दीक्षित होने के पूर्व ही एक धुरंधर गायक के रूप में ये प्रसिद्ध हो गए थे और इनके कुछ शिष्य इनके भजन विट्ठलनाथ को

सुना कर उन्हें प्रभावित भी कर चुके थे । गोवर्धन पर्वत पर इनके सङ्गीत के प्रशंसकों का मेला लगा रहता । सङ्गीत में इनकी ऐसी ख्याति थी कि तत्कालीन भारतवर्ष के मूर्धन्य सङ्गीतज्ञ तानसेन इनसे सङ्गीत सुनने और सीखने के लिए गोवर्धन पर्वत की कदंबखंडी में आया करते थे ।

गोविंद स्वामी बड़े विनोदी और मस्त व्यक्ति थे । सिद्ध भक्त के रूप में भी आपकी महिमा कम नहीं थी । इनकी सिद्धि के संबंध में यह जनश्रुति चली थी और वार्त्ता में अंकित भी है कि श्रीनाथ जी बालक के वेष में सखाभाव से गोविंद स्वामी के साथ खेला करते थे ।

स्वभावतः जब विट्ठलनाथ ने 'अष्टछाप' की स्थापना की तब उसमें काव्य, सङ्गीत एवं भक्ति के निर्मल सङ्गम पर स्थित अपने परम शिष्य गोविंद स्वामी को भी आदरपूर्वक सम्मिलित किया । गोविंद स्वामी का साम्प्रदायिक नाम श्रीदामा सखा था ।

गोविंद स्वामी को अपने गुरु विट्ठलनाथ जी के प्रति अपार श्रद्धा और प्रीति थी । वे अन्त काल तक गुरु के साथ रहे । 'श्रीगिरधर जी के वचनामृत' में लिखा है कि जब गो० विट्ठलनाथ ने गिरिराज पहाड़ी की एक कँदरा में शरीर-त्याग किया तब गोविंद स्वामी को इतनी असह्य पीड़ा हुई कि व्याकुल हो कर वे स्वयं भी गोवर्धन की एक गुफा में चले गए और प्राण छोड़ दिए । इसी उल्लेख के आधार पर गोविंद स्वामी का तिरोधान-काल सं० १६४२ माना जाता है ।

गोविंद स्वामी की कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं मिलती, स्फुट पद ही मिलते हैं, जिनकी संख्या ६०० के लगभग है । अन्य भक्त कवियों की तरह इन्होंने भी इन पदों में कृष्ण की बाल और प्रेमलीलाओं का कीर्त्तन गाया है । पर ये पद बहुलांश में विवरणात्मक हैं, इनमें वैसा आवेग और कलात्मक विशेषताएँ नहीं हैं जिनके लिए सूरदास, नन्ददास और कुछ हद

तक परमानंद के पद प्रसिद्ध हैं। कहीं-कहीं भदेस प्रयोग भी मिलते हैं। वैसे दान-लीला का अपेक्षाकृत अधिक प्राणवान् चित्रण हुआ है—

गोरस बेचन लै चली, गोकुल-मथुरा बीच।
मटुकी ढोरी सीस तें, गोरस की मची कीच॥
टेढ़े पाग बनाइकै, दान कहति है लैन।
ललित त्रिभंग ठाढ़े भए, ग्वालन दै-दै सैन॥

आप की भाषा मुहावरेदार थी, जैसा ऊपर की पंक्तियों से भी स्पष्ट है। मुहावरे के लिए उर्दू के शब्दों का प्रयोग करने से भी वे नहीं चूकते थे, जैसे—

अरी ! यह सुन्दरता की हद।

गोविंद स्वामी द्वारा वर्णित निकुञ्ज-लीला तत्कालीन अन्य कवियों की तरह कहीं-कहीं श्रृंगारिक हो गई है और इन्होंने रास-लीला का जो वर्णन किया है उससे आपके नृत्य एवं संगीत के ताल, लय आदि की विदग्धता प्रकट होती है—

आजु गोपाल रच्यौ है रास, देखत होत जिय हुलास,
नाँचत वृषभान-सुता संग रंगभीने।
गिड़ि गिड़ि तक्क, थंग थंग, तत तत तत, थेई थेई,
गावत केदारौ राग, सरस तान लीने॥

▼

गदाधर भट्ट

गदाधर भट्ट दाक्षिणात्य थे और जाति के ब्राह्मण। इनके जन्म-काल या जीवनी-संबंधी अन्य विवरण सुलभ नहीं हैं। इनकी कोई स्वतंत्र कृति प्राप्य नहीं है, केवल स्फुट पद ही मिलते हैं। किंतु जो थोड़े पद मिलते हैं उनके आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रमुख कृष्ण-भक्त कवियों में, कवित्व की दृष्टि से, इनका स्थान बहुत ऊँचा है।

ऐसी अनुश्रुति है कि स्वयं महाप्रभु चैतन्य इनसे भागवती कथा सुना करते थे। भक्तमाल का साक्ष्य भी इसका समर्थन करता है:—

भागवत-सुधा बरखै बदन, काहू को नाहिंन दुखद।
गुण-निकर गदाधर, भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद॥

इस तथ्य से ही इनके रचना-काल का अनुमान किया जा सकता है। महाप्रभु चैतन्य का समय है संवत् १५४२-१५८४। अतः यह सहज अनुमेय है कि संवत् १५८४ के पूर्व ही ये चैतन्य के संपर्क में आए होंगे।

ये चैतन्य के शिष्य कैसे बने इसकी कथा रोचक ही नहीं, इनके जीवन और कवित्व पर प्रकाश डालने वाली भी है। चैतन्य के उन प्रमुख छै विद्वान् शिष्यों में, जिन्होंने गौड़ीय संप्रदाय के सिद्धांत-संबंधी संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी, जीव गोस्वामी प्रमुख थे। उन्हें वृंदावन में एक दिन दो कृष्ण-भक्त गायकों ने गदाधर भट्ट का निम्नलिखित पद सुनाया—

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई।

जागेहु आगे दृष्टि परै, सखि, नेकु न न्यारो होई ॥
एक जु मेरी अँखियन में निसि द्यौस रह्यौ करि मौन ।
गाय चरावन जात सुन्यो, सखि, सो धौं कन्हैया कौन ॥
कासों कहौं कौन पतियावै कौन करै बकवाद ।
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगे तें गुर-स्वाद ॥

इस पद को सुन कर जीव गोस्वामी परम प्रीत हुए और उन्होंने गदाधर भट्ट के पास इस श्लोक के साथ एक पत्र उन्हीं गायकों के हाथ पठाया :—

अनाराध्य राधा पदाम्भोजयुग्ममनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत्पदाङ्काम् ।
असम्भाष्य तद्भावगम्भीरचित्तान् कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः ॥

यदि इस घटना को विश्वासयोग्य माना जाए तो हम इनका रचना-काल संवत् १५८० से १६०० निर्धारित कर सकते हैं। इस आधार पर शुक्ल जी का निष्कर्ष है कि 'इनकी रचना का प्रादुर्भाव सूरदास जी के रचना-काल के साथ-साथ अथवा उससे भी कुछ पहले से मानना होगा।' किंतु वस्तु-स्थिति यह प्रतीत होती है कि रचना-काल की दृष्टि से ये सूर के समसामयिक होंगे भी तो उत्तरकालिक ही। मिश्र-बंधुओं ने शुक्ल जी के विपरीत इनका रचना-काल बहुत बाद, संवत् १७२२ के लगभग, माना है, जिसके पक्ष में उन्होंने कोई कारण नहीं दिया है।

गदाधर भट्ट ने भक्त का हृदय तो पाया ही था, किंतु नंददास की तरह वे संस्कृत के श्रेष्ठ काव्य से परिचित सुकवि भी थे। इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के समान ही संस्कृत भाषा में भी पद रचे हैं। और भी, जिस प्रकार तुलसीदास ने अवधी तथा ब्रजभाषा में बड़ी कुशलता से संस्कृत की तत्सम शब्दावली समन्वित की थी, उसी प्रकार इन्होंने भी ब्रजभाषा को संस्कृत-गर्भित और फलतः उदात्त एवं गंभीर रूप प्रदान किया है। ब्रजभाषा काव्य को यह इनकी विशिष्ट देन है।

मीराँ बाई

मीराँ बाई हिन्दी के भक्ति-काव्य की चिरस्मरणीय कोकिला और राजस्थान की चिरवंदनीय मंदाकिनी थीं। उनकी वाणी में मादक पवित्रता है।

मीराँ बाई जोधपुर के संस्थापक प्रसिद्ध राठौर राजा राव-जोधाजी के कुल में उत्पन्न हुई थी। उसका जन्म सं० १५७३ में कुड़की गाँव में हुआ था। वह रत्न सिंह की इकलौती संतान थी।

बचपन से ही उसकी प्रवृत्ति भक्ति की ओर झुकी थी बचपन में ही उसे श्री गिरिधरलाल (कृष्ण) का इष्ट हो गया था। कहा जाता है कि एक बार एक साधु के पास श्री गिरिधर लाल की मूर्त्ति देखकर बच्ची मीराँ मचल उठी और मूर्त्ति माँगने लगी। किन्तु साधु ने मूर्त्ति नहीं दी। किन्तु दूसरे ही दिन उस साधु को स्वप्न हुआ कि 'मूर्त्ति मीराँ को दे दो', और वह लौटकर मीराँ के हाथों में मूर्त्ति सौंप गया। तब से मीराँ उस मूर्त्ति को सदा अपने पास रखती। एक बार पड़ोस में एक लड़की की शादी थी। वर आया था। उसे देखकर बच्ची मीराँ ने अपनी माँ से पूछा—मेरा दूल्हा कौन है? माता ने विनोदवश उस गिरिधरलाल की मूर्त्ति की ओर संकेत किया और मीराँ बाई तब से उसी मूर्त्ति को अपना पति मानने लगी। इन किंवदन्तियों में सत्य का अंश चाहे जितना हो, पर इतना निश्चित है कि छुटपन से ही मीराँ बाई की प्रवृत्ति भक्ति की ओर थी।

जब मीराँ बाई ४—५ वर्ष की थी तभी उसकी माता का देहान्त हो गया। तब उसके पितामह दूदा जी नें मीराँ बाई को कुड़की से मेड़ता बुला लिया और अपने पास रखने लगे। यहीं मीराँ बाई की शिक्षा-दीक्षा

हुई। पितामह धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे। इनके साथ रहने के कारण भी मीराँ के मन में भक्ति का उन्मेष हुआ।

जब मीराँ बाई बड़ी हुईं तब उसका विवाह मेवाड़ के सुप्रसिद्ध राजा महाराणा साँगा के सुपुत्र कुँवर भोजराज के साथ हुआ। किन्तु थोड़े ही दिनों में भोजराज की मृत्यु हो गई और मीराँ बाई युवावस्था में ही विधवा हो गईं। पाँच वर्ष बाद उसके पिता भी एक युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। इन बातों का मीराँ बाई के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका मन संसार से विमुख हो गया। और वह सम्पूर्ण चित्त से भगवद्भक्ति में लीन हो गई। अब वह साधुओं की संगति में रहती और कीर्त्तन में घुँघरू बाँध कर नाचती। मीराँ बाई का यह आचरण उसके देवर विक्रमाजीत सिंह को मेवाड़ के राजवंश के अनुरूप नहीं जान पड़ा। अतः उन्होंने तरह-तरह से मीराँ पर अत्याचार करना शुरू किया, किन्तु मीराँ पर इन अत्याचारों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह पूर्ववत् भक्ति में लीन रही। मीराँ बाई को जहर का प्याला पीने को दिया गया और वह भगवान् का चरणामृत समझ कर उसे पी गई। साँप भेजा गया जिसे उसने तुलसी की माला समझ कर गले में पहन लिया। उसे सूली पर सुलाया गया और वह भगवान् की सेज समझ कर उस पर सुखपूर्वक सो गई। कहा जाता है कि मीराँ बाई ने इन अत्याचारों की सूचना गोस्वामी तुलसीदास जी को दी थी और गोस्वामी जी ने निम्नलिखित प्रसिद्ध पद लिख कर मीराँ बाई को भेजा था।

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।

मीराँ ने अपने पदों में जीवन की कठिनाइयों और अत्याचारों का उल्लेख किया है—

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे।

लोग कहैं मीरा हो गई बावरि, सास कहै कुलनासी रे।
जहर का प्याला राणाजी ने भेजा, पीवत मीरा हाँसी रे॥

किन्तु अंत में देवर के अत्याचारों से ऊब कर मीराँ बाई मेवाड़ छोड़-कर मेड़ता चली आई। इसके बाद तीर्थ-भ्रमण करने को निकली और द्वारका पहुँचकर रणछोड़जी की भक्ति करने लगी। कहा जाता है कि मीराँ बाई को द्वारका से लौटा ले जाने के लिए मेवाड़ और मेड़ता के दूत आये। मीराँ बाई भगवान् की आज्ञा लेने के लिये रणछोड़ जी के मन्दिर में गई और फिर लौटी नहीं, वहीं मूर्त्ति में समा गई। मीराँ बाई की जीवन-लीला सं० १६०३ में समाप्त हुई। प्रसिद्ध है कि मीराँ बाई अपने को ललिता नामक गोपी का अवतार मानती थीं।

मीराँ बाई की निम्नलिखित रचनाएँ कही जाती हैं :—

१. नरसीजी रो माहेरो (इसमें सुप्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता के माहेरा या भात भरने की कथा है। गुजरात और राजस्थान में शादी के अवसर पर भात भरने की प्रथा है जिसे माहेरा कहते हैं)।

२. गीत गोविन्द की टीका (इस ग्रंथ का प्रमाण नहीं मिला है)।

३. राग गोविन्द।

४. सोरठ के पद (इस ग्रन्थ का भी प्रमाण नहीं मिलता)।

५. मीराँ बाई का मलार।

६. गर्वागीत (ये गीत गुजरात में रासमंडली के गीतों की तरह गाये जाते हैं और बहुत प्रचलित हैं)।

७. फुटकर पद (विद्यापति के पदों की तरह ये पद ही मीराँ बाई के यश के मूलाधार हैं। ये पद ही मीराँ बाई की सर्वाधिक प्रामाणिक रच-नाएँ हैं। इनकी संख्या दो-ढाई सौ समझी जाती है पर कुछ लोग इनकी संख्या और अधिक बतलाते हैं।

मीराँ बाई की भक्ति-भावना वैष्णव परम्परा की है। हाँ, उस पर निर्गुण सम्प्रदाय का भी प्रभाव पड़ा है। इसीलिए कहीं-कहीं वह ज्ञान एवं

योग की बातें करती है[1] और अन्तरात्मा में बसनेवाले निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति से कंटकित होती है तथा स्मृति के दीपक में मन (ज्ञान) की बत्ती जलाकर उसे देखना चाहती है—

जिनके पिया परदेश बसत हैं लिखि-लिखि भेजैं पाती ।
मेरो पिया मेरे हीय बसत है न कहुँ आती-जाती ॥
सुरत निरत का दिवला सँजो ले मनसा की कर ले बाती ।

किन्तु मूलरूप में मीराँ की भक्ति वैष्णव-कुल की है । मीराँ के कृष्ण अवतारी हैं । उन्होंने द्रौपदी की लाज बचाई थी, प्रह्लाद के लिए नर-सिंहरूप धारण किया था और डूबते हुए गजराज को उबारा था—

हरि, तुम हरहु जन की भीर ।
द्रौपदी की लाज राखी; तुरत बढ़ायो चीर ॥
भक्त कारन रूप नरहरि, धारयो आपु शरीर ।
हरिनकश्यपु मारि लीन्हौं, धरयो नाहीं धीर ॥
बूड़तो गजराज राख्यो, कियो बाहर नीर ।
दासी मीरा लाल गिरधर, चरण कँवल पै सीर ॥

ये ही सगुण गिरिधर गोपाल मीराँ के सब कुछ हैं । ये ही मीराँ के स्वामी हैं ।

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरा पति सोई ।

---

१. नैनन बनज बसाऊँरी, जो मैं साहिब पाऊँ ।
इन नैनन में साहिब बसता, डरती पलक न नाऊँ री ।
त्रिकुटी महल में बना झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ, री ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ री ॥

कृष्ण के प्रति मीराँ की भक्ति मधुर भाव की है। मीराँ की भक्ति प्रेम-साधना है। मीराँ को लगता है कि उसकी आत्मा जन्म-जन्म से नन्द-लाल की परिणीता (पत्नी) रही है। पति के देहान्त के बाद मीराँ की यह भावना अत्यन्त सघन हो गई होगी। वह गोपाल की प्रीति को जन्म-जन्म की प्रीति मानती है। इसीलिये कृष्ण को वह 'पूरब जनम का साथी' और 'जन्मसरण का मीत' कहती है–

मीराँ के प्रभु कबर मिलोगे, पूरब जनम का साथी।

मीराँ की प्रेम-साधना गोपी-भाव की थी। यह प्रसिद्ध भी है कि वे अपने को ललिता नामक गोपी का अवतार मानती थी। पदों में मीराँ ने अपने को गोकुल की अहीरिनी कहा है—

हरि जी सूँ बांध्यो हेत, दास मीराँ तरै जोइ,
पतित-पावन प्रभु, गोकुल अहीरिणी।

कहीं-कहीं वह भक्ति के अतिरेक में अपने को कृष्ण-प्रिया राधा मान लेती है—

आवत मोरी गलियन में गिरधारी।
मैं तो छुप गई लाज की मारी।
आवत देखी किसन मुरारी; छिप गई राधा प्यारी।
मोर मुकुट मनोहर सोहै, नथनी की छबि न्यारी॥
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है, सुणजे किसन मुरारी।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, चरण-कमल पर वारी॥

इस प्रकार मीराँ बाई का प्रेम स्वकीया का प्रेम है। वह कृष्ण को युग-युग का पति मानती है और इसीलिए उनके आगे नाचने, उनकी सेज पर सोने और उन्हें रिझाने में उसे कोई असमंजस नहीं—

श्री गिरधर आगे नाचूँगी।
नाचि-नाचि पिव रसिक रिझाऊँ, प्रेमी जन को जाचूँगी।

पिय के पलँगा जा पौढूँगी, मीरा हरि रंग राचूँगी ॥

पर कहीं-कहीं उन्होंने परकीया के रूप में भी अपने भावों को प्रकट किया है। जैसे—

छाँड़ो लँगर मोरी बहियाँ गहो ना।
मैं तो नार पराये घर की, मेरे भरोसे गोपाल रहो ना ॥

इसका मनोवैज्ञानिक कारण शायद यह है कि अपनी आध्यात्मिक दृष्टि में तो मीराँ बाई अपने को स्वकीया ही समझती हैं किंतु समाज की दृष्टि में वे विवाहित और विधवा थीं, अतः लोक-दृष्टि उनके स्वकीय भावों को समझ नहीं पाती और उनका उपहास करती थी, उन्हें कुलकलंकिनी कहती थी। स्वभावतः मीराँ को गिरिधर के प्रति खुलकर प्रेम-निवेदन करने में संकोच होता, उनके आगे नाचने में लोक-लाज बाधक होती। लेकिन धीरे-धीरे उनके निष्कलुष आध्यात्मिक परिणय की बात फैल गई और उनका संकोच मिट गया।

मीराँ की इस आध्यात्मिक प्रेम-साधना में संयोग की मादकता और वियोग की व्याकुलता दोनों हैं। कभी मीराँ को लगता है कि उसके प्रियतम निठुर बनकर दूर चले गए हैं, उसकी सुध विसार दी है और वह विरह में तड़प उठती है—

प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ो लगाय।
छोड़ गया बिस्वास सँगाती, प्रेम की बाती बराय ॥

अथवा

आली री मोरे नैनन बान पड़ी।
कबकी ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
कैसे प्राण पिया बिनु राखूँ, जीवन मूर जड़ी ॥

और कहीं उसे ऐसा लगता है कि प्रियतम उसके पास आ गए हैं,

उसके चारों ओर की प्रकृति प्रियतम के आने का संदेश दे रही है। प्रिय की आहट से सारा वातावरण मादक और कंटकित है—

सुनी हो हरि आवन की आवाज ॥
दादुर मोर, पपीहा, बोलै कोइल मधुरे साज।
उमग्यो इंदु चहूँ दिस बरसै दामिनि छोड़े लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इन्द्र मिलन के काज।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी वेगि मिलो महराज॥

अथवा

जिनके पिया परदेस बसत हैं लिखि-लिखि भेजें पाती।
मेरो पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती-जाती॥

मीराँ के पदों में इस प्रकार संयोग के उल्लास और विरह की व्यथा दोनों के रहने के दो कारण हैं। पहली बात तो यह है कि मीराँ का प्रेम आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक प्रणय मानसिक होगा, शारीरिक नहीं। उसका संयोग-वियोग मानसिक प्रतीति भर है। स्वभावतः भक्ति की उमंग में भगवान् पास दीखता है। किन्तु भौतिक व्यवधानों के कारण वह पकड़ में नहीं आता और पास होकर भी बहुत दूर जान पड़ता है। दूसरा कारण यह है कि मीराँ का जीवन वास्तविक दुःखों से भरा था। बचपन में माँ मर गई। जवानी में वह स्वयं विधवा हो गई। देखते-देखते पिता का सहारा भी टूट गया। देवर के अत्याचारों का ठिकाना न रहा। मीराँ सब प्रकार से दुःखी रही। उसका जीवन ही चिर विरहमय रहा। जीवन में वह जो न पा सकी उसे वह भक्ति में पाना चाहती है। जो सुख संयोग जीवन में दुर्लभ था, उसे वह गिरिधर गोपाल की संगति में पाना चाहती है किंतु जीवन का दर्द भुलाये नहीं भूलता। अतः वह संयोग का गीत गाते-गाते विरहमयी हो उठती है। भक्ति में भी उसे चैन नहीं। उसे कुलकलंकिनी कहा जाता है। उसकी हत्या का षड्यंत्र होता है। इसीलिए मीराँ ने भक्ति के लिए जिस प्रेम की साधना की, वह प्रेम

बराबर समस्यामूलक रहा। मीराँ के पदों में जो उल्लास है, वह भक्ति की देन है और जो वेदना है, वह उसके जीवन से प्रसूत है। उसके समस्यामूलक प्रेम में जो अकथ वेदना है और उस वेदना में जो अकथ प्रेम है उसे पंक्तियों में देखिए—

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, सोना किस विधि होय॥
सुख संपत्ति में सब मिलि आवै, दुख में वलम न कोय।
मीरा के प्रभु पीर मिटैगो जब वैद सँवलिया होय॥

मीराँ बाई हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ काल की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री थी। भक्ति-काल हिंदी काव्य का सर्वोत्तम काल कहा जाता है। उस काल में राजस्थान की मरुभूमि में जिसने काव्य की मंदाकिनी प्रवाहित की, वह थी मीराँ बाई। हिंदी में समस्यामूलक प्रेम का जैसा चित्रण मीराँ बाई ने किया, वैसा किसी अन्य से नहीं हो सका। प्रेम के दर्द की ऐसी तस्वीर आँकने वाला भी दूसरा कवि नहीं हुआ। मीराँ बाई की कविता की विशेषता है सच्ची अनुभूति, मार्मिक संवेदना और हार्दिक आवेग। चूँकि मीराँ ने जीवन भर दर्द पीया था इसीलिए वह दर्द का तलस्पर्शी वर्णन कर सकी। मीराँ बाई और महादेवी वर्मा में भेद यह है कि महादेवी वर्मा की वेदना कल्पना से आती है जबकि मीराँ की वेदना सीधे उसके जीवन से आती है। इसीलिए मीराँ की वेदना जहाँ आत्मा के तारों को झक-झोर देती है वहाँ महादेवी की वेदना केवल कौतूहल भर उत्पन्न कर पाती है।

हेरी मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी सोना किस बिधि होय।
सुख संपत्ति में सब मिलि आवै, दुख में वलम न कोय।

इन पंक्तियों में जो प्राणस्पर्शी मार्मिकता है उसका कारण सच्ची अनुभूति और निश्छल अभिव्यक्ति है। मीराँ की लोकप्रियता का एक और कारण है और वह है उसके पदों की गीतात्मकता। रवीन्द्र-संगीत की तरह हिंदी में मीराँ-संगीत की व्यवस्था हो सकती है।

मीराँ बाई में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, सांकेतिक लाक्षणिकता और रूपक-भाषा के भी अच्छे उदाहरण मिलते हैं। इन्हीं गुणों के लिए कबीर प्रसिद्ध हैं। मीराँ बाई का एक रहस्य-रूपक देखिये:—

मैं गिरधर के रँगराती।
पँचरँग चोला पहिर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओहि झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।

मीराँ बाई में एक साथ ही विद्यापति की मादकता, सूरदास की भक्ति और कबीर का रहस्यवाद है। मीराँ बाई हिंदी की एक विलक्षण कवयित्री है। दरद-दिवानी मीरा की काकली हिंदी काव्य के मधुवन को युगों तक गूँजित रखेगी।

▼

छीतस्वामी

छीतस्वामी अष्टछाप के सबसे कम विज्ञापित कवि हैं। वार्त्ता में आपके जीवन-वृत्तान्त का अपर्याप्त और संक्षिप्ततम रूप भर अंकित है। जो कुछ साक्ष्य उपलब्ध हैं उनके आधार पर छीतस्वामी का जन्म मथुरा के एक चौबे ब्राह्मण परिवार में सं० १५७२ में हुआ। गोविन्द-स्वामी की तरह आपका खानदानी पेशा पुरोहिताई थी किंतु मथुरा के तीर्थ पंडा होने के कारण आप सुसम्पन्न थे। बड़े-बड़े लोग आपके यजमान थे। इन्हीं यजमानों में राजा बीरबल भी थे।

पंडे के रूप में आपकी बड़ी बदनामी थी। तब आपको लोग छीतू चौबे के नाम से जानते थे और आपकी गिनती मथुरा के नामी गुंडों में थी।

इनके गो० विट्ठलनाथजी के शरणागत होने के संबंध में एक प्रसिद्ध किंवदन्ती चलती है और जो वार्त्ता में लिखी है। कहा जाता है कि एक बार छीतू चौबे ने दुष्टतावश एक खोटा रुपया और एक खराब नारियल गो० विट्ठलनाथ को भेंट किए किन्तु विट्ठलनाथ के प्रताप से खोटा रुपया खरा हो गया और खराब नारियल से अच्छी गिरी निकल आई। इस चमत्कार से प्रभावित होकर छीतू चौबे ने गोसाईंजी की शिष्यता स्वीकार कर ली और शठता छोड़कर निस्पृह जीवन विताने लगे। यह घटना सं० १५९२ में हुई अर्थात् छीतू चौबे उसी वर्ष पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हुए जिस वर्ष गोविंदस्वामी। दीक्षोपरान्त आप छीतस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

छीतस्वामी सम्प्रदाय-प्रवेश और वैष्णव धर्म स्वीकार करने के पहले शैव रहे होंगे। यह उनके जीवन के संबंध रखनेवाली एक घटना से प्रमाणित होता है। छीतस्वामी और उनके गुरुभाई विट्ठलनाथजी को भगवान् का अवतार मानते थे। एक बार छीतस्वामी के यजमान राजा बीरबल ने गोसाईंजी के अवतारी रूप में शंका प्रकट की। इससे खिन्न होकर छीतस्वामी ने बीरबल से प्राप्त होनेवाली वार्षिक वृत्ति छोड़ दी और फिर कभी उनके यहाँ नहीं गये। इससे उनके परिवार को आर्थिक कष्ट होने लगा। जब विट्ठलनाथजी को इस घटना की सूचना मिली तो उन्होंने अन्यत्र वृत्ति ठीक करने के लिये उन्हें एक व्यक्ति के पास भेजना चाहा। किन्तु यह कहते हुए कि मैं वृत्ति के लिए वैष्णव नहीं हुआ हूँ, छीतस्वामी ने उक्त व्यक्ति के पास जाना स्वीकार नहीं किया।

छीतस्वामी और गोविंदस्वामी दोनों की मृत्यु के संबंध में एक ही कथा कही जाती है। दोनों ने गोसाईं विट्ठलनाथ की मृत्यु का

समाचार सुनते ही विह्वल होकर शरीर-त्याग कर दिया। अतः छीत-स्वामी की मृत्यु सं० १६४२ में हुई।

गोविन्दस्वामी का देहावसान गोवर्धन की एक कन्दरा में हुआ और छीतस्वामी का गोवर्धन के निकटवर्त्ती पूँछरी नामक स्थान में जिसे उन्होंने दीक्षित होने के बाद अपना स्थायी निवास-स्थान बना लिया था।

अष्टछाप के अन्य कवियों की तरह छीतस्वामी भी संगीत और कविता का अधिकार लेकर पुष्टि-सम्प्रदाय में आए थे।

छीतस्वामी का भी कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिलता, स्फुट कीर्त्तन-पद मिलते हैं जिनकी संख्या लगभग दो सौ है।

छीतस्वामी की कविता, काव्यकला की दृष्टि से, अष्टछाप के 'सागरों' से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करती पर इनकी कविता के कई स्थल अच्छे हुए हैं। उदाहरण के लिए बाल-लीला के प्रसंग में उपस्थित मिलन का दृश्य देखिए—

भई भेंट अचानक आई।
हौं अपने गृह तें चली जमुना, वे उततें चले चारन गाई।
निरखत रूप ठगौरी लागी, उत कौ डगर चल्यौ नहिं जाई।
'छीत स्वामी' गिरिधरन कृपाकर मो मन चितए मुरि मुसकाई॥

गोविन्दस्वामी की तरह छीतस्वामी के रास-संबंधी पदों में भी नृत्य-संगीत का सरगम बजता है।

लाल संग रास-रंग लेत मान रसिक रमन,
गिड़-गिड़ता, गिड़-गिड़ता, त्त त्त त्त त्त थेई-थेई गति लीने।
स रि ग म प ध नि धुनि सुनि,
ब्रजराज तरुनि गावत री, अति गति यति भेद सहित,
ता न न नां न न न न न न न न अति गति असलीने॥

छीतस्वामी की भाषा अत्यन्त सरल है और उनकी शक्ति में माधुर्य

भाव का कोमल पुट है। इस कारण उनके अनेक पदों में मीराँ की पदावली और शब्द-योजना का आभास मिलने लगता है, जैसे—

१—मेरी अँखियन के भूषण गिरिधारी।
२—मेरी अँखियन देखो गिरिधर भावै।
३—अरी हौं स्याम रूप लुभानी।

छीतस्वामी के पद इसलिए भी प्रसिद्ध हैं कि उनमें कृष्ण के अतिरिक्त ब्रजभूमि के प्रति एक विशेष आसक्ति है, जिसकी अभिव्यक्ति के लिए उस काल के एक अन्य कवि रसखान ने प्रसिद्धि पायी। छीत-स्वामी का प्रसिद्ध पद है—

अहो विधाता! तो पै अँचरा पसारि माँगौं,
जनम-जनम दीजो मोहि याही ब्रज बसिबौ।
अहीर की जाति, समीप नंद घर,
हेरि-हेरि स्याम सुभग घरी-घरी हँसिबौ॥

▲

स्वामी हरिदास

स्वामी हरिदास जी निम्बार्क (१२ वीं शताब्दी) के सनकादि-सम्प्रदाय की परंपरा में आने वाले भक्त एवं संगीतज्ञ कवि थे। इस संप्रदाय से प्रभावित होकर हित हरिवंश ने राधावल्लभ-संप्रदाय की स्थापना की थी और स्वामी हरिदास ने निंबार्काचार्य के सनकादि-मत के अन्तर्गत वृन्दावन में ही टट्टी सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की थी।

टट्टी-संप्रदाय के संस्थापक स्वामी हरिदास संगीत के विरल आचार्य और निस्पृह व्यक्ति थे। भारत-वर्ष के तत्कालीन विख्यात संगीताचार्य

तानसेन हरिदास जी के शिष्य थे जिन्हें स्वामी जी ने गायन की विधिवत् शिक्षा दी थी। कहा जाता है कि तानसेन से गुरु की प्रशंसा सुनकर एक बार सम्राट अकबर साधु के वेश में तानसेन के साथ हरिदास का संगीत सुनने इनके आश्रम में गए थे। तानसेन ने गाना शुरू किया और जान कर भूल कर दी। तब अनजाने ही हरिदास जी ने तानसेन को रोक दिया और भूल सुधार कर पद को शुद्ध रूप में गाने लगे। इस प्रकार तानसेन की चतुराई से अकबर को स्वामी हरिदास के संगीत-श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस प्रकार ये तानसेन और अकवर के समकालीन थे। शुक्ल जी के अनुसार आपका रचना-काल १६०० के आसपास है।

स्वामी हरिदास का विशेष जीवन-वृत्तांत, जन्म-मृत्यु-काल, जन्म-स्थान वंशावली आदि सभी अज्ञातप्राय एवं अनिश्चित हैं।

इनके जन्म-स्थान और जाति के संबंध में बड़ा विवाद है। कुछ लोग जो स्वामी जी के वंशज होने का दावा करते हैं इन्हें मुल्तान के निकट-वर्ती उच्च ग्राम के रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। मगर 'भक्ति सिंधु' और श्री सहचरिशरण की 'भगवतरसिक की वाणी' के अनुसार आप सनाढ्य ब्राह्मण ठहरते हैं। 'भगवतरसिक की वाणी' की पंक्तियाँ हैं—

श्री स्वामी हरिदास रसिक-सिरमौर अनीहा।
द्विज सनाढ्य 'सिरताज सुजसु कहि सकत न जीहा॥
गुरु-अनुकंपा मिल्यौ ललित निधिबन तमाल के।
सत्तर लौं तरु बैठि गनै गुन प्रिया लाल के॥

इस पद से यह भी ज्ञात होता है कि वृन्दावन से चल कर हरिदास जी निधुवन में भी रहे थे और वहाँ तमाल वृक्ष की छाया में सत्तर वर्ष की आयु तक राधा-कृष्ण की भक्ति के पद लिखे थे।

नाभादास-कृत 'भक्तमाल' में स्वामी हरिदास से संबंध रखने वाला छप्पय है—

जुगल-नाम सों, नेम, जपत निज कुञ्जबिहारी ।
अवलोकत नित रहैं केलि-सुख के अधिकारी ॥
गान-कला-गंधर्व स्याम-स्यामा कों तोषैं ।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं ॥
नित नृपति द्वार ठाढ़े रहैं, दरसन आसा जास की ।
अस आसधीर-उद्योतकर, 'रसिक' छाप हरिदास की ॥

इससे इतना भर ज्ञात होता है कि हरिदास जी की 'रसिक' छाप थी और वे युगल-मूर्ति के वैष्णव आराधक एवं गान-विद्या में निपुण थे ।

इनके रचे पदों के कई संग्रह हैं, जैसे 'हरिदास जी को ग्रंथ', 'हरिदास जी की बानी' आदि । इनके विहार-विषयक पद 'केलि माला' नाम से प्रसिद्ध हैं । मिश्रबंधुओं के अनुसार इन्होंने 'भरथरी वैराग्य' नामक पुस्तक भी लिखी थी किन्तु यह प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है ।

स्वामी हरिदास का काव्य छंदों की विविधता और राग-रागनियों की शास्त्रीय योजना के लिए उल्लेखनीय है, काव्य-माधुरी के लिए नहीं । पिंगल के स्खलनों से युक्त स्वामी हरिदास के छंद काव्य-कला के निकष पर तो नहीं पर संगीत की कसौटी पर खरे उतरते हैं । फिर इनके पदों में एक और चीज है जो मन को बाँधती है और वह है भक्त हृदय की मर्मपूर्ण स्पर्शिता । वे इतने सादे शब्दों में प्रभु के समक्ष आत्मनिवेदन करते हैं कि वे शब्द अंतर-मंथन के परिणाम होने के कारण श्रोता या पाठक को सहज ही द्रवित-प्रभावित कर लेते हैं, जैसे—

ज्योंही ज्योंही तुम राखत हौ,
त्योंही त्योंही रहियतु हैं, हो हरि ।

चतुर्भुजदास

चतुर्भुजदास अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुंभनदास जी के पुत्र थे। आप अपने सात भाइयों में सबसे छोटे थे। आप का जन्म अनुमानतः सं० १५८७ में हुआ।

चतुर्भुजदास जी पर भक्त पिता का बहुत प्रभाव पड़ा। वे बचपन से ही ईश्वरोन्मुख थे। भक्ति और कविता जैसे पैतृकसम्पत्ति के रूप में इन्हें मिली थी। बचपन से ही कविता करते थे और थोड़ी उम्र में ही अपने आशु-कवित्व के लिये प्रसिद्ध हो गए थे। इस कारण कुंभनदास जी का इन पर विशेष स्नेह था। चतुर्भुजदास जी के आग्रह से गो० विट्ठल नाथ जी ने सं० १५९७ में, जब चतुर्भुजदास जी मात्र १० वर्ष के थे, इन्हें दीक्षा देकर पुष्टि-सम्प्रदाय में सम्मिलित किया और ५ वर्षों के बाद जब 'अष्टछाप' की स्थापना की तो उसमें कुंभनदास जी के साथ उनके पुत्र चतुर्भुजदास जी को भी स्थान दिया। आपका साम्प्रदायिक नाम था विशाल सखा।

कुंभनदास जी की तरह चतुर्भुजदास भी गृहस्थ भक्त थे। उनका पुत्र राघवदास भी पुष्टि-संम्प्रदाय में दीक्षित हुआ था। चतुर्भुजदास ने दो विवाह किए थे। पहली पत्नी के देहान्त के बाद उन्होंने गोसाइं जी की सलाह से विधवा-विवाह कर अपनी वैष्णवीय उदारता का परिचय दिया था।

चतुर्भुजदास की मृत्यु के संबंध में वही कथा चलती है जो गोविंद-स्वामी और छीतस्वामी के प्रसंग में कही जाती है अर्थात् चतुर्भुजदास भी गो० विट्ठलनाथ जी के देहावसान का समाचार सुनकर अपने जन्म-स्थान जमुनावतौ से अस्त-व्यस्त गोवर्धन आये और गोसाइं जी का स्मरण

करते हुए रुद्रकुंड पर इहलीला समाप्त कर दी। इस प्रकार उनकी मृत्यु सं० १६४२ में हुई।

चतुर्भुजदास के रचे कई ग्रंथ कहे जाते हैं, जैसे—'मधुमालती,' 'हितजू कौ मंगल', 'द्वादश यश' और 'भक्ति-प्रताप', किन्तु इनकी प्रामाणिकता में विद्वानों को संदेह है। चूँकि चतुर्भुज नाम के कई कवि हो गए हैं इसलिये इस प्रकार की गड़बड़ी का हो जाना स्वाभाविक है। इनके स्फुट पदों के संग्रह हैं 'कीर्त्तन संग्रह', 'दान लीला' और 'कीर्त्तनावली'।

चतुर्भुजदास जी, कविता की दृष्टि से, 'अष्टछाप' के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। इनके पदों में अनुप्रास का एक विशेष प्रवाह और अधिकारपूर्ण आग्रह मिलता है—

ललित ललाट लर लटकन सोहै,
लाड़िलै ललन कौं लड़ावैं ललना।
प्रान प्यारे प्रान पति, उपजत अति रति,
पल-पल पौढ़ै प्रेम पलना॥

चतुर्भुजदास की सरल-सरस भाषा में गति-चित्र को उपस्थित करने की क्षमता है—

अरोगत नागर नंद किसोर।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि तें आई, सघन घटा घनघोर।
नेह नीर बूँदन बरसन लाग्यौ, चपला पवन झकोर।
'चतुर्भुज' प्रभु पातर लै भागे सघन कुंज की ओर।

मान-मनुहार का चित्र भी अपनी आयासमुक्त शैली के कारण सहज एवं प्रभावपूर्ण हुआ है—

नागरि छाँड़ि दै चतुराई।
अंतर गति की प्रीति परस्पर, नाँहिन दुरत दुराई॥
ज्यों-ज्यों ठानत मान मौन धरि, मुख रुख राखि बड़ाई।
त्यों-त्यों प्रगट होत उर अंतर, काँच-कलस जल-झाई।

तुलसीदास

तुलसीदास ने अपने ग्रंथों में, अपने संबंध में बहुत कम लिखा है। उनके जीवन-वृत्त को उपस्थित करनेवाले ग्रंथों में प्रमुख हैं—

'भक्तमाल' (नाभादास), 'भक्तमाल की टीका' (प्रियदास), गोसाईं चरित, मूल गोसाईं चरित (बेनी माधवदास), तलसी चरित, घट रामायण (तुलसी साहब), दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भविष्य पुराण इत्यादि।

नाभादास जी ने अपने ग्रंथ 'भक्तमाल में' तुलसीदास जी को वाल्मीकि का अवतार कहा है—

संसार अपार के पार को सगुन रूप नवका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तारहित बाल्मीकि तुलसी भयो॥

और भक्तमाल के टीकाकार प्रियदास जी ने नाभादास जी का समर्थन करते हुए इस संबंध में भविष्य-पुराण के निम्नलिखित श्लोक का उद्धरण दिया है जिसमें तुलीदास को वाल्मीकि का अवतार कहा गया है—

वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति।
रामचन्द्रकथां साध्वीं भाषारूपां करिष्यति॥

यह तो ठीक है कि ये प्रशंसा-वाक्य हैं, प्रमाणवाक्य नहीं, पर इससे इतना तो पता चल जाता है कि भक्तमाल के रचना-काल (संवत् १६४२) तक तुलसीदास जी एक महान् लेखक और अवतारी पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे, तभी तो नाभादास जी ने उन्हें स्पष्ट शब्दों में वाल्मीकि का अवतार कहा।

तुलसीदास जी की निश्चित जन्म-तिथि विवादास्पद है। बेनीमाधव-

दास (मूल गोसाईं चरित के लेखक) के अनुसार तुलसीदास का जन्म सं० १५५४ श्रावण शुक्ला सप्तमी को कालिन्दी-तीर पर हुआ। 'भक्तमाल की टीका' में प्रियदास ने तुलसीदास का जन्म संवत् १५८६ वि० सं० माना है। 'शिवसिंह सरोज' में जन्म-संवत् १५८३ कहा गया है, पर विद्वान् लोग 'घटरामायण' की तिथियों को अधिक प्रामाणिक मानते हैं। घटरामायण के अनुसार तुलसीदास जी का जन्म संवत् १५८६ भाद्र शुक्ला एकादशी, मंगलवार को हुआ।

तुलसीदास जी का रचना-काल कब से आरम्भ होता है, यह कहना कठिन है। पर बालकाण्ड की निम्नलिखित चौपाइयों से यह विदित होता है कि गोस्वामी जी ने 'रामचरित मानस' की रचना सं० १६३१ में आरम्भ की—

संवत् सोरह सो इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधु मासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥

तुलसीदास का मृत्यु-संवत् एक प्रकार से निश्चित-सा हो चुका है। तुलसीदास जी का देहान्त, गंगा के तीर पर सं० १६८०, श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुआ, जिसका प्रमाण निम्नलिखित दोहा उपस्थित करता है—

संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

तुलसीदास जी के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी विवाद चलता रहता है। घटरामायण के अनुसार उनका जन्म यमुना के तीर पर बसे राजापुर ग्राम में हुआ। इधर हाल में सोरों में बहुत-सी सामग्री मिली है। वहाँ कुछ ऐसे ग्रंथ मिले हैं जिनसे तुलसीदास जी के आरम्भिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। सोरों के एक मुहल्ले में एक पुराना मकान भी मिला है, जिसे गोस्वामी जी का जन्म-स्थान कहा जाता है। वहाँ नरसिंह जी महाराज का मन्दिर भी है जिससे गोस्वामी जी के गुरु नरहरि जी का संबंध

जोड़ा जाता है। अतः अब का परिवर्त्तित विचार यह है कि तुलसीदास जी का जन्म सोरों में हुआ।

तुलसीदास जी सनाढ्य ब्राह्मण (शुक्ल) थे। विनयपत्रिका की निम्नलिखित पंक्ति में तुलसीदास जी ने अपने को शुक्ल कहा है—

दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर हेतु जो फलचारि को।

तुलसीदास जी के पिता का नाम आत्माराम था। प्रसिद्ध भक्तकवि नन्ददास जी इनके चचेरे भाई थे। कहा जाता है कि इनकी माताका नाम हुलसी था। तुलसीदास जी ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी अपने माता-पिता का उल्लेख नहीं किया है। हाँ, हुलसी शब्द अनेक स्थानों पर आया है। अकबर के समकालीन कवि अब्दुर्रहीम खानखाना (रहीम कवि) दान के लिए प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि वे तुलसीदास जी के परम मित्र थे। सो एक बार एक गरीब ब्राह्मण अपनी बेटी की शादी के लिये गोस्वामी जी के पास आर्थिक सहायता के लिये आया। तुलसी-दास जी ने कागज पर एक दोहार्द्ध लिखकर उसे दे दिया और कहा कि तुम रहीम कवि के पास जाओ और इसे उनके हाथ में दे दो। वह दोहार्द्ध इस प्रकार था—

सुरतिय नरतिय नागतिय अस चाहत सब कोय।

जब वह ब्राह्मण रहीम कवि के पास गया तो वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने ब्राह्मण को बहुत धन दिया और तुलसीदास की पंक्ति के नीचे एक और पंक्ति लिख कर यानी दोहा पूरा करके उससे कहा कि इस कागज को फिर तुलसीदास जी को दे आओ। वह दूसरी पंक्ति यह थी—

गोद लिये हुलसी[1] फिरै, तुलसी से सुत होय। [1]

---

१. इसके अतिरिक्त रामचरित मानस में भी कई स्थलों पर 'हुलसी' शब्द आया है। जैसे—

कुछ लोगों का कहना है कि हुलसी शब्द माता के अर्थ में नहीं बल्कि प्रसन्न होने के अर्थ में आया है। पर यहाँ उद्धृत उद्धरणों में वह शब्द माता के अर्थ में ही अधिक संगत प्रतीत होता है।

तुलसी जैसे असाधारण कवि थे वैसे ही असाधारण घड़ी में उनका जन्म भी हुआ था। शायद ही कोई ऐसा लड़का भारतवर्ष में जनमा हो, जिसके जन्म-दिवस के अवसर पर थाली न बजी होगी, खुशियाँ न मनाई गई होंगी। पर जब तुलसीदास का जन्म हुआ, तब घर पर मातम छा गया। माता-पिता को परिताप हुआ। कहा जाता है कि तुलसीदास का जन्म अभुक्त-मूल में हुआ था, इसलिए माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने की चर्चा गोस्वामीजी ने बार-बार की है। यह भी अनुमान किया जाता है कि गोस्वामीजी के माता-पिता का देहान्त उनके बचपन में ही हो गया था और इसलिए शैशवकाल में ही वे अनाथ हो गये थे। जो भी हो, माता-पिता से परित्यक्त होने के कारण तुलसीदास जी का बचपन बड़े कष्ट में बीता। न खाने को मुट्ठी भर अन्न और न तन ढँकने को गज भर कपड़ा। बालक तुलसी गलियों की खाक छानता रहता और रात कहीं देवालय इत्यादि में सो रहता। यदि कहीं उसे चने के चार दाने मिल जाते तो वह समझता कि उसे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों फल मिल गये। गोस्वामी जी ने कवित्त रामायण और विनय-पत्रिका में ऐसी बातें अनेक स्थलों पर कही हैं। जैसे—

शम्भु-प्रसाद सुमति हिय हुलसी।
राम-चरित-मानस कवि तुलसी॥

अथवा

रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।
तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥

जाओ कुल मंगन बधायो न बजायो मुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत है चारि फल चारिही चनकको।

(कवित्त रामायण)

कहा जाता है कि जन्म लेते ही, तुलसीदास जी ने रामनाम का उच्चारण किया, और इसलिए आप रामबोला नाम से भी पुकारे जाने लगे। इनका राम बोला नाम भी था, ऐसा गोस्वामी जी ने स्वयं विनय-पत्रिका इत्यादि में लिखा है।

राम को गुलाम राम बोला राख्यो राम।
काह यहै नाम है हौं कबहु कहत हौं।

(विनय पत्रिका)

साहिब सुजान जिन स्वानहू को पक्ष कियो
राम बोला नाम हौं गुलाम राम साहि को।

(कवित्त रामायण)

वैसे उनका नाम तुलसी था और शायद वैरागी होने पर उन्होंने इसके साथ 'दास' शब्द जोड़ दिया था। कवितावली की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस ओर संकेत करती हैं—

नाम तुलसी भोड़े भाग सो कहायो दास
कियो अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।

कहा जाता है कि तुलसीदास के गुरु श्री नरहरि दास थे। इन्होंने ही दीक्षा दी और राम-कथा सुनाई। तुलसीदास जी ने निम्नलिखित गुरु-वंदना-संबंधी पद में 'नररूप हरि' (जिससे नरहरि का तात्पर्य निकल सकता है) का उल्लेख किया है—

बन्दौं गुरु-पद-कंज, कृपासिन्धु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रवि कर निकर ॥

तुलसीदास जी ने श्री नरहरिदास जी से सूकर क्षेत्र (सोरों या जिला एटा) में दीक्षा ग्रहण की होगी और वहीं उन्होंने अपने गुरु महाराज से राम की कथा सुनी थी ।

मैं पुनि निज गुरुसन सुनी कथा सो सूकर खेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥

कहा जाता है कि तुलसीदास का विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ । यह प्रवाद भी है कि तुलसीदास जी स्त्रीभक्त थे। एक बार जब इनकी पत्नी नैहर गई तो आप बिना बुलाये ही भीषण रात में वहाँ जा धमके । इस पर उनकी पत्नी ने उन्हें मर्मभेदी वचन कहे—

काम बाम की प्रीति जग, नित-नित होति पुरान ।
राम प्रीति नित ही नई बेद पुरान प्रमान ॥
लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ ॥
अस्थि-चर्ममय देह ममता में जैसी प्रीति ।
तैसी जौं श्रीराम महँ, होत न तौ भवभीति ॥

यह सुनकर तुलसीदास को बड़ी ग्लानि हुई और वे वैरागी हो गये ।

तुलसीदास के ग्रन्थ (कवितावली) से उनके विवाह पर बहुत प्रकाश नहीं पड़ता । कवितावली में कहीं विवाह का संकेत मिलता है और कहीं विवाह का निषेध । पर अनेक ऐसे पद हैं जिनसे पता चलता है कि युवावस्था में तुलसीदास जी विषयासक्त थे और बहुत दिनों तक कामुकता से मुक्ति पाने के लिए उन्हें अपने मन से संघर्ष करना पड़ा था ।

बालपने सूधे मन राम सनमुख गयो
रामनाम लेत माँगि खात टूक एक हौं।
पर्यो लोकरीति में पुनीति प्रीति राम राय
मोहबस बैठो तोरि नमक तराक हौं॥

पर अपनी सच्ची साधना के बल पर तुलसीदास जी विषयासक्ति के ऊपर उठते गये और आध्यात्मिकता में रमते-रमते महान् भक्त हो गये। ऐसा लगता है कि वैरागी होने पर भी तुलसीदास की उपेक्षा होती रही, और विभिन्न सम्प्रदायवालों से, बहुत दिनों तक, उन्हें संघर्ष करना पड़ा था। उस समय की अपनी मानसिक अवस्था को तुलसीदास जी ने इस प्रकार प्रकट किया है—

धूत कहै अवधूत कहै,
रजपूत कहै जोलहा कहै कोऊ।
काहु कि बेटी सो बेटा न ब्याहब,
काहु कि जाति बिगारन सोऊ।
तुलसी सर नाम गुलाम है राम को,
जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि के खैबो मजीद को सोइबो,
न लेबे को एक न देबे को दोऊ॥

पर धीरे-धीरे इनके चरित्र का प्रभाव लोगों पर पड़ा और उनमें इनके प्रति श्रद्धा और प्रेम के भाव जागे। फिर एक दिन वह भी आया, जब मानस के विधाता को सबने भक्त मान लिया—

राम नाम को प्रभाव पाउ महिमा प्रताप।
तुलसी से जग मानियत महामुनी सो॥

तुलसीदास को जीवन के शेष प्रहर में यश तो मिला किन्तु इनके अंतिम दिन शारीरिक कष्टों में बीते। कवितावली से पता चलता है कि

इन्हें एक बार प्लेग हो गया था और आप बड़ी मुश्किल से बचे थे। फिर इनकी बाँह में पीड़ा हो गई था। अपने ग्रंथों (दोहावली, विनय-पत्रिका, हनुमान बाहुक, कवितावली इत्यादि) में इन्होंने बार-बार अपनी बाहु-पीड़ा की चर्चा की है। बाहुपीड़ा के बाद वात-रोग आ धमका। इस रोग का उल्लेख भी तुलसीदास ने किया है—

पाँय पीर, पेट पीर, बाहुपीर, मुखपीर,
जर्जर सकल शरीर पीरमई है।

(कवितावली)

इन पंक्तियों से संकेत मिलता है कि बुढ़ापे में इन रोगों से तुलसी-दास जी का शरीर जर्जर, पीला और कृश हो गया था। और ये रोग तुलसीदास जी के साथ ही गये। कहा जाता है कि मरते समय गोस्वामी जी के मुख से निम्नलिखित दोहा निकला था—

राम नाम जस बरनि के, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अबही तुलसी सौन॥

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट से तुलसीदास के सैंतीस ग्रंथों का पता चला है। इनमें प्रमुख हैं—रामचरितमानस, कवितावली, गीतावली, दोहावली, बरवै-रामायण, रघुवर शलाका, जानकी-मंगल, श्रीरामलला नहछू, श्री पार्वती-मंगल और विनय-पत्रिका।

हिंदी साहित्य में तुलसीदास का स्थान सर्वोपरि है। हिंदी-साहित्य के चार कालों (वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल) में भक्तिकाल सर्वश्रेष्ठ काल है। वह हिंदी-साहित्य का स्वर्णयुग है। उस युग में हिंदी के दो अमर कलाकार पैदा हुए—एक सूर और दूसरे तुलसी। दोनों महान् हैं और दोनों की रचनाएँ (खासकर सूरसागर और रामचरितमानस) हिंदी की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। पर तुलना की दृष्टि से तुलसी का व्यक्तित्व महानतर लगता है। सूरदास ने केवल गीत लिखे

तुलसीदास ने गीतों (गीतावली इत्यादि) के साथ प्रबंधकाव्य (रामचरित मानस) भी लिखा। इस प्रकार सूरदास में जहाँ केवल गीति-प्रतिभा का परिचय मिलता है वहाँ तुलसीदास में गीति और प्रबंध दोनों की प्रतिभा मिलती है। फिर सूरदास ने कृष्ण के केवल बाल और किशोर रूपों का चित्रण किया है, उनके समग्र जीवन का नहीं। अतः उनकी कला समस्त जीवन-व्यापिनी कला नहीं है। यह सही है कि अपने क्षेत्र में अर्थात् वात्सल्य और शृङ्गार-वर्णन में सूरदास उस्ताद हैं, पर इससे क्षेत्र की संकीर्णता की बात कटती नहीं; दूसरी ओर तुलसीदास ने राम के जीवन में सम्पूर्ण मानव-जीवन को उपस्थित किया है। उनकी भावुकता जीवन का कोना कोना झाँक आई है, उनके मानस में जीवन का कोई पक्ष, मानव के चरित्र का कोई पहलू अछूता नहीं रहा है।

इसी विस्तार के कारण तुलसीदास में सूरदास के प्रतिकूल (जिनमें केवल दो रसों—वात्सल्य और शृंगार—की प्रधानता है) सभी रस अपनी पूर्णावस्था को आ गये हैं। बालकांड के आरंभ में वात्सल्य-रस है और जनकपुर के प्रसंग में मर्यादित शृङ्गार है। लक्ष्मण-परशुराम-संभाषण में रौद्र और वीररस हैं। लंकादहन में अद्‌भुत, भयानक इत्यादि हैं। इस प्रकार यदि चन्दवरदाई और भूषण वीर रस के लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं और सूरदास जी वात्सल्य और शृंगार के उस्ताद हैं तो तुलसीदास जी सभी रसों के रससिद्ध कवीश्वर हैं। एक बात और। सूरदास का अधिकार केवल ब्रजभाषा पर है परन्तु तुलसीदास का अधिकार ब्रजभाषा (विनयपत्रिका इत्यादि) और अवधी (रामचरितमानस) दोनों पर समान रूप से है।

इलियट ने कवि की तुलना रंगमच से की है। जिस तरह रंगमंच के आगे तरह-तरह के शिक्षित-अर्द्धशिक्षित, विविध सिद्धांतवादी रहते हैं; उसी तरह कवि के श्रोता और पाठक तरह-तरह के व्यक्ति होते हैं। सफल

कवि वह है जो अधिक-से-अधिक पाठक तक अपने को पहुँचा पाता है। इस कसौटी पर हिंदी के कवियों में केवल तुलसीदास जी ही ठहरेंगे। एक ओर कबीरदास, केशवदास, निराला, प्रसाद इत्यादि हैं, जिनकी वाणी पाठकों की एक बड़ी संख्या समझ नहीं पाती। दूसरी ओर कुछ ऐसे कवि हैं जिनकी सरलता में विज्ञ पाठकों को, केवल सस्तापन और तुकबंदी मिलती है, जीवन के घने अंतस्तत्त्व नहीं। किंतु तुलसीदास के संबंध में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। तुलसीदास की पहुँच झोपड़ी से महल तक है। उनका रामचरितमानस सबका कंठहार है। एक ओर अपढ़-गँवार व्यक्ति भी उसकी पंक्तियों से रस निचोड़ लेता है। गाँव का अक्षर-ज्ञान-हीन आदमी भी उठते-जागते तुलसीदास के वाक्यों का अन-जाने ही प्रयोग किया करते हैं। ऐसे वाक्य गाँवों में लोकोक्ति और मुहावरे बन गये हैं।

दूसरी ओर तुलसीदास की पंक्तियों का गूढ़ार्थ लगाने में बड़े-बड़े विद्वान् भी चक्कर खा जाते हैं। तुलसीदास के एक-एक वाक्य के असंख्य अर्थ लगाए गए हैं और तब भी विद्वानों को संतोष नहीं होता। यह कथन उचित ही है कि बालकाण्ड का आरंभ, अयोध्या का मध्य और उत्तर का अंत अथाह है। उसकी थाह लेना किसी भी पंडित के लिए संभव नहीं। वस्तुतः कवि की वाणी सत्य ही है कि—

राम चरित जे पढ़त अघाहीं।
रस विशेष जाना तिन नाहीं॥

श्रेष्ठ कवि में तीन गुण होते हैं—जीवन के मर्म-स्थलों की पहचान, उनके अनुरूप अनुभूति और सम्यक् अभिव्यक्ति। ये तीनों गुण महाकवि तुलसीदास में जिस पुष्ट रूप में मिलते हैं, अन्यत्र नहीं। एक रामचरित-मानस को ही लें तो उसमें जीवन के इतने रस-स्थल मिलेंगे, जिनकी गणना करना भी कठिन हो जाय। यदि एक मात्र चित्रकूट-प्रसंग को ही

लिया जाय तो उसमें मानव-जीवन के असंख्य संबंध जुड़े दीखेंगे—माता पुत्र का संबंध, भाई-भाई का संबंध, पिता पुत्र का संबंध, पिता और विवाहिता पुत्री का संबंध, सास-पुत्रवधू का संबंध, राजा-प्रजा का संबंध इत्यादि। शुक्ल जी ने ठीक ही, चित्रकूट की सभा को रामायण की एक आध्यात्मिक घटना कहा है। पर किसी ग्रंथ में रसपूर्ण स्थलों और मार्मिक संबंधों की योजना कर देने से ही कोई महाकवि नहीं हो जाता। कवि तो वह है जो उन स्थलों, पात्रों और उनकी परिस्थितियों में डूब जाता है और उनके अनुरूप अनुभव करता है। तुलसीदास में परिस्थिति की गहरी और ईमानदार अनुभूति है। यही कारण है कि रामायण में सभी पात्रों का, चाहे वे साधु पात्र हों या खल पात्र, चित्रण स्वाभाविक हुआ है, यहाँ तक कि रावण का पक्ष भी गिरने नहीं पाया है। फिर तुलसीदास वाणी के धनी हैं। उनमें अनुभूति के गांभीर्य के साथ उनके प्रकाशन की प्रबल क्षमता है। इसीलिए रामायण में सभी घटनाओं का प्राणपूर्ण प्रकाशन हो सका है। यदि हास्य के अनुरूप शब्दावली देखना चाहते हैं तो नारद-मोह का प्रसंग पढ़िये, जहाँ बंदर का मुँह लेकर नारद सभा में बैठे हैं, पर उन्हें पता नहीं है। सभी हँसते हैं, नारद अकुलाते हैं।

यदि रौद्र के अनुरूप पौरुष शब्द देखना चाहते हों तो लक्ष्मण-परशुराम-संवाद देखिए।

यदि करुणा से भीगी भाषा देखना चाहते हों तो दशरथ-मृत्यु का हाल देखिए, जिसे देखकर दुःख को दुःख लग गया था और 'धीरज' का भी धीरज छूट गया था।

अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध कवि पोप ने कहा था कि कविता में केवल स्वरमाधुरी ही नहीं होनी चाहिए बल्कि उसमें तो ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जिनके उच्चारण मात्र से काव्य का अर्थ झंकृत हो जाय। काव्य का यह गुण भी हिंदी के अन्य कवियों की अपेक्षा तुलसी-

दास में ही अधिक मात्रा में मिलता है। तुलसीदास के वर्षा-वर्णन की निम्नलिखित अमर पंक्ति को देखिए—

घन घमंड नभ गरजत घोरा।

अथवा इस पंक्ति को—

दामिनि दमकि रही घन माहीं।

प्रथम पंक्ति में शब्दों के उच्चारण से ही आकाश में घिरते-घुमड़ते बादलों का दृश्य (रूप और गति के साथ) खिंच जाता है। दूसरी पंक्ति में 'दमकि' शब्द पढ़ते ही ऐसा लगता है जैसे चंचल बिजली पल भर को चमक कर अकस्मात् बादलों में खो गई हो।

अर्थ और शब्द का यह संयोग हिंदी के कवियों में विरल है। यह तुलसीदास जी की ही विभूति है।

यदि हम केवल छंदों को ही लें, जिसकी चर्चा भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा अधिक रही है, तो भी तुलसी ही बाजी मार लेंगे। चंद-वरदाई छप्पय के उस्ताद थे, सूर पदों के, नंद रोला के, भूषण घनाक्षरी के, रसखान सवैया-कवित्त के और बिहारी दोहों के। पर तुलसीदास का अधिकार तो इन सभी छंदों पर समान है। शायद ही उनसे कोई अपने समय का प्रचलित छंद छूटा हो। और खूबी तो यह है कि बड़े सधे हाथों से उन्होंने इन छंदों को पकड़ा है; ढीले हाथों से नहीं।

छंदों की चुस्ती के साथ अलंकारों की उपयुक्तता भी हमारे देश में कविता की कसौटी रही है। इस कसौटी पर भी तुलसीदास ही सबसे खरे उतरेंगे। जिस तरह संस्कृत में 'उपमा कालिदासस्य' कहा जाता है उसी तरह हिंदी में 'उपमा तुलसीदास की' कहना चाहिए और यह नारा गलत नहीं होगा। तुलसीदास की उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ सटीक होती हैं क्योंकि वे जीवन से ली गई हैं और जिंदगी की सही अनुभूति के आधार पर खड़ी की गई हैं।

फिर तुलसी-साहित्य में कोई अलंकार छूटा ही नहीं है। वह तो विचारों के साथ अलंकारों का अथाह महासागर है। मेरा विश्वास है कि एक ऐसा समग्र अलंकार-ग्रन्थ लिखा जा सकता है जिसमें सभी अलंकारों के उदाहरण केवल रामचरितमानस में से दिये जायें।

आज कविता की एक नई कसौटी बनी है--जीवन के प्रति जागरूकता। उस कवि को प्रगतिशील कहा जाता है जो जीवन के संघर्षों और मानव-प्रयत्नों के प्रति जाग्रत हो। आज रीतिकालीन कविता की अवहेलना इसीलिए होती है कि उसमें जीवन के प्रति जागरूकता नहीं है। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि जिन दिनों यह कसौटी नहीं बनी थी, उन दिनों में उत्पन्न तुलसीदास की प्रतिभा यहाँ भी चमक उठी है। तुलसीदास जी का जन्म भारतवर्ष की परतंत्रता के काल में हुआ था। चारों ओर शोषण हो रहा था। जनता पिस रही थी। अकाल और प्लेग इत्यादि भी आ धमके थे। भारतवर्ष के भीतरी जीवन में भी फूट आ गई थी। धर्म के क्षेत्र में भी दलबन्दियाँ शुरू हो गई थीं। तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन परिस्थिति की स्पष्ट झाँकियाँ दी हैं। उनके ग्रन्थों में तत्कालीन अकाल इत्यादि का संकेत मिलता है। तत्कालीन राजकीय शोषण के प्रति एक विपुल विद्रोह का स्वर उनमें मिलता है।

जैसे--

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

इत्यादि

उस समाज में प्रचलित जाति-पाँति के भेदभाव को भी उन्होंने जोर से झकझोरा है--

मेरे जाति-पांति न चाहौं काहू की जाति-पाँति ।

इत्यादि ।

अपने समय में प्रचलित सगुण-निर्गुण, शैव-वैष्णव के भेद-भावों को भी धक्का देकर दूर करने की उन्होंने कोशिश की थी ।

'अगुनहि सगुनहि नहिं कुछ भेदा' और 'शिवद्रोही मम दास कहावे' इत्यादि पंक्तियों से यही प्रमाणित होता है । इस प्रकार समाज के भेद भाव को दूर कर और इस तरह आन्तरिक दुर्बलताओं से मुक्त कर तुलसीदास जी एक सबल राष्ट्र की नींव, साहित्य के माध्यम से, देना चाहते थे । शोपक राजा की निन्दा करके तथा रामराज की प्रशंसा करके तुलसीदास जी ने जनता को तत्कालीन निरंकुश शासन के प्रति उभाड़ा है और उसे राष्ट्र के नव-निर्माण के लिए प्रेरित किया है । महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था कि यदि तुलसीदास न होते तो गाँव के किसानों की क्या दशा होती, कहा नहीं जा सकता । तुलसीदास हमारे प्रथम राष्ट्रकवि हैं । उन्होंने मृतप्राय जन-जीवन को अमृत दिया था । आज के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी की निम्नलिखित पंक्तियों में अत्युक्ति नहीं है—

पैठ संस्कृत-सिंधु में पाये जहाँ जो रत्न ।
ग्रथित करने में उन्हें करके अलौकिक यत्न ।
हार जो इस देश को तुमने दिया उपहार ।
कौन कर सकता है उसके मूल्य का निरधार ?

तुलसीदास पर एक दोष लगाया जाता है । वह यह कि वे उपदेशक थे और उनकी कला उनकी उपदेशात्मकता के नीचे दब जाती है । किन्तु इस विचार में कुछ सार नहीं दीखता । मम्मट ने कविता की परिभाषा में कहा था कि-कविता में उपदेश, कान्ता की वाणी के समान, मधुवेष्टित हो । तुलसीदास के काव्य में यही मधुवेष्टन मिलता है । तुलसीदास में उपदेश हैं, बहुत हैं, चरण-चरण पर हैं पर उन पर काव्य का ऐसा मधुपाक

राम भक्त की वचन-चातुरी पर मुग्ध हैं। भक्त का उत्साह और बढ़ता है। केवट राम की ओर देख कर कहता है कि आपका कुछ दोष नहीं है। आप तो कृपालु व्यक्ति हैं। दोष तो उस धूलि का है जो पत्थर को औरत बनाता चलता है। हमारी नाव की लकड़ी तो पत्थर से अधिक कमजोर और पुरानी है। इसीलिए पग धोने का आग्रह है। रामचंद्र केवट की बात सुन कर सीता की ओर देखकर मुस्कुराते हैं, जैसे कह रहे हों कि इन चरणों पर तुम्हारा अधिकार था किंतु लो, अब एक और अधिकारी निकल आया। इस प्रसंग में दुहरा विनोद है। शिष्ट हास्य तुलसीदास जी की विशेषता है। ऐसे ही हास्य से उन्होंने वन-यात्रा के करुण प्रसंग को मनोरम बनाया है।

इस हास्य के आगे एक अत्यंत कोमल दृश्य आता है। कोमल सीता राह चलते थक जाती हैं। पर स्नेहवश कह भी नहीं सकतीं कि मैं थक गई हूँ। इतने में लक्ष्मण पानी लाने जाते हैं। सीता को अवसर मिल जाता है। वह रामजी से कहती हैं कि लक्ष्मण जी पानी लाने गए। हम-लोग घड़ी भर वृक्ष की छाया में खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा करें। आप भी पसीने-पसीने हो गए हैं। मैं पसीना पोंछकर हवा कर दूँगी। राम पत्नी की थकावट जानते हैं किंतु फिर भी शीलवश कुछ कह नहीं पाते और जानबूझकर बैठकर देर तक अपने पाँव का काँटा निकालते रहते हैं ताकि सीता जी को सुस्ताने का मौका मिल जाए—

तुलसी, रघुबीर प्रिया-स्नम जानि कै, बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।

'श्रम' का ऐसा हृदय-स्पर्शी वर्णन हिंदी साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता।

कुछ आगे चलने पर गाँव की भोली स्त्रियाँ मिलती हैं। वे इनकी सुकुमारता देखकर समझ नहीं पातीं कि ये पैदल किस प्रकार जंगल की बीहड़ राह तय कर पाएँगे। कोई उस माता को कोसता है, जिसने इन्हें वनवास दिया है। एक सीता जी से पूछती हैं कि ये साँवले राजकुमार

आपके कौन लगते हैं ? सीता जी लाज से लाल हो जाती हैं किंतु ग्रामीण स्त्रियों का भोलापन देखकर तिरछी आँखों से राम की ओर देखकर संकेत से बतला देती हैं कि वे हमारे पति हैं और मुस्कुराती हुई बढ़ जाती हैं–

तिरछे करि नैन, दै सैन, तिन्हें समुझाइ कछू, मुसकाई चली।

'व्रीड़ा' (लाज) का ऐसा वर्णन भी केवल तुलसीदास ही कर सके हैं।

तुलसीदास जी भक्त हैं—परम वैष्णव भक्त। प्रेम और श्रद्धा जब आपस में मिलते हैं तब भक्ति का आविर्भाव होता है। और प्रेम एक आधार चाहता है, प्रकट-व्यक्त आधार। तुलसीदास की भक्ति ने यह आधार राम में ढूँढ़ लिया है। अन्य वैष्णव भक्तों की तरह तुलसी के राम भी ब्रह्म के सगुण अवतार हैं और लीला के लिए धरती पर आये हैं—

तुलसी जिहि के पदपंकज ते प्रगटी तटिनी जो हरै अघ गाढ़े।
सो प्रभु या सरिता तरिबे कहुँ माँगत नाव करारे ह्वै ठाढ़े॥

(तुलसीदास कहते हैं कि जिनके पाँव से गंगा फूटी थी वही साक्षात् विष्णु भगवान् राम के मानव-रूप में गंगा पार करने को नाव माँग रहे हैं।)

भक्ति एक राग है। राग जहाँ टिकता है, स्थिर हो जाता है। चूँकि तुलसीदास की भक्ति राम में टिक गई है, इसलिए सारा संसार ही उन्हें राममय दीखता है।

राम के प्रेम में गोस्वामी तुलसीदास इतने लीन हैं कि संसार के सभी संबंधों को वे राम के भीतर से ही स्वीकार करते हैं—

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।[1]

भक्त-हृदय की पहचान है अपने आराध्यदेव में अटूट विश्वास।

---

१. तुलसीदास की प्रसिद्ध पंक्ति है—तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुर्बान लो हाथ।

खूब महिमा बतलाई। उन्होंने कहा कि राम का नाम तो सारी चिन्ताओं को दूर करनेवाला चिन्तामणि है--

पायो नाम चारु चिंतामनि उर-कर ते न खसैहौं।

इस राम-नाम के भजनमात्र से मनुष्य को सब सुख मिल जायँगे--

तुलसीदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

▲

नंददास

यदि कुंभनदास 'अष्टछाप' के कवियों में सबसे वयोवृद्ध थे तो नन्ददास सबसे अल्पवयस्क।

नंददास के जीवन-वृत्त के आधार हैं—'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' 'अष्ट सखान की वार्ता', हरिराय-विरचित 'भाव प्रकाश', नाभादास कृत 'भक्तमाल', ध्रुवदासजी कृत, 'भक्त-नामावली', सोरों-सामग्री (नंददासजी के पुत्र कृष्णदासजी की पुस्तक 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' और मुरलीधर चतुर्वेदी--लिखित 'रत्नावली-चरित') तथा नंददासजी के कुछ निजी पद।

अन्तस्साक्ष्य से दो बातों का संकेत मिलता है, एक तो यह कि नंददास के एक साहित्यप्रिय रसिक मित्र थे जिनके लिए उन्होंने ग्रन्थ रचे और दूसरे यह कि गोस्वामी तुलसीदासजी उनके बड़े भाई थे अथवा गुरु भाई। 'रास पंचाध्यायी',[1] 'रस-मंजरी'[2] आदि ग्रंथों में एक रसिक

---

१. परम रसिक इक मित्र, मोहि तिन आग्या दीनीं।
ताहीं तें यह कथा यथामति भाषा कीनी॥

२. एक मीत हम सों अस गुन्यौ।
मैं नायिका-भेद नहिं सुन्यौ॥

मित्र का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

इस परम रसिक मीत के संबंध में अनेक प्रकार के अनुमान लगाए जाते हैं। किसी के मत में यह विट्ठलनाथ की शिष्या गंगाबाई थी और किसी के विचार में रूपमंजरी जिसका नाम गोवर्धननाथजी की प्राकट्यवार्त्ता में आया है तथा जिसके साथ नंददासजी की मित्रता का उल्लेख हुआ है। किंतु निश्चित रूप से इस संबंध में कुछ कहना कठिन है।

हाल के प्राप्त जिस पद में नंददासजी ने तुलसीदास की स्तुति अपने अग्रज अथवा गुरु-भाई के रूप में की है वह यह है—

श्रीमत्तुलसीदास स्व गुरु भ्राता[1] पद बंदे।
सेष सनातन विपुल ज्ञान जिन पाइ अनंदे॥
राम-चरित जिन कीन, ताप त्रय कलि-मल हारी।
करि पोथी पर सही, आदरेउ आप मुरारी॥
राखी जिनकी टेक, मदन मोहन धनुधारी।
बाल्मीकि अवतार कहत, जेहि संत प्रचारी॥
'नंददास' के हृदय नयन को खोलेउ सोई।
उज्वल रस टपकाय दियौ, जानत सब कोई॥

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में नंददास को तुलसीदास का अनुज कहा गया है किन्तु 'भक्तमाल' में नंददास के ज्येष्ठ भ्राता-मित्र का नाम चंद्रहास लिखा है और नंददास को रामपुर ग्राम का निवासी सुकुल कहा गया है तथा उनकी कविता एवं भक्ति की बड़ी प्रशंसा की गई है—

लीला पद रस रीति, ग्रंथ रचना में नागर।
सरस उक्ति जुत जुक्ति, भक्तिरस गान उजागर॥

---

१. गुरुभ्राता के दोनों ही अर्थ हो सकते हैं, गुरुभाई अथवा ज्येष्ठ भाई।

प्रचुर पद्ध लौं सुजस, रामपुर ग्राम निवासी।
सकल सुकुल संवलित, भक्तपद रेनु उपासी॥
चंद्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम पथ में पगे।
नंददास आनंदनिधि, रसिक सुप्रभुहित रंग मगे॥

'भक्तमाल' की इस उक्ति से तुलसीदास को नंददास का अग्रज मानने में बाधा पड़ती है किंतु इधर प्राप्त सोरों की सामग्री (सूकर क्षेत्र माहात्म्य' और 'रत्नावली' ने तुलसीदास के जीवन पर नया प्रकाश डालने के साथ-साथ नंददास के अग्रज-संबंधी विवाद का भी एक समाधान प्रस्तुत कर दिया है। 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य' नंददास के पुत्र कृष्णादास का ग्रन्थ है। इसमें नंददासजी की वंशावली दी हुई है जिसके अनुसार नंददासजी तुलसीदास के चचेरे भाई ठहरते हैं। वंशावली इस प्रकार है—
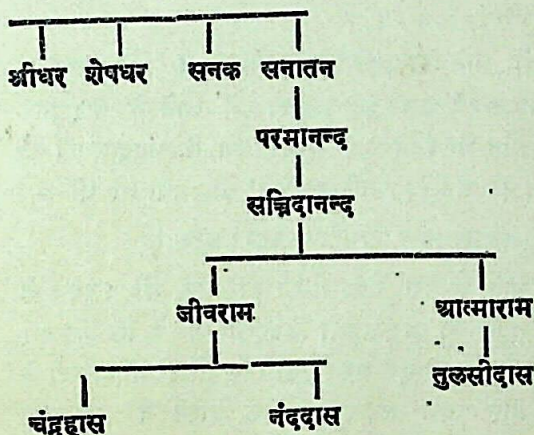
'रत्नावली-चरित्र' में भी नंददास को तुलसीदास का चचेरा भाई लिखा गया है और कहा गया है कि तुलसीदास तो सोरों में रहते थे और

नंददास सोरों के निकट ही रामपुर में अपनी माँ के साथ। दोनों ने शिक्षा का आरम्भ एक ही गुरु सोरों-निवासी पंडित नृसिंहजी के तत्त्वावधान में किया।

नंददास का जन्मसंवत् भी विवादास्पद है। कोई इसे १५७० और कोई १५६० मानते हैं किन्तु नंददास को तुलसी का अनुज मानने पर संवत् १५६० को ही स्वीकार करना पड़ेगा।

नंददास के पुष्टि-सम्प्रदाय में सम्मिलित होने के प्रसंग में एक कहानी वार्त्ता में आई है। एक बार वे द्वारिका जा रहे थे। रास्ते में सिंहनद नामक ग्राम में एक खत्री की स्त्री को छत पर केश सुखाते हुए देखा। वे उसके रूप पर मुग्ध हो कर वहीं रुक गए और लगे रोज उसके घर की फेरी लगाने। जब वह परिवार लोक-लाज की रक्षा के लिए गोकुल चला गया तो आप भी पीछे-पीछे चल पड़े। गोकुल में गो० विट्ठलनाथ जी के उपदेश से इनका मोह दूर हुआ और आप विट्ठलनाथ जी के शिष्य हो गए।

पुष्टि-सम्प्रदाय में आने के पहले आप रामभक्त थे और रामचन्द्र एवं हनुमान-विषयक पद रचे थे। पुष्टि-सम्प्रदाय में आने के बाद आप सूरदास के साथ गोवर्धन में रहते थे। सूरदास जी ने नंददास जी को रीति-काव्य की शिक्षा देने के लिए 'साहित्य-लहरी' की रचना की थी—

नंदनंदनदास हित साहित्य-लहरी कीन।

अनुमान किया जाता है कि नंददास जी की मृत्यु सं० १६४० के आस पास हुई। नंददास की मृत्यु-संबंधी किंवदन्ती यह है कि एक बार गोवर्धन में अकबर ने नंदजी से एक प्रश्न पूछा। सुनते ही नंददासजी ने शरीर त्याग दिया और तत्क्षण अकबर की एक दासी की भी मृत्यु हो गई।

अष्टछाप के कवियों में मात्रा और श्रेष्ठता दोनों दृष्टियों से सूरदास,

परमानंददास और नंददास अष्टछाप की प्रथम श्रेणी के कवि हैं पर जहाँ सूरदास और परमानंददास की प्रसिद्धि प्रवीण संगीतज्ञ के रूप में भी हुई वहाँ नंददास की केवल सिद्ध कवि के रूप में। सूर, परमानंद आदि पुष्टि-संप्रदाय में दीक्षित होने के पहले ही लब्धख्याति हो चुके थे जबकि नंददास ने संप्रदाय में आने के बाद यश प्राप्त किया।

अनेक दृष्टियों से 'अष्टछाप' में नंददास का विशिष्ट स्थान है। नंददास ने सर्वाधिक ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनके रचे ३० ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें २३ तो प्राप्त हैं। इनमें प्रमुख एवं प्रामाणिक हैं 'भँवरगीत', 'रासपञ्चाध्यायी', 'सिद्धान्तपञ्चाध्यायी', 'रूपमंजरी' 'रसमंजरी', 'अनेकार्थमंजरी', 'रुक्मिणीमंगल', 'नामचिन्तामणि माला', 'श्यामसगाई' 'प्रेमबारहखड़ी', 'दशमस्कंध भाषा', 'गोवर्धनलीला' और 'पद्यावली'। यों तो भक्ति-काल के सभी कृष्ण-भक्त कवियों में नायिका-भेद की सामग्री मिलेगी किन्तु नंददास ही प्रथम कवि थे जिन्होंने नायिका-भेद पर 'रस मंजरी' जैसी स्वतंत्र पुस्तक लिखी तथा 'रूपमंजरी' एवं 'विरह-मंजरी' में परकीया भक्ति एवं उपपति-रस की व्याख्या की। एक और बात है।- नंददास संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। 'अष्टछाप' के कवियों में नंददास जी पर ही संस्कृत के कवियों खासकर जयदेव और कालिदास का स्पष्ट प्रभाव है। तंडुलकण न्याय से नीचे एक उद्धरण दिया जाता है—

और काम सब छाँड़िकै, उन लोगन सुख देहु।
नातरु टूट्यो जात हैं, अब ही नेह-सनेहु॥

—नंददास

आशाबन्धः कुसुमसदृशो प्रायशो ह्यङ्गनानाम्।

—कालिदास

फिर जहाँ सूरदास ने पुष्टि-संप्रदाय में स्वीकृत कृष्ण के बाल और किशोर-रूपों के अतिरिक्त वयस्क रूप का भी यत्रतत्र वर्णन करके अपनी

वैष्णवीय उदारता का परिचय दिया है वहाँ नंद ने अपने काव्य को कृष्ण की बाल और किशोर-झाँकियों तक सीमित रखकर अपने को पुष्टि-संप्रदाय का विशुद्ध प्रतिनिधि कवि प्रमाणित किया है।

सूर और नंद दोनों के काव्य का सर्वश्रेष्ठ अंग है भ्रमरगीत। दोनों के भ्रमरगीतों का आधार है श्रीमद्भागवत का दशम स्कंध। दोनों ने भ्रमर-गीत में निर्गुण भक्ति के समक्ष सगुण-भक्ति की श्रेष्ठता प्रमाणित की है किन्तु इसके लिए जहाँ सूर ने अपना हृदय उड़ेल दिया है वहाँ नंद ने तर्क उपस्थित किए हैं। सूर की गोपियाँ प्रेम-बावरी हैं, नंद की गोपियाँ तार्किक हैं। सूर की गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में इतनी मग्न हैं और उनके वियोग में इतनी व्यथित हैं कि तर्क के लिए उनके पास अवकाश नहीं है[1]। पर नंद की गोपियाँ तर्क उपस्थित करते थकती ही नहीं। नंददास का 'भँवरगीत' ऐसे तर्कों से आद्यन्त भरा पड़ा है। सूरदास की गोपियों में केवल हृदय देखते हैं, नंद की गोपियों में मस्तिष्क भी।

सूरदास की कोमलांगी गोपियाँ कृष्ण-विरह के अप्रत्याशित आघात से अनेक स्थलों पर निःशब्दप्राय हो गई हैं किंतु नंद की गोपियाँ सदा मुखर एवं प्रगल्भ हैं। कुब्जा के प्रसंग में सूरदास की गोपियाँ क्षुब्ध भर होती हैं किन्तु नंद की गोपियाँ कुब्जा का नाम सुनते ही बौखला उठती हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि नंददास के 'भँवरगीत' में राधा का उल्लेख नहीं है।

यों सूर और नंद दोनों ने विरह का तलस्पर्शी वर्णन किया है किन्तु सूर की गोपियाँ जहाँ सम्पूर्ण रूप से वियोगिनियाँ हैं वहाँ नंद की गोपियाँ विरह में संयोग की कल्पना कर लेती हैं। वे विरह की घड़ियों में अपने अतीत संयोग का ध्यान करते-करते उसका प्रत्यक्ष अनुभव-सी करने लगती हैं। विरह की यह दशा केवल नंददास में ही मिलती है।

---

१. देखिए पृ० ३०

एक बात और। सूरदास की शैली विशुद्ध गीति-शैली है जब कि अपने 'भँवर गीत' में नंददास ने कथनोपकथन की नाटकीय शैली अपनाई है और पदों के गुम्भन से खंडकाव्य की पद्धति पर रचना की है। पदों के गुम्भन से खंडनकाव्य रचने की प्रवृत्ति नंददास के अन्य ग्रंथों में भी देखी जाती है और यह बात नंददास को अष्टछाप के अन्य कवियों से सहज ही भिन्न एवं विशिष्ट कर देती है।

नंददास की दार्शनिक भावनाएँ वे ही हैं जो सूरदास आदि की हैं। दोनों ने भगवान् के निर्गुण रूप (कारण-रूप) को स्वीकार करते हुए उनके सगुण रूप (कार्य-रूप) को वरेण्य माना है। दोनों की दृष्टि में कृष्ण ब्रह्म के अवतार हैं। दोनों ने रास की आध्यात्मिक स्थिति का प्रतीकात्मक वर्णन किया है।[1] दोनों की दृष्टि में मुरली भगवान् की आदि शक्ति या योग माया है।[2]

पर सूर और नन्द में एक मौलिक अन्तर है सूर में कविता अनायास है, नन्द में प्रायत्निक। सूर की अन्तर्दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु भक्ति है। उनकी वाणी आत्मा के सहज प्रकाश, वस्तु-स्थिति की आत्यंतिकता और संगीत के शब्द-व्योम में स्वयं ही काव्यात्मक हो गई है। नंद में कविता का आग्रह है। यह उनकी अनुप्रास-प्रियता एवं नायिका-भेद-प्रणाली से स्पष्ट है।

सूरदास की भाषा लोक-भाषा है। नंद की भाषा साहित्यिकता यानी तत्समता की ओर धावित है। नंददास के संबंध में प्रचलित उक्ति—'और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया' उनकी भाषा पर पूर्णरूप से घटित होती है। नंददास के पास शब्दों का भंडार था। 'अनेकार्थमाला' और 'नाममाला' में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ छंदबद्ध रूप और

---

१. नित्य रास-रस मत्त नित्य गोपीजनवल्लभ।

२. तब लिनी कर कमल जोग माया सी मुरली।

साहित्यिक परिवेश में दिये गये हैं। इसलिए नंददास हिन्दी के प्रथम छंदबद्ध.कोश-लेखक हैं। शब्द-भंडार के अतिरिक्त नंददास का शब्द-संस्थापन भी महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है। भाषा की कोमलता के संबंध में नंददास ने 'रूपमंजरी' में स्वयं कहा है—

सुंदर कोमल बचन अनूठे, कहत सुनत समुझत अति मीठे।

नंददास की यह उक्ति उनके काव्य में चरितार्थ हुई है।

नंददास की प्रशंसा में भक्तमाल-कार ने ठीक ही कहा था—

सरस उक्ति जुत जुक्ति भक्ति रसगान उजागर।

नंददास की कविता सरस उक्तियों के लिए इतनी प्रसिद्ध है कि 'रासपंचाध्यायी' को हिन्दी का 'गीतगोविंद' और नंददास को भक्तिकाल का जयदेव कहा जाता है।

जहाँ तक छंदों का संबंध है नंददास ने अनेक छंदों में रचनाएँ कीं। रोला छंद के विधान में उन्हें अपूर्व सफलता मिली। हिन्दी में यदि सूरदास पदों के आचार्य माने जाते हैं तो नंद रोला के।

▲

गंग

'तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।'

यह निर्णय और किसी का नहीं, भिखारीदास जैसे सुकवि और साहित्यशास्त्रज्ञ का है। स्पष्टतः साहित्य-मर्मज्ञों की पुरानी पीढ़ी गंग को महान् कवियों में परिगणनीय मानती थी। यह खेद और आश्चर्य है कि ऐसे महत्वपूर्ण कवि के बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है।

गंग के बारे में वस्तुतः इतना भर ही ज्ञान है कि वे जात्या ब्राह्मण या ब्रह्मभट्ट थे, वे बादशाह अकबर के दरबारी कवि थे, उन्हें रहीम खानखाना का प्रति-पालन प्राप्त था और, इस आधार पर, उनका रचना काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जा सकता है, तथा, जैसी अनुश्रुति है, वे किसी हिंदू या मुस्लिम सामंत के विवेकशून्य आदेश से हाथी के पैरों तले रौंदवा दिये गए थे—

'गंग ऐसे गुनी को गयंद सो चिराइये' !

देव कवि ने भी इस घटना का संकेत किया है—

'एक भए प्रेत, एक मींजि मारे हाथी' ।

एक अन्य कवि ने इस घटना पर अपना आक्रोश मार्मिक व्यंग्य के साथ यों व्यक्त किया है—

सब देवन को दरबार जुर्‌यो, तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायौ ।
जब काहू तें अर्थ कह्यो न गयो, तब नारद एक प्रसंग चलायो ॥
मृत-लोक में है नर एक गुनी, कवि गंग को नाम सभा में बतायो ।
सुनि चाह भई परमेसर को, तब गंग को लेन गनेस पठायो ॥

ऐसी जनश्रुति भी प्रचलित है कि गंग ने अपनी विनोदप्रियता का परिचय देते हुए, निम्नलिखित दोहा कह कर मृत्यु का वरण किया था—

कबहुँ न भँडुवा रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बंब ।
सकल सभाहिं प्रनाम करि, बिदा होत कवि गंग ॥

गंग के परवर्त्ती आलोचक उन्हें कितना आदरणीय मानते थे, यह हम प्रारंभ में ही देख चुके हैं । वे अपने जीवन काल में कितने सम्मानित थे यह इसी से प्रमाणित है कि उनके प्रतिपालक रहीम खानखाना ने उनका यह छप्पय सुनकर उन्हें छत्तीस लाख रुपए का पुरस्कार दिया था—

चकित भँवरि रहि गयो, गमन नहिं करत कमल बन ।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन बन ॥

हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिलै अति।
बहुसुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहै न करै रति ॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रवि-रथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो ॥

गंग का जीवन-वृत्त तो अंधकार में है ही, उनकी रचनाएँ भी छिट-फुट रूप में ही प्राप्त हैं। उनकी कोई स्वतंत्र कृति अद्यावधि सुलभ नहीं है। हाँ, हिंदी के प्राचीन काव्य-संग्रहों में उनके बहुसंख्यक छंद मिल जाते हैं।

उनके ये स्फुट छंद विशेषतः वीर और शृंगार रस के हैं, यद्यपि इनमें से अनेक में हास्य और व्यंग्य की भी चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना हुई है। गंग के वीर-रस के छन्दों में प्रभावोत्पादक ओजस्विता है और यद्यपि उनके विप्रलंभ-शृंगार के वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं फिर भी, युग की रुचि को ध्यान में रखते हुए, उन्हें अपकर्षकारक नहीं कहा जा सकता, बल्कि अन्य समानधर्मा कवियों के ऐसे वर्णनों की तुलना में उनके वर्णन विच्छित्तिपूर्ण हैं। शुक्ल जी ने उचित ही कहा है कि 'गंग में सरस हृदय के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी प्रचुर मात्रा में था'।

गंग का प्रिय छंद कवित्त है। उनकी भाषा मुहावरेदार है और अलंकृत होने के साथ ही साथ अर्थ-व्यंजक भी।

कविवर नरोत्तमदास

कविवर नरोत्तमदास हिंदी के अविज्ञापित कवियों में एक हैं। सीतापुर जिले के बाड़ी नामक कसबे के रहने वाले[1] इस अज्ञात-कुल कवि का विशेष

---

१. रामचंद्र शुक्ल ('हिंदी साहित्य का इतिहास')

जीवन-वृत्त ज्ञात नहीं है। शिवसिंह सेंगर के प्रसिद्ध ग्रंथ और हिन्दी भाषा में लिखे गये हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास[1] 'शिवसिंह सरोज' में नरोत्तमदास जी का उल्लेख हुआ है और कहा गया है कि वे संवत् १६०२ में वर्त्तमान थे। तब से आज तक हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक कवि-वृत्त में एक शब्द भी न जोड़ सके।[2]

लेकिन कविवर नरोत्तमदास हिन्दी के उन लेखकों में एक हैं जिन्होंने बहुत कम लिखकर भी एक अर्से के लिए बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली और जिनकी रचनाएँ अपने समय की रूढ़ियों से मुक्त एवं मौलिक होने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व पा चुकी हैं। यदि रसलीन अपने एक दोहे के लिए, गुलेरी जी अपनी एक कहानी के लिए तो नरोत्तमदास अपनी एक छोटी-सी रचना 'सुदामा-चरित' के लिए प्रसिद्ध हैं।

भक्तिकाल में आख्यान-काव्य की परम्परा के जो बहुत-से ग्रन्थ लिखे गए उनसे हिन्दी साहित्य अत्यन्त समृद्ध हुआ। रामचरितमानस, वेलि क्रिसन रुकमणी री, ढोला मारू रा दूहा आदि उन्हीं ग्रन्थों में कुछ हैं। इन ऐश्वर्यपूर्ण ग्रन्थों के साथ तब 'सुदामा-चरित' भी लिखा गया था, एक नरोत्तमदास के द्वारा और दूसरा (सुदामा-चरित्र) नंददास जी

---

१. वैसे 'शिवसिंह सरोज' से भी अधिक पहले का लिखा हुआ हिंदी साहित्य का इतिहास है गार्सां द तासी का 'इस्तवार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी' किंतु वह फ्रेंच भाषा में लिखा गया है।

२. 'वाङ्मय विमर्श' (श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) में 'सुदामा-चरित' की आलोचना भर है और हाल में प्रकाशित पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'हिंदी साहित्य' में नरोत्तमदास के लिए केवल एक अर्द्ध वाक्य लिखा है—'सुदामा-चरित' के लोकप्रिय कवि नरोत्तमदास (सन् १५४५ ई०)।

के द्वारा। पर नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित' अपनी सादगी, भाषा और मौलिकता के लिए विशिष्ट हो गया। उस समय दाम्पत्य और वात्सल्य का अभिव्यंजन तो परिपक्व (Classical) रूप ग्रहण कर रहा था, पर सख्यभाव की ऐसी भावाभिव्यंजना नहीं थी जैसी 'सुदामा-चरित' में हुई। फलस्वरूप अल्पकाय होकर भी इसने ऐतिहासिक महिमा प्राप्त की और अपनी भाषा एवं भावना के कारण जन-मन का कंठहार भी बना। आज भी गाँवों में ऐसे अनेक वृद्ध और अधेड़ मिलेंगे जो जाड़े के भोर में प्राती (प्रभाती) के रूप में 'सीस पगा न झगा तन पर...........' वाला पद गाते हैं और गाते-गाते विह्वल हो जाते हैं।

कविवर नरोत्तम दास का एक और ग्रन्थ कहा जाता है—'ध्रुव-चरित्र' पर अभी तक वह उपलब्ध नहीं हो सका है।

शास्त्रीय दृष्टि से 'सुदामा-चरित' एक खण्ड-काव्य है और इस छोटी-सी रचना का हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में एक विशिष्ट स्थान है।

पद्यकाव्य के तीन भेदों—महाकाव्य, खण्डकाव्य, और मुक्तककाव्य में खण्डकाव्य का स्थान स्वभाव से मध्यवर्ती होता है।

महाकाव्य के अनेक लक्षणों में सबसे प्रधान यह है कि वह जीवन-वृत्त की समग्रता को एक रस की प्रधानता में सर्गबद्ध करता है और इस प्रकार महार्घता के साथ एक विस्तार रखता है। दण्डी ने 'काव्यादर्श' में लिखा है कि महाकाव्य अति संक्षिप्त नहीं होना चाहिए। खण्डकाव्य वह होता है जिसमें महाकाव्य के अन्य लक्षण तो न्यूनाधिक मात्रा में सम्भव हों पर जीवन-वृत्त का चतुर्दिकी विस्तार न हो। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है खण्डकाव्य, महाकाव्य की तरह, किसी की जीवन-गाथा की सम्पूर्णता को नहीं, जीवन-खण्ड को अर्थात् गाथा के किसी एक पक्ष को लेता है। विश्वनाथ ने खण्डकाव्य के सम्बन्ध में इतनी ही बात कही है।

वैसे आधुनिक पाश्चात्य विचारकों के अनुसार खण्डकाव्य भी, भावावेश की तीव्रता और उसके उन्नयन की अभिव्यक्ति कर महाकाव्य की

संज्ञा प्राप्त कर सकता है। अंग्रेजी के अत्याधुनिक कवि T.S.Eliot के Waste Land को इसीलिए महाकाव्य की संज्ञा नहीं तो प्रतिष्ठा अवश्य मिली है। लेकिन Aristotle आदि प्राचीन दार्शनिकों के मत में वही कलाकृति महाकाव्य कही जाने की अधिकारिणी है जिसमें विस्तार के आरम्भ, मध्य और अंत स्पष्टतः लक्षित हों। महाकाव्य (·Epic) का पाश्चात्य कोषगत अर्थ भी एक विस्तृत काव्य है।[1] आधुनिक काल के एक मार्क्सवादी उद्भट विद्वान् एवं विचारक Christopher Caudwell ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Illusion and Reality में महाकाव्य को सामूहिक जीवन की काव्यगाथा कहा है।[2]

इन सभी परिभाषाओं और व्याख्याओं से सिद्ध है कि महाकाव्य एक ऐसे काव्य के रूप में स्वीकार होता रहा है जिसमें जीवन-वृत्त का चित्रण उसके नाना संबंधों के विस्तार और परिपूर्णता में हो।

खण्डकाव्य जीवन के अखिल विस्तार को नहीं उसके खंड को, उसके किसी अंश को अपना आधार बनाता है। इसलिए महाकाव्य में उपकथाओं के लिए स्थान होता है पर खंडकाव्य में प्रधान कथा को छोड़कर प्रासंगिक कथाओं के लिए अवकाश नहीं होता। खंडकाव्य का शरीर इकहरा होता है और सीधे मार्ग से चल कर गंतव्य तक पहुँचता है।

किन्तु महाकाव्य के किसी सर्ग में आई हुई एक उपकथा और खंडकाव्य में अन्तर है। महाकाव्य की इस उपकथा को समझने के लिए

---

1. Along poem telling of some heroic act or acts and written in a style of great dignity and beauty.
2. The chorus becomes an epic—a collective tale about individuals—and, finally, the lyric—an individual utterance.

अन्य सर्गों के पूर्वापर (Reference) की अपेक्षा होती है पर खंड-काव्य अपने आप में पूर्ण होता है और उसे जानने के लिए पूर्वापर की आवश्यकता नहीं होती। इस आत्मनिर्भरता के कारण उसमें मुक्तक का (जिसको भी अनुबंध की जरूरत नहीं होती) गुण आ जाता है।

इस प्रकार खंडकाव्य महाकाव्य और मुक्तक काव्य का मध्यवर्ती है। एक ओर उसमें कथा के एक अंश का निश्चित विकास है और दूसरी ओर वह अंश अपने आप में पूर्ण और अपने आप पर निर्भर है।

तो 'सुदामा-चरित' एक खंडकाव्य है और हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में इसका विशिष्ट स्थान है। इसमें सुदामा के जीवन-वृत्त का केवल एक अंश वर्णित है। इसमें उनके जीवन का न आदि (बचपन, तरुनाई, विवाह आदि) वर्णित है और न अन्त, केवल तीसरे पन की एक महान् घटना को छन्दोबद्ध किया गया है। जहाँ सुदामा की दरिद्रता ब्राह्मणी के लिए असह्य हो उठती है और वह उनसे द्वारिका जाने का उत्कट आग्रह करने लगती है वहीं से कथा आरम्भ होती है और जब श्रीकृष्ण की महिमा से अपार ऐश्वर्य लाभ होता है तब सुदामा की दीनता के साथ कहानी भी समाप्त हो जाती है। फिर इसमें केवल आधिकारिक कथा यानी केवल सुदामा की कहानी कही गई है, प्रासंगिक कथाएँ (जैसे गुरु-प्रसंग, कृष्ण-रुक्मिणी-प्रसंग आदि) नहीं। इस प्रकार 'सुदामा-चरित' की कथावस्तु संक्षिप्त और इकहरी है।

किन्तु केवल खंडकाव्य हो जाने से 'सुदामा-चरित' का मूल्यांकन नहीं हो जाता, यह तो केवल उसके काव्य-स्वरूप का निर्धारण मात्र है। और, वस्तुतः काव्य की श्रेष्ठता शास्त्रानुमोदित पदार्थों के उल्लेख वा कथन

---

१. पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तम्।

—ध्वन्यालोक।

से नहीं उपादानों के संगठन और रस-परिपाक से सिद्ध होती है[1] अतः 'सुदामा-चरित' का मूल्यांकन भी इस खंडकाव्य के महत्वपूर्ण उपादानों अर्थात् वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण, रस और भावाभिव्यक्ति, कथनोपकथन, भाषा-शैली एवं प्रभावान्विति के आधार पर होना चाहिए।

'सुदामा-चरित' की कथावस्तु संक्षिप्त और इकहरी है। इसमें प्रासंगिक घटनाओं की जटिलता नहीं है। ऐसी सरल कथावस्तु के संगठन में विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती, भावुकता की अपेक्षा होती है कथावस्तु के स्वाभाविक विकास करने में और उससे भी अधिक कथा को आद्यन्त रोचक रखने तथा पाठकों की रुचि को आरंभ से अन्त तक उसके प्रति उत्सुक रखने में। और इस दृष्टि से कथा के प्रस्तुतीकरण में कविवर नरोत्तम दास विफल नहीं हुए हैं। सर्वप्रथम ब्राह्मणी और सुदामा के तर्क-विमर्शपूर्ण कथनोपकथन से कहानी शुरू होती है। सुदामा के साधनापूत आदर्श एवं शील तथा बेबसी-जन्य संकोच तथा सुदामा-पत्नी की व्यावहारिक जागरूकता एवं प्रत्युत्पन्न तर्क के घात-प्रतिघात में एक नाटकीय रोचकता और उसमें पाठक को उत्सुक रखने की सामर्थ्य है। इसके बाद ही सुदामा की द्वारिका-यात्रा शुरू होती है और राह में एक अलौकिक-अप्रत्याशित घटना घट जाती है। भगवान् उन्हें निद्रावस्था में ही गोमती के तीर पर ले आते हैं। इसके बाद ही सुदामा द्वारिका-नरेश के सिंहद्वार पर आ जाते हैं। एक अजीब दृश्य खड़ा होता है। एक ओर स्वर्णिम प्रासाद हैं, अपार श्री है, अथाह संपदा है और दूसरी ओर गरीबी की साकार प्रतिमा के रूप में द्वारिका-नरेश के जन्म-जन्म के मित्र खड़े हैं—खाली देह, खाली पाँव, खुला सिर, पाव भर चावल लिए, हड्डियों का ढाँचा मात्र! इस विपरीतता में अपना आकर्षण है। क्षण में

---

१. सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया॥
(ध्वन्यालोक)

श्रीकृष्ण आते हैं और अप्रत्याशित रूप से सेवा-सत्कार करके सम्पूर्ण वातावरण को प्रेम के आवेश से भर देते हैं। लौटने के समय फिर एक अप्रत्याशित घटना होती है। कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से कुछ नहीं देते। सुदामा क्षोभ से भर कर शाप दे डालते हैं मगर घर आने पर फिर अनहोनी घटना देखकर विमूढ़, चकित और गद्‌गद हो जाते हैं। इस प्रकार सुदामा-चरित' की कथा में अपनी रोचकता है और घटनाओं की अप्रत्याशितता एवं भावाभिव्यक्ति की स्वाभाविकता के कारण वह अथ से इति तक पाठक को बाँधती है।

कविवर नरोत्तमदास ने एक मौलिक घटना की योजना की है। यहाँ सुदामा कृष्ण को शाप देते हैं। श्रीमद्भागवत में इसका उल्लेख नहीं है। यह कविवर की अपनी सूझ है। इस शाप की कल्पना ने कथावस्तु में एक अजीब Coincidance और परिस्थिति-जन्य हास्य (Humour of Situation) ला दिया है। सुदामा शाप देते हैं कि कृष्ण ने जैसा मुझे दिया वैसा खुद भी पावे और उन्हें पता ही नहीं कि उधर कृष्ण ने उनका घर भर दिया है। इस संयोग-हास्य-योजना से कथावस्तु की रोचकता को मार्मिकता मिल गई है।

निवेदन किया जा चुका है कि नरोत्तमदास के सुदामा एक परिवर्तनशील पात्र हैं, व्यास के सुदामा की तरह स्थिर नहीं। भक्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत के सुदामा महानतर हैं पर काव्य की दृष्टि से 'सुदामा-चरित' के सुदामा अधिक मनोरम हैं।

'सुदामा-चरित' के नायक के चरित्र में एक विकास है और वह विकास पात्र और घटना के घात-प्रतिघात पर आधृत है। सुदामा जन्म के दरिद्र, ब्राह्मण और भक्त हैं। अतः दरिद्रता उन्हें विशेष कष्टकर नहीं लगती। इसके वे आदी हो गए हैं और ज्ञान एवं भक्ति के आनंद में इसे भुलाए रहते हैं। किन्तु वे गृहस्थ भी हैं। अतः जब उनकी पतिव्रता पत्नी दरिद्रता की असह्य पीड़ा का बार-बार करुण उल्लेख करती है तब

स्वभावतः उनके भीतर अपनी परिस्थिति के प्रति एक अप्रत्यक्ष तरस उत्पन्न होता है और वे एक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति की तरह द्वारिका जाते हैं। द्वारिका में अप्रत्याशित घटना होती है। कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से उन्हें कुछ नहीं देते। यह घटना सुदामा के उस विश्वास को ही हिला देती है जिस पर चढ़कर वे घोर विपत्ति के बीच भी भक्ति में मग्न रहते थे। उन्हें बड़ा क्षोभ होता है। बिदाई के समय ब्रह्मा, कुबेर, इन्द्र आदि के माध्यम से कृष्ण के ऐश्वर्य-प्रदर्शन में उन्हें अपने प्रति व्यंग भी मालूम होता है। उन्हें तब रोष होता है। मगर तभी उनके संस्कार और शील सामने आ जाते हैं। घटना और शील में एक प्रकार का द्वंद्व होता है। उन्हें बचपन की मित्रता का ध्यान आ जाता है और उनका शाप कठोर न होकर करुण हो जाता है। मन मसोस कर वे इतना ही कह पाते हैं कि कृष्ण ने जैसा मुझे दिया वैसा खुद भी पाए। घर आने पर एक और अप्रत्याशित घटना होती है। सुदामा को कृष्ण की कृपा से अपार समृद्धि प्राप्त है। स्वभावतः सुदामा विह्वल और विमूढ़ हो उठते हैं। इस प्रकार नरोत्तम के सुदामा का चारित्रिक विकास, पौराणिक होकर भी मोटे तौर पर मनोवैज्ञानिक है और वह शील एवं परिस्थिति के संयोग पर आधारित है।

एक ही अभाव खटकता है और वह यह है कि सोये हुए सुदामा को जब कृष्ण गोमती के तीर पर ले आते हैं और नींद टूटने पर इस घटना की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता, इसकी कोई प्रतिक्रिया उनके मन पर नहीं होती। अवश्य ही यह कवि के काव्य-घट का एक छिद्र है।

एक व्यावहारिक, तर्कशील और प्रतिवादी पात्र के रूप में सुदामा-पत्नी का विकास भी, अपनी संक्षिप्तता में, एक अदोष तराश लिए है। कृष्ण अपने पौराणिक रूप में बने हैं। अतः कृष्ण के प्रसंग में घटना और पात्र के मनोवैज्ञानिक संबंध का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वे अंतर्यामी हैं, सभी घटनाओं के स्वयं संचालक हैं, सभी व्यापार उनकी लीलाएँ हैं।

'सुदामा-चरित' के रस-स्थल हैं सुदामा-पत्नी का दारिद्रय-वर्णन सुदामा का मानसिक द्वंद्व, पावभर चावल की भेंट लेकर सुदामा का द्वारिका जाना, कंगाल के वेश में द्वारिका-नरेश के सम्मुख उनका उपस्थित होना और कृष्ण का उन्हें देख कर विह्वल होना, विदाई के अवसर पर सुदामा का क्षोभ और घर की समृद्धि देखकर विह्वल एवं विमूढ़ होना। ये स्थल जैसे कवि की भावुकता की पीठिकाएँ हैं। स्पष्ट है कि 'सुदामा-चरित' का सौंदर्य वस्तु-वर्णन का नहीं, भाव-वर्णन का है; कल्पना का सौंदर्य नहीं, अनुभूति का सौंदर्य है; इसमें अभिव्यक्ति का अनूठापन नहीं, मनोभावों की सहज स्पर्शशीलता है। वैसे इसमें द्वारिका के ऐश्वर्य का भी वर्णन हुआ है किन्तु कवि के प्राण ऐसे प्रसंगों में रम नहीं पाये हैं। कवि के प्राणों का अनुसरण दीनता-वर्णन में ही सुनाई पड़ता है। सुदामा-पत्नी का दारिद्रय-वर्णन जो तलस्पर्शी है तो इसलिये उसमें वास्तविक आवेश की वह सादगी है जो चोट करने वाले मिट्टी के एक ढेले में होती है—

या घर तें न गयो कबहूँ प्रिय ! टूटो तवा अरु फूटी कठौती।

इस दीनता में तर्क की अकाट्यता का बल है और स्वभावोक्ति का आकर्षण है—

दीनदयाल के द्वार न जात सो और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्रीजदुनाथ-से जाके हितू सो, तिहूँपन क्यों कन माँगत डोलै॥

सुदामा की दीनता का जो नख-शिख उपस्थित किया गया है वह तो अपनी चरम सरलता और अनायासता (Effortlessness) के कारण क्लासिकल हो ही गया है—

सीस पगा न झँगा तन मैं, प्रभु ! जाने को आहि ! बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी-दुपटी, अरु पाँव उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक, रह्यौ चकि सों वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

इसी प्रकार आत्मभिमान और दारिद्रय के द्वंद्व-मंथन के परिणाम स्वरूप सुदामा के मुँह से जो वाणी निकलती है वह, अपनी तलस्पर्शिता के कारण सुभाषित का गुण रखती है—

१. जो पै दरिद्र लिखो है ललाट तौं; काहू पै मेटि न जात अजानी।
२. सुख-दुख करि दिन काटे बनैंगे, भूलि
विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।
३. जीवन केतो है जाके लिये, हरि सों अब होहुँ कनावड़ौ जायकै॥

ऐसी सूक्तियाँ या जीवन-वाक्य अनुभव और जीवन-मंथन के परिणाम होते हैं। ऐसे वाक्यों को 'कथनी' के चमत्कार की जरूरत नहीं होती। कवियों की महानता का मूल्यांकन करते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि किसने कितनी अधिक स्मरणीय पंक्तियाँ (Memorable lines) लिखी हैं। और, 'सुदामा-चरित' में ऐसी पंक्तियाँ अनेक हैं जो अपनी निष्कपट सादगी में अनुभव की व्यापकता और अकाव्यता के कारण लोकोक्तियाँ बनकर पाठकों की जिह्वा पर चढ़ चुकी हैं।

'सुदामा-चरित' में दैन्य और दारिद्रय की छूनेवाली व्यंजना हुई है इसके अतिरिक्त संकोच-भाव का एक शब्द-चित्र भी अपूर्व बन पड़ा है—

खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि पर्‌यौ, बिखरि गयौ तिहिं ठौर॥

'सुदामा-चरित' का प्रधान भाव सख्य-प्रेम है। भक्तिकाल में दीन, वात्सल्य और दाम्पत्य भाव की व्यंजना तो अनेक सुकवि भक्तों ने की किन्तु वयस्क सख्यभाव की व्यंजना 'सुदामा-चरित' में ही हुई। सुदामा-चरित का प्रतिपाद्य विषय कृष्ण और सुदामा की मैत्री का वर्णन है। यह सख्य भी शास्त्रीय दृष्टि से, शृङ्गार-रस के ही अन्तर्गत होगा। इस प्रकार सुदामा-चरित का प्रमुख रस शृङ्गार है—सख्यपरक और दाम्पत्य-परक। सुदामा अथवा कृष्ण के मैत्रीजन्य आवेश में सख्य, और सुदामा

और सुदामा-पत्नी के परस्पर प्रीतिमय सम्भाषण में दाम्पत्य है। पर इन दोनों भावों के ऊपर करुणा की घनीभूत छाया पड़ी है। अतः 'सुदामा-चरित' के दाम्पत्य अथवा सख्यभावों में उल्लास की चञ्चलता नहीं, करुणा की नमी है। करुणा से भींगे प्रेम-भावों की विरल अभिव्यक्ति प्रस्तुत ग्रन्थ में हुई है। कृष्ण मित्र का आगमन सुनकर दौड़ पड़ते हैं पर उनकी दशा देखकर आँखों की धारा रुकती ही नहीं—

देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जल सों पग धोए॥

कृष्ण सुदामा का क्षेम-कुशल पूछते हैं। सुदामा कहते हैं—

जैसी तुम करी तैसी करै को कृपा के सिंधु!
ऐसी प्रीति दीनबन्धु! दीनन सों माने को?

पुस्तकांत में जहाँ सुदामा लौटकर गाँव की पलटी काया देखते हैं और विह्वल होकर पत्नी को देखकर भी नहीं पहचानते तथा अपनी गरीब ब्राह्मणी की याद करते हैं वहाँ करुणाभिसिक्त दाम्पत्य अत्यंत तरलित हो पड़ा है—

मेरी वा पड़ाइन तिहारी अनुहार ही पै,
बिपदा-सताई वह पाई कहाँ पामरी?

इस प्रकार 'सुदामा-चरित' में करुण-रस की एक अंतर्धारा प्रवाहित है। करुण के प्रवाह में भावुकता के अतिरेक के आ जाने का भय बना रहता है। करुण-रस का प्रतिपादन करते समय इस बात का भय रहता है कि कवि कहीं अति भावुक (Sentimental) न हो जाय। 'सुदामा-चरित' की कथा में ऐसी सस्ती भावुकता नहीं है। यहाँ कवि को दीन सुदामा को विनोद का आलम्बन बनाने का भी अवसर मिला है। कृष्ण सुदामा से विनोद करते हैं—

आगे चना गुरु-मातु दए ते लए तुम चाबि हमैं नहिं दीने।
स्याम कह्यौ मुसुकाय सुदामा सों, 'चोरी की बानि मैं हौ जू प्रबीने॥
पोटरी काँख में चांपि रहे तुम, खोलत नाहिं सुधा-रस-भीने।
पाछिली बानि अजौ न तजी तुम, तैसेई भाभी के तंदुल कीने॥

संक्षेप में 'सुदामा-चरित' का प्रमुख रस सख्य-दाम्पत्य-परक शृंगार है। किन्तु करुण रस की एक अन्तर्धारा भी बहती रहती है। सहायक रूप में शांत और हास्य रस आए हैं। इसमें करुण, सख्य और दाम्पत्य की अच्छी व्यंजना हुई है। हास्य-विनोद के कारण करुणा में अतिभावुकता नहीं आ पायी है और कवि एक कलात्मक तटस्थता रख सका है।

'सुदामा-चरित' अपनी भाषा के लिए भी प्रसिद्ध रहा है। इसकी भाषा साहित्यिक, व्यवस्थित, परिमार्जित, सधी-मँजी ब्रजभाषा है। पर इसकी विशेषता इसकी सरस सरलता है। सरलता ही इसकी सामर्थ्य है। यह सरलता कवि की भाव-व्यंजना और पाठक की ग्रहणशीलता की दूरी को जैसे मिटा देती है। इस दुराव-हीनता में सघन रसबोध होता है। 'सुदामा-चरित' की लोकप्रियता का यही रहस्य है। सरलतम भाषा के अनेक उदाहरणों में से एक यह भी है।

ऐसे बेहाल बेवाइन सों, पग कंटक-जाल लगे पुनि जोए।
'हाय ? महादुख पायौ सखा, तुम आए इतै न कितै दिन खोए।'
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करि कै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुओ नहिं, नैनन के जल सों पग धोए॥

भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शैली के तीन गुणों में वैसे द्वारिका-वर्णन[1] और कृष्ण द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कुछ न पाने के

---

१. जैसे—
दीठि चकचौंधि गई देखत सुबर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं

कारण होने वाले सुदामा के क्षोभ[1] के वर्णन में ओज तथा सुदामा की प्रिया-मनुहार में माधुर्य भी आए हैं[2] किन्तु प्रसादगुण की अपनी स्वच्छता एवं द्रवणशील सरसता में ये जैसे घुलकर उसी के अंग हो गए हैं।

पर इस प्रसादपूर्ण भाषा पर करुणा की नमी चढ़ी है, मासूम के आँसुओं की तरह। भाषागत करुणा (Pathos of language.) के कारण एक विषयानुकूल वातावरण बना रहता है।

'सुदामा-चरित' की भाषा में रोजमर्रे और मुहाविरें हैं और उनके कारण यथास्थान काट और कलाम की सफाई आती है। रेखांकित पदों में उन्हें देखा जा सकता है—

१. दीनदयाल के द्वार न जात सो, और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्रीजदुनाथ-से जाके हितू सो, तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै।
२. याहि तें भावत मो-मन दीनता, जौ निबहैं निबही जस आई।

मगर इसकी भाषा का प्राण-स्रोत रोजमर्रे और मुहावरे नहीं हैं बल्कि कवि के आवेश और अनुभूति की वह गंगोत्री है जहाँ कवि का संपूर्ण अस्तित्व प्रवहमान है और जहाँ पहुँचकर भाषा की सारी कृत्रिमताएँ दूर हो जाती हैं, एक आध्यात्मिक चमक आ जाती है, भाषा आत्यंतिक हो उठती हैं। एक-एक पंक्ति, एक-एक वाक्य कवि के इसी आवेश और अनुभूति की हरगंगा में डुबकी लगाकर एक-एक सूक्ति बन जाता है। और ऐसे अभागे

पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात,
देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं।

१. जैसे—
हौं कत इत आवत हुतौ, वाही पठयौ ठेलि।
कहिहौ धन सो जाइकै, अब धन धरौ सकेलि॥
२. मैं तो नारि तिहारिय, सुधि सँभारिए कंत।
प्रभुता सुन्दरता दई, अद्भुत श्रीभगवंत॥

वाक्य थोड़े हैं जो 'सुदामा-चरित' में सुभाषित न बने हों। यह चरम अभिव्यक्ति, भाषा की यह आत्यंतिकता किसी भी कवि के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती है। नरोत्तमदास को यह सहज ही प्राप्त है। 'सुदामा-चरित' की अनेक सूक्तियों में कुछ ये हैं—

१. जो पै दरिद्र लिखो है ललाट तो, काहू-पै मेटि न जात अजानी।
२. सुख दुख करि दिन काटे ही बनैंगे, भूलि
        बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए।
३. जीवन केतौ है जाके लिए, हरि सों अब हौंहुँ कनावड़ौ जायकै।
४. रंक ते राउ भयौ तबहीं, जबहीं भरि अंक रमापति भेट्यौ।

भाषा की यह आत्यंतिकता कहीं वाक्यों को सुभाषित या लोकोक्तियाँ बना देती है, कहीं परिस्थिति का चित्रवत् दृश्य उपस्थित करती है और कहीं भंगिमाओं का स्थापत्य उतार कर रख देती है। यानी, इस भाषा में आत्यंतिकता के साथ चित्रमयता है। सुदामा की दीनता का यह सांगोपांग चित्र---

सीस पगा न झगा तन मैं, प्रभु जानै को आहि ! बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु पाँव उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सों बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

तो प्रसिद्ध ही है पर सुदामा की संकोच और विह्वलता भरी मुद्रा का यह शब्द-चित्र भी कम मनहर नहीं है---

खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि परे, बिखरि गये तेहि ठौर॥

रहीम

रहीम, जिनका पूरा नाम था अब्दुर्रहीम खानखाना, का जन्म संवत् १६१० में हुआ था और निधन संवत् १६८३ में वे अकबरी दरबार के नव-रत्नों में एक थे, और अकबर के पुत्र और उत्तराधिकारी जहाँगीर के राज्य-काल में भी वर्तमान थे, यद्यपि जीवन के इन अंतिम दिनों में उन्हें राज-कोप का शिकार हो कर बुरे दिन देखने पड़े थे।

रहीम की दानवीरता और गुणज्ञता के संबंध में अनेक सुपरिचित जनश्रुतियाँ उसी प्रकार प्रचलित हैं, जिस प्रकार उनके रचित नीति के मार्मिक दोहे। वे फारसी और अरबी के साथ ही साथ संस्कृत और हिंदी के विद्वान् थे, और सद्यः प्रभाव उत्पन्न करने वाली कविता रचने में निपुण कवि। उनकी गुणग्राहकता की तो कोई सीमा ही नहीं थी। कहते हैं गंग कवि को उनके एक छप्पय के लिए उन्होंने छत्तीस लाख रुपए देकर पुरस्कृत किया था। इसी प्रकार यदि उन्हें विद्वानों और कवियों का सम्मान प्राप्त था, तो वे उसका प्रतिदान करना भी जानते थे। ऐसी जनश्रुति है कि एक बार गोस्वामी तुलसीदास ने एक अभावग्रस्त ब्राह्मण को इस अपूर्ण दोहे के साथ रहीम के पास भेजा—'सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।' रहीम ने ब्राह्मण को प्रचुर धन तथा दोहे की इस पूर्त्ति के साथ विदा किया—'गोद लिए हुलसी फिरें, तुलसी सो सुत होय।'

रहीम की विशेष प्रसिद्धि उनके नीति विषयक दोहों के लिए है। ये उसी तरह शताब्दियों से हिंदी-भाषियों की जुबान पर रहते चले आए हैं जिस तरह गोस्वामी तुलसीदास के दोहों और चौपाइयों की पंक्तियाँ। इस लोकप्रियता का कारण महत्त्वपूर्ण है। वह यह है कि उपदेश देने

केसव केसनि अस करी, बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृग लोचनी 'बाबा' कहि-कहि जाहिं॥

केशवदास के ग्रन्थों में (१) कविप्रिया, (२) रसिकप्रिया, (३) रामचंद्रिका, (४) वीर सिंह चरित, (५) विज्ञानगीता, (६) रतन बावनी और (७) जहाँगीर-जस चंद्रिका, ये सात प्रसिद्ध एवं प्रामाणिक हैं। इनके अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थों का उल्लेख लाला भगवान दीन ने किया है और इधर नागरी-प्रचारिणी सभा काशी की खोज-रिपोर्ट में दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है। किन्तु इनकी प्रामाणिकता में अभी संदेह है।

'कविप्रिया' अलंकारों पर लिखी पुस्तक है और 'रसिकप्रिया' रसों पर। 'रामचंद्रिका' रामकथा पर आधृत प्रबंधकाव्य है और 'वीरसिंह चरित', 'रतन बावनी' एवं 'जहाँगीर-जसचंद्रिका' प्रशस्ति-काव्य हैं। 'विज्ञान-गीता' का स्थान सबसे अलग है। यह संतवाणी-पद्धति पर रची रचना है। कहा जाता है कि तुलसीदास ने जब इन्हें प्राकृत कवि कहा तो इन्होंने एकही रात में 'रामचंद्रिका' लिख डाली और इस प्रकार अपने को प्राकृत-जन गुण-गायक के अतिरिक्त भक्त कवि प्रमाणित करना चाहा। इसी अर्थ में हम उनकी 'विज्ञान-गीता' को समझ सकते हैं।

केशवदास का हिंदी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। ये हिंदी काव्य में रीति-परम्परा के प्रतिष्ठापक हैं। यों यदि शृङ्गार रीति-काव्य का आधार है तब तो हिंदी में उसका आरंभ वीरगाथा-काल से ही मानना होगा क्योंकि उन वीर-काव्यों में शृङ्गार की मात्रा पर्याप्त है। नायिकाभेद का स्पष्ट प्रमाण विद्यापति के काव्य में मिलता है। उसमें दूती का भी स्थान है। इसी दूती-रूप में सूर की अनेक गोपियाँ आती हैं। नंददास ने 'रसमंजरी' जैसी पुस्तक नायिका-भेद बताने के लिए लिखी थी। केशव के पहले कृपाराम कुछ रस-निरूपण कर चुके थे और करनेस कवि अलंकार-संबंधी तीन ग्रंथ भी लिख चुके थे। पर इतना होते हुए भी

केशवदास ही रीति-परंपरा के प्रवर्त्तक माने जायेंगे क्योंकि इनके पहले की रचनाएँ छिट-पुट और अपूर्ण थीं। इन्होंने ही पहली बार काव्यांगों का पूरा परिचय देकर साहित्य शास्त्र लिखने की परंपरा का आरंभ किया। इन्होंने 'रसिकप्रिया' में रचना की नयी रूढ़ि का विधान किया। फिर भक्ति-काल के कविका लक्ष्य था ईश गुणगान। केशवदास ने भक्तिकाल में जन्म लेकर काव्य की ईश्वरोन्मुख धारा को प्राकृतजन-गुणगान की ओर प्रेरित किया और काव्य-चमत्कार को ही अपना लक्ष्य बनाया। इन दृष्टियों से केशवदास ही रीति परंपरा के विधाता कहे जाएँगे। केशव हिंदी के प्रथम आचार्य-कवि हैं।

किंतु केशव की महत्ता रीतिकाव्य के आरम्भकर्त्ता के रूप में ही मानी जाएगी क्योंकि न वे सिद्ध कवि हैं और न पहुँचे हुए आचार्य। केशव की 'रामचंद्रिका' प्रबंध काव्य के रूप में एक असफल रचना है क्योंकि उसमें न तो प्रबंधकल्पना ही काव्योपयोगी है और न उसमें पात्रों का उचित संबंध-निर्वाह ही हो सका है। केशव अलंकारों में विश्वास करनेवाले चमत्कारवादी कवि थे इनका सिद्धांत था कि—

जदपि सुजात सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त॥

इसलिए उनके काव्य में अलंकारों का स्थान सर्वोपरि है, अनुभूतियों का नहीं जिसमें रंग कर कवि की कल्पना सत्य-रूप में अमर होती है। अनुभूति-विहीन होने के कारण केशव की कविता स्पर्शी नहीं हो पायी है। अधिकांश स्थलों में तो केशव का काव्य अलंकारों की कसरत भर है और अलंकारों की दलदल में भाव निष्प्राण हो गए हैं। अकारण पेचीदगी के कारण उनके काव्य की संगति बैठाने में बड़ी कठिनाई होती है। अतः उचित ही उन्हें कठिन काव्य का प्रेत कहा गया है। पर लगता है कि इनके चमत्कारवादी काव्य ने अपनी नवीनता से तत्कालीन साहित्यिक

समाज को प्रभावित किया है। तभी तो इन्हें हिंदी की बृहत्त्रयी में स्थान दिया गया और कहा गया कि—

सूर सूर तुलसी ससि उड़गन केसवदास।

लेकिन एक बात है। केशव में व्यंगकाव्य रचने की प्रतिभा थी और उसके अनुरूप उनमें वाग्वैदग्ध्य भी था। उनके काव्य के कुछ स्थल जैसे रावण-अंगद-संवाद आदि इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं। खेद है कि केशवदास की प्रतिभा का उपयोग इस क्षेत्र में उतना न हो सका।

केशवदास में मौलिकता के प्रदर्शन का एक विचित्र मोह था। चाहे कविता हो या अलंकार-निरूपण वे नवीन उद्भावनाओं के लिए स्थान ढूँढ़ लेते थे। लेकिन वे यहाँ अभागे रहे। अलंकारों के क्षेत्र में संस्कृत के कवियों ने इतना विस्तृत विवेचन किया था कि उसमें केशव की उद्भावनाएँ जूठन भर होकर रह गईं। इसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में उन्होंने रामकाव्य के उन स्थलों में मौलिकता लानी चाही जो अमर कवियों के स्पर्श से चूडांत हो चुकी थीं। फल यह हुआ कि केशवदास का चमत्कार कृत्रिम होकर रह गया।

फिर भी केशव का हिंदी काव्य में ऐतिहासिक महत्व है। अलंकार के क्षेत्र में चमत्कार दिखाने वाले वे प्रथम कवि हुए। कविता के लिए कविता रचने वालों के वे अंगुआ थे। रीतिकाव्य के प्रणेताओं को यदि रसवादी और अलंकारवादी कोटियों में विभक्त करें तो जहाँ मतिराम, देव रसलीन, आदि रसवादी होंगे और केशव आदि अलंकारवादी। दूसरे शब्दों में संस्कृत में जो कोटि भामह, उद्भट और रुद्रट की है वही हिंदी में केशवदास की है।

रसखान

रसखान हिन्दी के उन प्रमुख कवियों में एक हैं जिन्हें हिन्दी-संसार केवल उपनाम से जानता है। रसखान इनका उपनाम था। इनका वास्तविक नाम क्या था यह अभी तक निर्विवाद रूप से ज्ञात नहीं हुआ है। कुछ लोगों के अनुसार इनका असली नाम सैयद इब्राहीम था। किन्तु अधिकांश विद्वान् मानते हैं कि रसखान (या रसखानि) उपनामधारी दो कवि हो गये हैं—एक सैयद इब्राहीम पिहानीवाले और दूसरे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के प्रिय शिष्य सुजान रसखान। हमारे आलोच्य कवि दूसरे अर्थात् सुजान रसखान हैं और कवि-रूप में आपकी ही प्रसिद्धि अधिक हुई है। आपने अपने एक दोहे में दिल्ली के राजवंश से अपना संबंध बतलाया है। दोहा यह है—

देखि गदर, हित साहिबी दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-बंस की ठसक छाँड़ि रसखान॥

—'प्रेमवाटिका'

इस दोहे के आधार पर माना जाता है कि रसखान कवि दिल्ली के निवासी थे। आपका जन्म दिल्ली के तत्कालीन शाही खानदान में हुआ था। अतः आप पठान थे। आपकी ही चर्चा 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में हुई है, सैयद रसखान की नहीं।

आपका जन्म अनुमानतः सं० १६१५ में हुआ और मृत्यु सं० १६८५ में हुई।

रसखान एक रसिक व्यक्ति थे। इनके यौवन की अनेक प्रेम-कथाएँ प्रचलित हैं। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि आप एक

बनिये के खूबसूरत बेटे पर आशिक थे। उस वणिक-पुत्र से घड़ी भर के लिये अलग रहना भी रसखान के लिये कठिन था और उसकी जूठन खाया करते थे। एक दिन चार वैष्णव आपस में बात कर रहे थे कि भगवान् पर ऐसा प्रेम करना चाहिये जैसा बनिये के बेटे पर रसखान का है। संयोगवश उस रास्ते से जाते हुए रसखान ने उनकी बात सुन ली। इस बात का बड़ा प्रभाव उनके हृदय पर पड़ा। इसी बात ने उनके जीवन की समूची धारा बदल दी। उन्होंने उन वैष्णवों से पूछा कि भगवान् का रूप कैसा है? तब वैष्णव भक्तों ने उन्हें श्रीनाथजी का चित्र दिखाया। उस छवि को देखकर रसखान विह्वल हो गये। वणिक-पुत्र से उनका ध्यान हट गया। वे वहीं से श्रीनाथ जी का दर्शन करने को गोकुल चले गए। श्रीनाथ के दर्शन की उत्कट इच्छा थी, पर मुसलमान होकर श्रीनाथ के मंदिर में प्रवेश कैसे करें? एक उपाय सूझा। एक दिन वेश बदल कर श्रीनाथ जी के मन्दिर में जाने लगे। मगर एक पौरिए (दरवान) ने उन्हें पहचान लिया और अन्दर जाने से रोक दिया। कृष्ण-दर्शन के लिए व्याकुल रसखान तीन दिनों तक भूखे-प्यासे वहीं गोविन्दकुंड पर बैठे रह गए। तब गोसाईं विट्ठलनाथ के दर्शन हुए। विट्ठलनाथ जी इनकी अनन्य भक्ति और श्रीकृष्ण के प्रति इनकी सच्ची लगन देखकर बहुत प्रभावित हुए और हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव छोड़कर इन्हें अपना शिष्य बना लिया। शिष्य होने पर आप रसखान नाम से प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि रसखान श्रीनाथ जी (श्री कृष्ण) के प्रेम में इतने लीन हो गए थे कि भावावेश में आकर गोपाल के साथ गौ चरा चले जाते थे।

रसखान के संबंध में जो दूसरी प्रेम-कहानी प्रचलित है वह यह है कि रसखान एक स्त्री पर आसक्त थे। वह स्त्री जितनी सुन्दर थी उतनी ही अभिमानिनी भी। अपने रूप के गर्व में वह प्रायः इनके प्रेम की उपेक्षा और अनादर किया करती। एक दिन जब रसखान 'श्रीमद्भागवत का फारसी अनुवाद पढ़ रहे थे तब उसमें गोपियों के प्रेम-विरह का प्रसंग

आया। रसखान मन में सोचने लगे कि जिस नन्द के लाड़ले पर हजारों हसीन गोपियाँ जान देती थीं उसी रसिकराज घनश्याम से प्रेम क्यों न किया जाए ? बस उनके मन में उथल-पुथल हो गई। प्राणों में भक्ति का सागर उमड़ आया। रसखान भक्ति में मस्त हो गए। उन्होंने उस स्त्री को छोड़ दिया और वृन्दावन चले आए। बाद में विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली और रसखान नाम से प्रसिद्ध हुए। रसखान का एक दोहा उनके जीवन के इस प्रसंग की ओर संकेत करता है—

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेमदेव की छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥

—'प्रेमवाटिका'

गोस्वामी राधाचरणजी ने रसखान और उनके जीवन का निम्न-लिखित छप्पय में इस प्रकार उल्लेख किया है·—

दिल्ली नगर-निवास, बादसा-बंस-बिभाकर।
चित्र देखि मन हरो, भरो पन-प्रेम-सुधाकर॥
श्रीगोबर्द्धन आय जबै दरसन नहिं पाये।
टेढ़े-मेढ़े बचन-रचन निर्भय ह्वै गाये॥
तब आप आय सुमनाय करि सुश्रूषा महमान की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्रीनाथ-साथ रसखानकी॥

जो हो, पर इतना निश्चित है कि रसखान का आरम्भिक जीवन रस-रंग में और परवर्ती जीवन भक्ति-उपासना में बीता था। लौकिक प्रेम (इश्कमजाजी) से. वे अलौकिक-आध्यात्मिक प्रेम (इश्कहकीकी) की ओर आए थे।

रसखान बहुपठित व्यक्ति थे। आप फारसी के अच्छे ज्ञाता थे और श्रीमद्भागवत के फारसी अनुवाद का अच्छा अध्ययन किया था। विट्ठलनाथ जी से दीक्षित होने पर वे भक्तों और संतों के सम्पर्क में आए। इस सम्पर्क

में संस्कृत की जानकारी भी उन्हें हो गई। गोकुल में बस जाने के कारण ब्रजभाषा तो जैसे उनकी बाँदी हो गई थी। काव्य-शास्त्र और पिंगल का अध्ययन-अनुशीलन भी उन्होंने किया था।

रसखान हिन्दी के उन भाग्यवान् कवियों में हैं जो मात्रा में बहुत कम लिखकर भी अपनी अनन्य विश्वासमयी अनुभूतियों और निश्छल भाषा के कारण अमर प्रतिनिधि कवि हो गए हैं।

इनकी लिखी हुई दो ही पुस्तकें उपलब्ध हैं—१. प्रेम वाटिका और २. सुजान रसखान। ये दोनों भी छोटी-छोटी पुस्तकें हैं। 'प्रेम-वाटिका' में कुल ५२ दोहे हैं। इस पुस्तक में प्रेम और उसके भेदों का विवेचन हुआ है। 'सुजान रसखान' में कुल १२९ पद्य हैं जिनमें १० दोहे-सोरठे हैं और शेष सवैये-कवित्त हैं। यह ग्रन्थ प्रेमलक्षणा भक्ति का अद्भुत ग्रन्थ है।

रसखान गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा दीक्षित एक वैष्णव भक्त थे। रसखान के आराध्य श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण अवतारी व्यक्ति हैं। कृष्ण के उस निर्गुण ब्रह्म-रूप से रसखान परिचित हैं जिसे अनादि, अनंत, अखंड आदि कहा जाता है तथा जिसका भेद शेष, महेस, गणेश आदि भी नहीं पाते—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥

किन्तु कृष्ण के इस रूप पर रसखान नहीं रीझे हैं। वे जानते हैं कि अनादि-अनंत भगवान् ही कृष्ण के रूप में अवतार लेकर गोपियों के संग लीला कर रहे हैं। यह लीलामय कृष्ण ही रसखान के प्यारे हैं रसखान उस कृष्ण पर मुग्ध हैं जिसके सिर पर मोरपंख है, हाथ में लकुटी और कमर में पीताम्बर है। रसखान उस कृष्ण पर निछावर हैं जिसकी मुरली की तान गोपियों पर जादू कर गई—

कोऊ न काहु की कानि करै कछु चेटक सी जु कर्‌यो जदुरैया ॥
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाईगो प्रान चराइगो गैया ॥

रसखान उस कृष्ण पर अर्पित हैं जिसकी मुस्कान सँभालना असम्भव है—

माई री, वा मुख की मुसुकानि सँभारि न जैहै न जैहै न जैहै।

वस्तुतः जिसे पुराणों और वेदों की ब्रह्म-भावना में नहीं पाया उस आनन्दघन परमात्मा को रसखान ने राधा के कुंज में पाया है—

ब्रह्म में ढूँढ़यौ पुरानन-गानन बेद रिचा सुनि चौगुने गायन।
देख्यो सुन्यौ कबहूँ न कहूँ वह कैसे सरूप और कैसे सुभायन।
देख्यो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटतु राधिका पायन।

तात्पर्य यह कि रसखान सगुण वैष्णव भक्त हैं और उनकी भक्ति रूप-लीला के आकर्षण से भरी है।

श्रीकृष्ण के प्रति रसखान की भक्ति सखा-भाव की है। कृष्ण के प्रति उनकी बड़ी आत्मीयता है। प्रसिद्ध है कि भावावेश में वे गोपाल कृष्ण के संग गायें चराने जाते थे। इस अंतरंगता की कल्पना के कारण रसखान कृष्ण के प्रति बड़ी स्वतन्त्रता और प्रगल्भता रखते हैं। सखा-भाव रखने के कारण वे ढिठाई से कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करते हैं। उनका प्रसिद्ध पद्य है—

जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरंतर जाहि समाधि लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाँ भरी छाछ पै नाच नचावैं॥

अर्थात् योगी, संन्यासी और सिद्ध निरन्तर साधना कर के भी जिसे नहीं पाते उसे अहीर की गँवारिन लड़कियाँ छाछ पर नचा रही हैं।

उनका एक और प्रसिद्ध पद्य है जिसमें वे कहते हैं कि प्रभु को पुकारते-पुकारते मैं हार गया। किसी ने उनका पता नहीं बतलाया। पर जब आगे जाता हूँ तो देखता हूँ कि कृष्ण महाराज छिपकर एक एकान्त कुंज में राधारानी के पैर सहला रहे हैं—

टेरत हेरत हारि परयो रसखानि बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटतु राधिका-पायन॥

ऐसी ढिठाई अंतरंग सखा ही दिखला सकता है। रसखान की यह ढिठई और भक्ति की उन्मुक्तता उन्हें अन्य साम्प्रदायिक भक्त कवियों से अलग करती है। रसखान एक स्वतन्त्र भक्ति-मार्ग के कवि हैं, किसी सम्प्रदाय की लीक पीटने वाले नहीं।

रसखान में अपने आराध्य के प्रति जो ढिठाई और उन्मुक्तता है वह महज प्रमादवश नहीं है। वह भक्ति की उस सच्ची तन्मयता से आती है जिसमें भक्त स्वतः प्रगाढ़ आत्मीयता प्राप्त कर लेता है। इस आत्मीयता की प्राप्ति ही रसखान की भक्ति का लक्ष्य है। अपने आराध्य देव की लीलाभूमि में स्थान पाने के लिए यदि अगले जन्म में पशु, पक्षी या जड़ पत्थर भी होना पड़े तो रसखान को प्रसन्नता होगी—

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब के डारन॥

रसखान की भक्ति अचला भक्ति है। उनका राग कृष्ण में थिर हो गया है। रसखान ने आत्मसमर्पण किया है। कृष्ण के लिए वे दिल्ली की 'साहबी' छोड़कर फकीर हुए। यह मस्त फकीर कृष्ण की लकुटी और कम्बल पर त्रिलोक का राज्य निछावर कर देगा, गोपाल के संग गायें चराकर आठ सिद्धियों और नौ निधियों से प्राप्त आनन्द को भूल जाएगा और वृन्दावन के लीलापूत करील के कुंजों पर करोड़ों राजप्रासादों को अर्पित कर देगा—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नंद की गाय चराई बिसारौं।

इन आंखिन सों रसखान्न कबौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारों ।
कोटिकहूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥

ऐसी तन्मयासक्ति विरल होती है । रसखान का सम्पूर्ण अस्तित्व ही कृष्ण की ओर धावित है । मन, वाणी और कर्म, सभी कृष्ण से मिल जाने को आकुल हैं--

बैन वही, उनकौ गुन गाइ, औ कान वही, उन बैन सों सानी ।
हाथ वही, उन गात सरै, अरु पाइ वही जु वही अनुजानी ।
जान वही, उन प्रान के संग, औ मान वही जु करै मनमानी ।

रसखान ने अपना सब कुछ अर्पित करके ही कृष्ण की आत्मीयता पायी थी और राधा ने वह मान पाया था जो कृष्ण से मनमानी करा लेता था । मन की ऐसी ही तन्मय स्थिति और आवेग में रसखान कृष्ण की लीलाओं का उन्मुक्त वर्णन करते हैं ।

मुसलमान कवि रसखान की यह तन्मयासक्ति हिन्दू भक्तों में भी ढूँढ़ने से मिलेगी । आधुनिक हिन्दी साहित्य के पितामह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ऐसे ही मुसलमान भक्त कवियों को ध्यान में रखकर कहा था कि--

इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिन्दू वारिये ।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'अकबर' का एक शेर (पद) है--

इश्क को दिल में दे जगह 'अकबर' ।
अक्ल से शायरी नहीं आती ॥

यानी कविता के लिए दिल में प्रेम और दर्द का होना आवश्यक है । संवेदना के बिना कविता का आविर्भाव नहीं होता । बुद्धि से आचार्य बना जा सकता है, सुकवि नहीं । बुद्धि दिमाग की चीज है, कविता दिल की ।

कविवर रसखान ने प्रेम की खेती की थी । प्रेम उनके जीवन की पूँजी थी । प्रेम उनकी कविता का केन्द्र-विन्दु है । रसखान की जो

कविताएँ हमारे सामने हैं उन्हें उन्होंने जीवन के परवर्त्ती काल में लिखा था जब उनका प्रेम वासना को छोड़ ईश्वरोन्मुख हुआ था। इसलिये उस प्रेम में प्राणों का उद्वेलन है। प्रेम के दोनों पक्षों को उन्होंने देखा था। इसलिए प्रेम के भेदों का विवेचन करने में वे बड़े सफल हुए—

कमल तंतु सो छीन अरु कठिन खड़ग की धार।
अति सूधो, टेढ़ो बहुरि प्रेम पंथ अनिवार॥

रसखान का प्रेम रूपाश्रित है। यौवन में वणिक-पुत्र या रूपवती स्त्री पर आसक्त थे, बाद में कृष्णचन्द्र की छवि पर अनुरक्त हुए। स्वभावतः इनका रूप-वर्णन बड़ा आकर्षक हुआ है। खासकर इनके शब्द-चित्र बड़े साफ, सटीक और दृश्यमय (Picturesque) हुए हैं जैसे—

कानन कुंडल, मोर-पखा सिर, कंठ में माल विराजती है;
मुरली कर में, अधरा मुसुकानि तरंग महाछबि छाजती है।

इस पद में प्रत्येक विराम-चिह्न कृष्ण का एक-एक शब्द-चित्र उपस्थित करता है और प्रत्येक झाँकी कितनी साफ और पारदर्शी है? लगता है जैसे एक चित्रकार तूलिका की एक-एक लकीर से कृष्ण का कुंडल, मुकुट, माला, मुरली, मुस्कान, तरंग आदि बनाता जाता है और कुशल तूलिका (कूँची) से एक-एक स्पर्श से कृष्ण का चित्र उभड़ता जाता है।

रसखान को जीवन में वियोग का अवसर नहीं मिला। यौवन-काल तक वणिक-पुत्र का संयोग रहा और बाद में कृष्ण कन्हैया का। अतः यदि उनके काव्य में संयोग-चित्रण की प्रधानता है तो सर्वथा उचित ही है। रसखान की तरह लौकिक प्रेम से आध्यात्मिक प्रेम की ओर आनेवाले किन्तु जीवन भर विरह का गीत गानेवाले कवि घनानन्द रसखान के लगभग १०० वर्ष बाद पैदा हुए। संयोग-वर्णन की मार्मिकता में रसखान बेजोड़ हैं। एक साथ रहने और खेलने-खाने के कारण कृष्ण और गोपियों

के बीच जो स्वाभाविक बालसुलभ स्नेह उत्पन्न हुआ था वही आगे चलकर प्रेम में परिणत हो गया। दोनों ही इस बात का अनुभव करते हैं। पर किशोरी गोपियों में अभी कुछ झिझक है। इस झिझक का बड़ा सुन्दर और तलस्पर्शी वर्णन रसखान ने किया है। गोपियाँ कृष्ण की ओर बढ़ना भी चाहती हैं पर साथ ही लोक-लाज बचाना भी। एक गोपी सखियों के आग्रह से कृष्ण की नकल करती है। सिर पर मोरमुकुट रखती है, पीताम्बर भी ओढ़ लेती है, लकुटी भी रख लेती है किन्तु जब अधरों पर मुरली रखने की बात आती है तब शर्म से लाल होकर कहती है कि अरी, मैं सब कुछ करूँगी पर कृष्ण की जूठी बाँसुरी को अधरों पर न रखूँगी—

या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी।

जूठी बाँसुरी को ओठों से लगाने से जात न चली जाएगी? किशोरावस्था की यह झिझक रसखान ही चित्रित कर सके। पर इस अवस्था में रूप और वाणी का जादू भी खूब चलता है। और अन्ततः कृष्ण का जादू चल गया—

कोऊ न काहु की कानि करै, कछु चेटक सो जु कर्‌यो जदुरइया।
गाइगो तान जमाइगो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया॥

अब तो हाल यह है कि कृष्ण की मुस्कान के सामने सँभल कर रहना कठिन है—

माई री, वा मुख की मुसकानि सँभारि न जैहै न जैहै न जैहै।

कितनी रूमानी (romantic) बेबसी है ! संयोग का यह रस-भरा विकास रसिक भक्त रसखान के काव्य में ही हो सका।

यह तो हुआ रसखान के काव्य का भाव-पक्ष। विभाव-पक्ष में रसखान की विशेषता है सरल सरस अभिव्यक्ति। वैसे उनमें आलंकारिक चमत्कार भी है। खासकर इनका झुकाव अनुप्रास और यमक अलंकारों

की ओर है। अपने छंदों में संगीत एवं प्रवाह लाने के लिए वे अनुप्रास अलंकार का प्रयोग करते हैं और शब्दों में अर्थ का चमत्कार लाने के लिए यमक अलंकार का। जैसे, अनुप्रास—

१. कोटिकहूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।
('क' की आवृत्ति)

२. ताहि अहीर की छोहरियाँ छछियाँ भरि छाछ पै नाच नचावैं।
('छ' और 'न' की आवृत्ति)

यमक—

१. या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरान न धरौंगी।
२. त्यों रसखानि, वही रसखानि, जू है रसखानि सो है रसखानी।
('रसखानि' शब्द का अलग-अलग अर्थों में प्रयोग)

रसखान के काव्य में अनुप्रास तथा यमक अलंकारों का प्रयोग बड़ा चमत्कारपूर्ण हुआ है। वर्णन की स्वाभाविकता के साथ अनुप्रास के प्रवाह एवं यमक के चमत्कार ने उनके सवैयों को इतना टकसाली और रसपूर्ण कर दिया कि सवैये का दूसरा नाम ही रसखान पड़ गया था। उस समय यदि किसी को सवैया सुनने की इच्छा होती तो कहता कि भाई, एक-दो रसखान सुनाओ। हिन्दी में यदि महाकवि भूषण घनाक्षरी (कवित्त) के आचार्य हैं तो रसखान सवैयों के कलाकार हैं।

रसखान की भाषा साफ-सुथरी चलती ब्रजभाषा है। इनकी भाषा में किसी प्रकार की कृत्रिमता या आडम्बर नहीं है। पर इसमें माधुर्य गुण भरा पड़ा है। ब्रजभाषा की सरलता और सरसता को एक साथ उपस्थित करनेवाले कवि रसखान ही जैसे इने गिने हुए।

संक्षेप में भाव, भाषा और छंद सभी दृष्टियों से रसखान वस्तुतः रस की खान हैं।

▲

सेनापति

सेनापति ने अपने पितामह, पिता तथा गुरु का परिचय स्वयं ही इस छंद में प्रस्तुत कर दिया है:—

दीच्छित, परसुराम दादा हैं बिदित नाम,
जिन कीन्हें जज्ञ जाकी बिपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति अनूप जिन पाई है॥
महा जानमनि विद्यादान हूँ में चिंतामनि,
हीरामनि दीच्छित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कबि कान दै सुनत कविताई है॥

परशुराम के पौत्र, गंगाधर के पुत्र और हीरामणि के शिष्य, सेनापति अनूपशहर के निवासी और जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनका जन्म अनुमानतः लगभग संवत् १६४६ में हुआ था।

सेनापति के स्वरचित एक अन्य छंद से ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम सामंतों का प्रतिपालन भी उन्हें प्राप्त था, यद्यपि जीवन के अंतकाल में उन्हें इसके लिए परिताप ही था—

'पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए'।

सेनापति के कवित्तों का प्रसिद्ध संग्रह 'कविता-रत्नाकर' संभवतः संवत् १७०६ में रचित हुआ था। यही उनका सर्वोत्तम और अन्तिम ग्रंथ है, यद्यपि उनका 'काव्य-कल्पद्रुम' भी प्राचीन काव्य के प्रेमियों के बीच काफी प्रसिद्ध रहा है।

सेनापति ने अपने कवित्तों में बहुशः राम का नाम लिया है, यद्यपि कभी-कभी कृष्ण, वृंदावन आदि का भी स्मरण किया है। अतः स्पष्ट ही राम ही उनके आराध्य सिद्ध होते हैं। सेनापति के भक्ति-विषयक छंदों में गंभीर भावनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति ऐसे चमत्कारपूर्ण ढंग से हुई है कि उनमें से अनेक लोगों को कंठस्थ रहते आए हैं।

'आपने करम करि हौं ही निबहौंगो तौ तो,
हौं ही करतार करतार तुम काहे के।'

से समाप्त होने वाला इनका कवित्त तो बहुत ही लोकप्रिय रहा है।

सेनापति भक्ति से भी अधिक ऋतु-वर्णन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रीतिकालीन कवि हैं। हिंदी के प्राचीन कवियों में इस क्षेत्र में उनका समकक्ष अन्य कोई नहीं है। इस युग में एकमात्र सेनापति ने प्रकृति के प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण से अनुप्रेरित काव्य की रचना की है।

इस विशिष्टता के साथ ही साथ सेनापति में रीतिकालीन कवियों के सामान्य गुण बड़े ही परिष्कृत रूप में दीख पड़ते हैं। इस संबंध में उनकी कोमल-कांत पदावली, यमक-अनुप्रास, श्लेष आदि अलंकारों के चमत्कारपूर्ण प्रयोग और निखरी तथा मुहावरेदार भाषा का उल्लेख किया जा सकता है। सेनापति ने अलंकृत काव्य की रचना करते हुए भी सदैव सुरुचि और संतुलन का निर्वाह किया है, यह भी उनकी निजी विशेषता है।

▲

सुंदरदास

परमानंद और सती के पुत्र, दादूदयाल के प्रमुख शिष्य, प्रसिद्ध निर्गुण पंथी संत और सुकवि, सुंदरदास का जन्म संवत् १६५३ और निधन संवत् १७४६ में हुआ था। वे जाति के खंडेलवाल बनिया थे।

इनके माता-पिता जयपुर राज्य के द्यौसा नामक स्थान के निवासी थे।

जब ये छै वर्ष के शिशु थे तभी दादूदयाल जी द्यौसा पधारे थे और उसी अल्प वय में वे इनसे दीक्षित हो कर इनके साथ नराना में रहने लग गए थे। दादूदयालजी की मृत्यु संवत् १६३० में हुई। तदनंतर सुंदरदास अपने जन्म-स्थान द्यौसा लौट गए, किंतु कुछ समय के उपरांत वे काशी जा कर व्याकरण, वेदांत, पुराण आदि के विधिवत् अध्ययन में प्रवृत्त हुए और तीस वर्ष की अवस्था होने पर राजपूताने के शेखावाटी नामक स्थान में स्थायी रूप से रहने लगे। यहाँ रहते हुए उन्होंने निर्गुण-मार्गी संतों से तो प्रतिष्ठा प्राप्त की ही, साथ ही साथ स्थानीय नवाब अलिफखाँ के भी सम्मान-भाजन बने रहे।

सुंदरदास ब्रह्मचारी, उदाराशय और प्रियदर्शन व्यक्तित्व वाले मनुष्य थे। निर्गुणपंथी संतों में एकमात्र सुंदरदास ही काव्य-कला की दृष्टि से उल्लेख्य हैं, क्योंकि उन्होंने साहित्य तथा अन्य शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी और उनमें सहज कवि-प्रतिभा भी थी। उन्होंने अन्य संतों की तरह सधुक्कड़ी भाषा की बाणियाँ या पद न कह कर, अपने समय की परिष्कृत काव्य-भाषा, ब्रजभाषा, में अलंकार और छंदःशास्त्र की कसौटी पर खरी सिद्ध होने वाली कविताएँ लिखी हैं।

सुंदरदास की बहुसंख्यक स्फुट कृतियाँ उपलब्ध हैं, किंतु 'सुंदर-विलास' ही अधिक लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। इसमें संगृहीत कवित्त और सवैये उनकी विद्वत्ता और काव्य-कला के उत्कृष्ट दृष्टांत हैं।

सुंदरदास अन्य निर्गुणमार्गी संतों से केवल काव्य कला में निष्णात होने के कारण ही भिन्न नहीं हैं; उनकी यह भी महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि उन्होंने, शास्त्राध्ययन और जीवन के अनुभव से व्यापक दृष्टि और विविधतापूर्ण रुचि पाई थी, जिनके फलस्वरूप ही उन्होंने ज्ञान और भक्ति के प्रतिपादन के अतिरिक्त लोक-जीवन संबंधी प्रभावोत्पादक काव्य

की रचना में भी सफलता प्राप्त की है। उन्होंने सती नारियों, साहसी वीरों तथा नीति और विभिन्न स्थानों के आचार-व्यवहार पर भी ऐसे छंद लिखे हैं, जिनसे इनकी लोकाभिमुखता, कलात्मकता और विनोद-प्रियता का परिचय मिलता है।

▲

बिहारी लाल

बिहारी लाल के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहा प्रचलित है—

जनम ग्वालियर जानियै, खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर, मथुरा बसि ससुराल॥

अर्थात् कविवर बिहारी लाल का जन्म ग्वालियर (बसुआ-गोविंदपुर) में हुआ। उनका बचपन बुंदेलखंड में बीता और जवानी में वे मथुरा में, जहाँ उनकी ससुराल थी, बस गए। इनके पिता का नाम केशव राय था। केशव राय जी स्वयं कवि थे पर वे रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि केशव-दास से भिन्न थे।

बिहारी लाल जी के पिता तो कवि थे ही, बिहारी लाल की पत्नी भी सम्भवतः कवयित्री थी। ठाकुर कवि[1] ने तो यहाँ तक लिखा है कि 'सत-सई' के दोहे बिहारी लाल के नहीं बल्कि उनकी पत्नी के बनाए हुए हैं। सम्भव है कि कवि-परिवार की वधू होने के कारण उसकी प्रसिद्धि कव-यित्री के रूप में हो गई हो। मिश्रबंधुओं ने भी 'केशव-पुत्रवधू' कहकर एक कवयित्री का उल्लेख किया है।

बिहारी लाल का जन्म सं० १६५२ में हुआ था। आप माथुर चौबे

---

१. 'सत सैया-वर्णार्थ' नामक टीका-ग्रन्थ में।

थे। इनके जन्म के सात-आठ साल बाद इनके पिता ग्वालियर को छोड़कर ओड़छा आ गये। ओड़छे में विहारी लाल की सुप्रसिद्ध कवि केशवदास जी से भेंट हुई। यहीं उन्हें केशवदास जी के काव्यग्रंथों को पढ़ने और संस्कृत के अध्ययन करने का अवसर मिला।

कुछ दिनों के बाद ओड़छे के इन्द्रजीत को पूर्णतया विलास-निमग्न देखकर केशवदास जी ओड़छे को छोड़कर चले गये। तब विहारी लाल के पिता भी वृंदावन जाकर बस गये। यहीं विहारी लाल का विवाह मथुरा के एक माथुर ब्राह्मण परिवार में हुआ। विवाह के बाद आप ससुराल में ही रहने लगे।

एक बार शाहजहाँ महात्मा नरहरिदास के दर्शन करने के लिये वृन्दावन गये। नरहरिदास विहारी लाल के पिता के गुरु थे। उन्होंने विहारी लाल की कविता की प्रशंसा की। शाहजहाँ ने विहारी लाल की प्रशंसा सुनकर उन्हें आगरा बुला लिया। आगरे में विहारी लाल की भेंट अब्दुर्रहीम खानखाना (कविवर रहीम) से हुई। यहाँ उन्होंने उर्दू और फारसी का अच्छा ज्ञान हासिल किया। कहा जाता है रहीम की प्रशंसा में विहारी लाल ने एक दोहा लिखा था और उस पर प्रसन्न होकर रहीम ने उन्हें एक बड़ी रकम पुरस्कार-स्वरूप दी थी।

एक बार शाहजहाँ के दरबार में बहुत-से देशी नरेश आए थे। विहारी लाल ने उनके मनोरंजन के लिये कविता पढ़ी थी। तब सभी नरेशों ने प्रसन्न होकर विहारी लाल को वार्षिक पुरस्कार देना स्वीकार किया था। तभी से वे प्रतिवर्ष अपना पुरस्कार लेने विभिन्न देशी राज्यों में जाया करते थे।

एक बार अपनी वार्षिक वृत्ति लेने के लिये जब विहारी लाल जयसिंह के दरबार में पहुँचे तब मालूम हुआ कि महाराज नई रानी के रस-रंग में इतना लीन हो गये हैं कि राज्य का कोई काम ही नहीं देखते। बड़ी रानी अनंत कुमारी इससे बहुत चिंतित थी। विहारी लाल को

एक उपाय सूझा। उन्होंने निम्नलिखित दोहा लिखकर महाराज की सेवा में भेजा—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिन्ध्यौ आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने महाराज को जैसे चौंका दिया। उन्हें अपने कर्त्तव्य और राजकाज का ध्यान आ गया। वे कवि पर मुग्ध हो गए और तुरन्त बाहर आकर बिहारी लाल को पुरस्कृत किया। उन्होंने बिहारी लाल को अपने पास रख लिया और कहा कि इसी प्रकार के दोहे आप मुझे सुनाया करें और मैं आपको एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी दिया करूँगा। कवि ने शर्त्त मंजूर कर ली। महारानी अनंत कुमारी ने तो प्रसन्न होकर 'काली पहाड़ी' नामक गाँव ही कवि को दे दिया। महाराज और महारानी दोनों के कृपापात्र बन कर बिहारी लाल देखते-ही-देखते अमीर बन गये।

कहा जाता है कि बिहारी लाल के कोई सन्तान न थी और उन्होंने निरंजन नामक अपने भतीजे को अपना पुत्र माना था।

बिहारी लाल की मृत्यु सं० १७२० के लगभग हुई।

बिहारी लाल की कविताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि वे एक रसिक जीव थे। उनकी रुचि नागरिक थी, ग्रामीण नहीं। नागरिक जीवन में जो मादक विनोद-व्यंग हुआ करता था उसकी पर्याप्त मात्रा उनके स्वभाव में थी। ससुराल में वे बस तो गये थे पर उन्हें लगता था कि घर-जमाई होकर रहने से व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता नष्ट कर निस्तेज हो जाता है—

आवत जात न जानियत, तेजहि तजि सियरान।
घरहँ जँवाइ लौं घट्यो, खरो पूस-दिन-मान॥
बढ़त बढ़त संपति सलिल, मनसरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाय॥

रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि बिहारीलाल की केवल एक ही रचना उपलब्ध है और वह है 'सतसई'। जैसा नाम से स्पष्ट है, यह पुस्तक ७०० दोहों का संग्रह है। 'सतसई' की रचना बिहारी लाल ने महाराज जयसिंह के लिए की थी। बिहारी लाल ने निम्नलिखित दोहे में इसका संकेत किया है—

हुकुम पाय जयसाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद॥

बिहारी सतसई के दोहे क्रमबद्ध नहीं थे। कहा जाता है कि आजमशाह (औरंगजेब के पुत्र) ने पहले इन दोहों को विषय के अनुसार क्रमबद्ध कराया था। इसीलिए वह आज़मशाही क्रम के नाम से प्रसिद्ध है।

बिहारी सतसई रसिक जनों का कंठहार है। इसकी प्रसिद्धि इसी से जानी जा सकती है कि हिन्दी में तुलसीकृत रामचरित-मानस को छोड़ कर किसी अन्य ग्रन्थ की उतनी टीकाएँ नहीं लिखी गईं जितनी बिहारी सतसई की।

अंग्रेजी विश्वकोष (Encyclopaedia Britannica) में लिखा है कि सतसई' काव्य-कला की सर्वाधिक प्रतिष्ठित कृति है।[1]

बिहारी के काव्य के तीन विषय हैं--श्रृङ्गार, नीति और भक्ति। किन्तु मुख्यतः बिहारी रसराज (श्रृङ्गार रस जिसे आदिरस भी कहा जाता है) के कवि हैं। हिन्दी साहित्य में श्रृङ्गार' रस को अमरता का घूँट

---

1. The Satsai is perhaps the most celebrated work of poetic art, as distinguished from narrative and simpler styles. Each couplet is independent and complete in itself and is a triumph of skill in compression of language, felicity of description and rhetorical artifice.

पिलानेवाले कवि विहारी लाल ही हैं। विहारी ने अपनी कविताओं में श्रृङ्गार की जो रसधार बहाई है उसके समीप आते ही रसिक समाज़ को अपूर्व तृप्ति मिलती है। हिन्दी साहित्य में यदि सूरदास भक्ति-रस के, तुलसीदास शांत रस के और भूषण वीर रस के आचार्य हैं तो रसिक विहारी लाल श्रृङ्गार रस के रससिद्ध कवीश्वर हैं। रूप, स्वभाव, मनोविज्ञान, भंगिमा सबका वर्णन विहारी लाल ने इतना चित्रवत् किया है कि उनकी कला की बारीकी और सूझ पर मुग्ध रह जाना पड़ता है। उनके श्रृङ्गारिक दोहों में इतनी मादकता, चुटीला व्यंग और तीव्र रसानुभूति है कि उन्हें पढ़ते ही पाठक की कल्पना और जिज्ञासा तीव्रता की सीमा पर पहुँचकर रस-मग्न हो जाती है। नायिका के सौकुमार्य का एक वर्णन देखिए—

> भूषणभार सँभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार।
> सूधो पायँ न परत महि, सोभा ही के भार॥

सुन्दरी का शरीर इतना सुकुमार है कि गहनों का भार भी उससे सँभाला न जाएगा। अरे, उसके पाँव तो अपनी शोभा के भार से डगमगा रहे हैं! 'सूधो पायँ न परत महि' ('सीधे पाँव नहीं पड़ना' यानी 'ऐंठकर चलना') मुहावरे के प्रयोग ने कितना जादू किया है! सुन्दरी से जैसे कहा जा रहा हो कि गहनों के विना ही तो तुम प्रलय ढाती हुई ऐंठ कर चल रही हो, फिर यदि गहने पहन लोगी तो जाने क्या करोगी? सादगी और मादकता का यह संयोग विहारी लाल की कविताओं में ही मिलेगा। सुन्दरता, सौकुमार्य और व्यंग की यह त्रिवेणी विहारी लाल के श्रृङ्गारिक दोहों की अपनी विशेषता है।

सौकुमार्य-वर्णन की तरह ही रूप और शोभा-वर्णन भी अद्वितीय हुआ है। यहाँ भी विहारी लाल ने विलक्षण सूझ का परिचय दिया है। जरा नायिका की विन्दी और लट का वर्णन देखिए। गणित के विद्यार्थी जानते हैं कि किसी अङ्क के आगे शून्य लिख देने से उस अङ्क का मान

दसगुना बढ़ जाता है तथा बिकारी ( ) ऐसी टेढ़ी लकीर) अङ्क के पहले लगाने पर दमड़ी का सूचक है और अङ्क के बाद लगाने पर रुपये का। किन्तु स्त्री के ललाट पर एक बिन्दी (शून्य) लगाने पर उसकी शोभा कितनी बढ़ जाती है अथवा उसके मुख पर एक तिरछी लट के छूट पड़ने से क्या गजब हो जाता है इसका हिसाब केवल बिहारी लाल ही जानते हैं—

(१) कहत सबै बेंदी दिये, आँक दसगुनो होत।
तिय लिलार बेंदी दिये, अगनित होत उदोत ॥
(२) कुटिल अलक छुटि परत मुख बढ़िगौ इतौ उदोत।
बंक बिकारी देत ज्यों दाम रुपैया होत ॥

इन उद्धरणों में पैनी सूझ के साथ ही कितनी स्वाभाविक सरसता है ?

अवस्था-वर्णन में बिहारी का वयःसंधि-वर्णन (उस काल का वर्णन जिसमें बचपन समाप्त और यौवन आरंभ होता है) प्रसिद्ध है। उस काल में बचपन का अल्हड़पन भी रहता है और जवानी का तनाव भी। इन दोनोंके संयोग से स्त्री के अंगों का जो धूपछाँही रंग (ताफता या दुरंगी) होता है उसका वर्णन देखिए—

छुटी न सिसुता की झलक झलक्यौ जोबन अंग।
दीपति देह दुहूनु मिलि दिपति ताफता रंग ॥

बिहारी ने प्रेम के प्रत्येक हाव-भाव के वर्णन में कमाल किया है।

प्रेम का मनोविज्ञान अपनी असंगति और विचित्रता के लिए प्रसिद्ध है। प्रेम की दुनिया निराली होती है। प्रेम के सभी नियम निराले हैं। प्रेम की असंगतियों और विरोधों का बड़ा अनूठा वर्णन बिहारी लाल ने किया है। उनका प्रसिद्ध दोहा है—

दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥

साधारण दुनिया में जो चीज (रस्सी आदि) उलझती है वही टूटती है। जो टूटती है उसे ही जोड़ा जाता है। जहाँ जोड़ा जाता है वहीं गाँठ (गिरह) पड़ती है। लेकिन प्रेम में उलझती तो हैं आँखें, टूट जाते हैं परिवार के लोगों (माता-पिता आदि) के संबंध, जुटते हैं दो प्रेमियों के हृदय और गांठ पड़ती है दूसरों की सफलता न देख सकनेवाले दुर्जनों के मन में। वस्तुतः विधाता के नियम से प्रेम के नियम भिन्न हैं। बिहारी के इस दोहे में कितनो विदग्ध वास्तविकता है ? आँखों की देखादेखी होते ही दो व्यक्तियों का अपने-अपने परिवारों को छोड़कर एक नयी दुनिया बसाना, उस नयी दुनिया में दो अपरिचित हृदयों का एक होना और उस दुनिया को आबाद देखकर दुष्टों के दिलों पर साँप लोट जाना—यह सब कितना वास्तविक और फिर कितने मार्मिक ढंग से कहा गया है।

प्रेम की एक और विचित्र स्थिति का बिहारी लाल ने मार्मिक वर्णन किया है। प्रेम की दुनिया में संयोग में भी वियोग रहता है। लाज के मारे पूरा संयोग नहीं हो पाता और वियोग में उस संयोग के लिए मन व्याकुल रहता है—

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं॥

बिहारी ने संयोग और वियोग दोनों का वर्णन किया है और सफलता पायी है। किंतु कहीं-कहीं संयोग और वियोग के वर्णन अत्यंत अत्युक्तिपूर्ण होने के कारण अस्वाभाविक हो गए हैं। उदाहरण के लिए कहीं नायिका की कांति के कारण सदा पूर्णिमा रहती है और बिना पत्रा देखे तिथि का पता ही नहीं चलता —

पतरा ही तिथि पाइए वा घर कें चहुँ ओर।

कहीं विरहिणी के ऊपर गुलाब-जल से भरी शीशी उलट दी जाती है मगर विरह की गर्मी इतनी तीखी है कि सारा गुलाब-जल बीच ही में

सूख जाता है और उसका एक छींटा भी नायिका के शरीर पर नहीं पड़ता—

. आँधाई सीसी सुलखि बिरह बरनि बिललात।
बिचहिं सूखि गुलाब गौ छींटौ छुई न गात॥

कहीं विरहिणी इतनी दुर्बल हो गई है कि जब वह साँस लेती है तब छः-सात हाथ पीछे चली आती है और जब साँस छोड़ती है तब छः-सात हाथ आगे चली जाती है जैसे झूले में झूल रही हो।

इत आवत चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे-से रहै लगी उसासनु साथ॥

इसी वर्णन को देखकर शुक्ल जी ने कहा था कि नायिका क्या हुई, घड़ी का पेंडुलम हो गई।

नीति के दोहे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इन दोहों में जीवन की कठोर वास्तविकता पर बड़ी मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। ऐसा लगता है कि शृङ्गार के दोहे जहाँ राजाओं और आश्रयदाताओं के मनोविनोद के लिए लिखे गए हैं वहाँ नीति के दोहे वास्तविक जीवन में पैठकर लिखे गए हैं। इन दोहों में जिन्दगी के वे आनंद और विषादपूर्ण अनुभव व्यक्त हुए हैं जो कवि ने घूम-घूमकर पाये थे। एक ओर उन्होंने सज्जनों की वह मित्रता पाई थी जो कभी नहीं घटती—

चटक न छाँड़त घटतहूँ सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै रँग्यो चोल रँग चीर॥

ऐसे सज्जन ज्यों-ज्यों उन्नति करते जाते हैं त्यों-त्यों विनम्र होते जाते हैं—

नर की अरु नलनीर की गति एकै करि जोय।
जेतो नीचौ ह्वै चलै तेतो ऊँचौ होय॥

पर दूसरी ओर उन्होंने ससुराल में रहकर यह भी देखा था कि अधिक दिनों तक पहुनाई करने से मान घट जाता है। जयसिंह की

मृत्यु के बाद राज्य के लिए उनके उत्तराधिकारियों में होनेवाले झगड़े और इस कारण उपेक्षित-पीड़ित प्रजा को देखकर उन्होंने अनुभव किया था कि अधिक मालिकों के हो जाने से प्रजा को दुःख भोगना पड़ता है—

दुसह दुराज-प्रजान को, क्यों न बढ़ै दुखद्वंद।
अधिक अँधेरो जग करै, मिलि मावस रविचंद॥

कवि ने धन के नशे में चूर उन व्यक्तियों को देखा था और पाया था कि धन का नशा धतूरे के नशे से भी बढ़कर होता है—

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौरात नर यहि पाये बौराय॥

इस प्रकार ये नीति के दोहे अनुभव की खमीर से बने हैं। पर साथ ही कवि ने अपने काव्य-कौशल से इन्हें परम विश्वसनीय और काव्योपयोगी बना दिया है। जल से सज्जन की तुलना करके कवि ने सज्जन के स्वभाव को बड़ी खूबी से उदाहृत कर दिया है। इसी प्रकार दो राजाओं से उत्पन्न स्थिति को अमावस्या की पृष्ठभूमि में रखना, जबकि सूरज और चाँद के मिल जाने से घोर अँधेरा हो जाता है, बिहारी की कवि-बुद्धि (Poetic insight) का परिचायक है।

भक्ति के दोहे बिहारी ने जीवन के शेष-काल में लिखे होंगे। ऐसा लगता है कि अपने अभिभावक जयसिंह की मृत्यु के बाद बिहारी जैसे संसार से ऊब गए थे।

पर चाहे शृंगार के दोहे हों या नीति अथवा भक्ति के, बिहारी का कवित्व सर्वत्र अपना कौशल प्रदर्शित कर रहा है।

बिहारी की कविता की पहली विशेषता है कल्पना की समाहार-शक्ति (Co-relating faculty of imagination)। एक से एक बारीक सूझ बिहारी की कविता में मिलेगी। फिर खूबी यह है कि ये कल्पनाएँ सुश्रृंखलित रहती हैं। इसी शक्ति के कारण बिहारी ने

एक-एक दोहे में अपार अर्थ-गाम्भीर्य भर दिया है। 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे'--तुलसीदास की इस उक्ति को बिहारी ने ही चरितार्थ किया। गागर में सागर भरने का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण इसी कवि ने उपस्थित किया है। इस संबंध में बिहारी ने अपनी सतसई की आलोचना करते हुए ठीक ही कहा है कि--

सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन को छोटन लगैं, घाव करैं गंभीर ॥

संक्षिप्तता (Brevity) और सांकेतिकता के अतिरिक्त बिहारी की काव्य-कला की दूसरी विशेषता है वाग्वैदग्ध्य या कथन-चातुरी। बिहारी एक साधारण-सी लगनेवाली बात को भी इस खूबी से, इस शब्दावली में कहेंगे कि वह साधारण बात भी अपूर्व-असाधारण हो जाएगी। अच्छे गहने और अच्छे वस्त्र के अभाव में भी वस्तुतः सुंदर स्त्री सुंदर लगती है। यह एक साधारण बात है। मगर इसी को बिहारी इस खूबी से कहते हैं कि एक अपूर्व चमत्कार आ जाता है--

भूषण भार सँभारि है, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधो पायँ न परत महि, सोभा ही के भार ॥

बिहारी की तीसरी विशेषता है उपयुक्त शब्दों और मुहावरों की स्थापना। बिहारी की कविता के शब्दों को बदलकर यदि उनके पर्यायवाची अन्य शब्द रख दिए जाएँ तब सारा चमत्कार तो चौपट हो ही जाएगा। साथ ही अर्थ का अनर्थ भी हो जाएगा।

लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मनि-मूल-कपोल।

यहाँ 'श्रुति' आदि शब्द बदले नहीं जा सकते। बिहारी की कविता में प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट चित्र, ध्वनि और अर्थ रखता है। निम्न-लिखित दोहे में देखिए, प्रत्येक शब्द एक शब्द-चित्र (Pen-picture) दे रहा है और लगता है कि आँखों के सामने तस्वीरों की एक रील चल रही है—

भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहत, घरी लौं नैन।
ज्यों-ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति नचावति नैन॥

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में प्रत्येक शब्द ऐसी ध्वनि (Sound) लिए हुए है कि उच्चारण से वस्तु का बोध हो जाता है—

रनित भृंग घंटावली झरत दान मधु नीर।
मंद मंद आवत चल्यो कुंजर कुंज समीर॥

बिहारी की चौथी विशेषता है श्लिष्ट शब्दों (अनेकार्थी शब्दों) का प्रयोग। जो कवि थोड़े शब्दों में चमत्कारपूर्ण ढंग से विशाल अर्थ भरना चाहेगा वह अनेकार्थी शब्दों का प्रयोग करेगा ही। स्वभावतः जहाँ बिहारी अनुप्रास के द्वारा काव्य में विषय के अनुरूप नाद (Sound) भरते हैं वहाँ श्लेष के द्वारा अर्थ-चमत्कार।

गुनी गुनी सब कोउ कहत निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते अर्क समान उदोत॥

इन अनेकार्थी शब्दों के कारण बिहारी के काव्य में अर्थ का ऐसा गांभीर्य्य और विस्तार आया है कि आलोचकों ने इन्हें अक्षर कामधेनु कहा है।[1]

बिहारी की भाषा साहित्यिक एवं मुहावरेदार ब्रजभाषा है। उसमें अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते हैं।

बिहारी की कविता हिंदी कविता-कामिनी के ललाट की बिंदी है।

---

1. Bihari's poems have been dealt with by innumerable commentators. Its difficulty and ingenuity are so great that it is called a veritable Aksara Kamdhenu,—Grierson.

चिंतामणि

चिंतामणि कानपुर के समीपस्थ तिकवाँपुर के निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे, जिनके अन्य तीनों पुत्र भूषण, मतिराम और जटाशंकर भी चिंतामणि की तरह ही हिन्दी के यशस्वी कवि हुए हैं। चिंतामणि का जन्म अनुमानतः संवत् १६६६ और रचना-काल संवत् १७०० है। चिंतामणि ने 'कविकुल कल्पतरु' की रचना संवत् १७०७ में की थी। शिवसिंह-सरोज में दिए विवरण से ज्ञात होता है कि कि वे कभी कभी अपनी रचनाओं में अपना एक दूसरा नाम 'मणिमाल' प्रयुक्त करते थे।

प्राचीन कवियों के सुलभ वृत्तों के अनुसार इन्हें नागपुर के सूर्यवंशी भोंसला मकरंदशाह, बाबू रुद्रसाहि सोलंकी, शाहजहाँ बादशाह और जैनदीं अहमद का प्रतिपालन प्राप्त था या उनसे समय-समय पर प्रचुर पुरस्कार मिले थे। 'सरोज' में उनके पाँच ग्रन्थों का उल्लेख है। ग्रन्थों के नाम हैं 'छंद विचार', 'काव्य विवेक', 'कविकुल कल्पतरु' और 'रामायण'। 'रामायण' कवित्त तथा अन्य विविध छंदों में रचित प्रशंसित काव्य है और छंदविचार पिंगल-विषयक विशद ग्रन्थ।

चिंतामणि ने अपने इन ग्रन्थों में सभी मुख्य काव्यांगों को सम्मिलित किया है और विशिष्ट भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा का परिचय दिया है। उन्होंने अवधी-भाषी होते हुए भी मधुर और परिष्कृत ब्रजभाषा में काव्य रचना की है।

▲

भूषण

अपने भाइयों चिंतामणि, मतिराम और जटाशंकर के समान ही भूषण भी हिन्दी के सुकवि थे। वास्तविकता तो यह है कि वे वीररस के रीतिकालीन ही क्या, समस्त प्राचीन हिन्दी कवियों में शीर्षस्थानीय हैं।

भूषण चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र के द्वारा 'कवि-भूषण' की पदवी से सम्मानित होने के बाद से भूषण नाम से इतने प्रसिद्ध हुए कि उनके मूल नाम का अब पता तक नहीं। भूषण संवत् १६७० में उत्पन्न हुए थे और ऐसी अनुश्रुति है, संवत् १७७२ में दिवगंत हुए थे।

यों तो वे अनेक राजाओं के दरबार में गए और यश तथा अर्थ अर्जित किया, किन्तु उन्हें शिवाजी और छत्रसाल के द्वारा उनके अनुरूप सम्मान मिला। कहते हैं कि शिवाजी ने उन्हें एक छंद पर कई लाख रुपये दिए थे और छत्रसाल ने उनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था। तभी तो गद्गद् भाव से उन्होंने कहा है—

'सिवा को बखानौं कि बखानौं छत्रसाल को।'

यद्यपि रीतिकाल में साहित्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण और शृङ्गार रस की प्रधानता थी। भूषण के शृङ्गार विषयक छंद तो प्रायः नहीं मिलते, किन्तु उन पर युग का प्रभाव इस रूप में पाया जाता है कि उन्होंने शिवराज-भूषण तक के छंद लक्षण-उदाहरण की रीति-कालीन परिपाटी के अनुसार रचे हैं। किन्तु आचार्य के रूप में भूषण को बहुत सफलता नहीं मिली है, क्योंकि स्पष्टतः उन्हें कवि-कर्म प्रिय था, आचार्यत्व तो उन्होंने कवि के युग-धर्म के नाते निभाया भर था।

रीतिकाल के अन्य कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं और प्रतिपालकों के अत्युक्तिपर्ण स्तवन किए हैं और उन्हीं की तरह एक हद तक,

भूषण ने भी शिवाजी अथवा छत्रसाल की शूरता का अतिरंजित वर्णन किया है किन्तु भूषण की यह विशेषता है कि उन्होंने पुरस्कार के अनुपात में अतिरंजन न कर युग-पुरुषों के व्यक्तित्व की असाधारणता के अनुरूप अतिरंजन किया है। यह तो आज के उदाराशय इतिहासकार भी मानते हैं कि तत्कालीन वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखते हुए शिवाजी छत्रसाल या प्रताप जैसे वीरों को सांप्रदायिक भावना से प्रेरित कहना उनके साथ अन्याय करना होगा, वे वस्तुतः राष्ट्रीयता का ही प्रतिनिधित्व करते थे। अतः भूषण के कवित्व के अतिरिक्त, बहुत दूर तक उनके चरित-नायकों को भी श्रेय है कि उन पर लिखी भूषण की कविता इतनी महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है।

भूषण के जो श्रेष्ठ छन्द हैं, वे ओजस्विता की दृष्टि से अपना सानी नहीं रखते, किन्तु उन्होंने बहुधा छंद के निर्वाह के लिये शब्दों को तोड़-मरोड़ दिया है और भाषा के साथ अन्य प्रकार की भी अवांछनीय स्वतंत्रता ली है। किन्तु भाषा-संबंधी ऐसी त्रुटियाँ जिन छन्दों में नहीं हैं या कम हैं, उनमें वीरता मूर्तिमती हो गई है।

▲

ध्रुवदास

ध्रुवदास जी कृष्ण-भक्तों में सम्मानित स्थान के अधिकारी हैं, किन्तु उनका जीवन-वृत्त अज्ञातप्राय है। उन्होंने 'वृन्दावन-सत' संवत् १६८६ में और 'सभा-मंडली' संवत् १६९८ में लिखी थी, जैसा कि इन ग्रन्थों में संकेतित तिथियों से अनुमेय है। इस आधार पर उनका जन्म संवत् १६५० के लगभग माना जा सकता है। उन्होंने अपनी एक अन्य पुस्तक 'भक्त-नामावली' में संवत् १६७५ तक के भक्तों का वर्णन किया है और

और इससे अनुमान किया जा सकता है कि वे संवत् १७४० तक जीवित रहे होंगे।

ध्रुवदास की प्रायः चालीस छोटी बड़ी कृतियों का उल्लेख प्राप्त होता है, किंतु इनमें कुछ तो मिलती ही नहीं और कुछ की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

ध्रुवदास जी ने स्वप्न में हित हरिवंश जी की शिष्यता ग्रहण की थी और उनका बहुत आदर करते थे। उन्होंने वृन्दावन में रहते हुये माधुर्य-भाव के बड़े ही हृदयग्राही काव्य की रचना की थी।

▲

घनानंद

हिन्दी काव्य की 'साक्षात् रसमूर्ति' कविवर घनानंद का जन्म[1] सं० १७४६ के आसपास और मृत्यु सं० १७९६ में हुई। आप दिल्ली के रहने वाले[2], जाति के भटनागर कायस्थ, दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीर मुंशी एवं फारसी के अच्छे जानकार थे।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल जी को यही काल-सीमा मान्य है। 'शिव सिंह सरोज' में इनका काल सं० १७१५ है। इसी के आधार पर लाला भगवान दीन इनका जन्म सं० १७१५ और मृ० सं० १७९६ मानते हैं। पं० विश्वनाथ मिश्र के अनुसार 'सरोज' में आया हुआ काल अर्थात् सं० १७१५ कवि का रचनाकाल है न कि जन्म-काल। श्री शंभु प्रसाद बहुगुना ('घन-आनंद' के संपादक) के अनुमानानुसार इनका जं० सं० १६३० और मृ० सं० १६६० है।

२. पं० जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' के अनुसंधानानुसार घनानंद बुलंदशहर के रहनेवाले थे।

घनानंद के संबंध में अनेक जनश्रुतियाँ चलती हैं। एक जनश्रुति (जिसकी खोज करने एवं जिस पर सर्व प्रथम प्रकाश डालने का श्रेय लाला भगवान दीन को है) के अनुसार घनानंद अबुलफजल के शिष्य थे और 'किसी छोटे ओहदे से बढ़ते-चढ़ते ये बादशाह मुहम्मद शाह के खास कलम (प्राइवेट सेक्रेटरी) हो गये।' इन्हें रासलीला का बड़ा शौक था। दिल्ली में प्रायः रासलीला का आयोजन अपने खर्च से कराते और कभी कभी स्वयं भी उसमें भाग लेते थे। रासलीला ने इनके भीतर ऐसी भक्ति जगायी कि ये दरबार छोड़कर वृन्दावन चले गये और किसी साधु से दीक्षा लेकर भक्ति में लीन रहने लगे। रासलीला के व्याज से इन्हें पद-रचना और संगीत का व्यसन भी हो गया था।

दूसरी जनश्रुति बाद में प्रचलित हुई और आज घनानंद के प्रसंग में प्रायः सर्वत्र इसका उल्लेख होता है। इस जनश्रुति के अनुसार बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में सुजान नाम की एक वेश्या थी। उस पर इनका असीम प्रेम था। एक दिन कुछ चुगलखोरों ने बादशाह से घनानंद की संगीत-कुशलता की खूब प्रशंसा की। बादशाह ने घनानंद को गाने की आज्ञा दी लेकिन उन्होंने बहाना बनाकर टालमटोल कर दिया। कुचक्रियों को तो इसी मौके की खोज थी। अवसर मिलते ही उन्होंने बादशाह से कहा 'जहाँपनाह! मीरमुंशी साहब सुजान को छोड़कर और किसी के कहने से नहीं गा सकते।' तुरन्त सुजान को बुलाया गया और सच ही जब उसने घनानंद से गाने का आग्रह किया तो वे उसकी ओर मुँह और बादशाह की ओर पीठ करके इस तन्मयता से गाने लगे कि सारा दर-बार आत्म-विस्मृत हो गया। बादशाह घनानंद के संगीत पर तो बहुत खुश हुए। मगर बेअदबी के लिए उन्हें शहर से निकल जाने का हुक्म दिया। चलते समय उन्होंने सुजान से भी साथ चलने को कहा किन्तु वह इन्कार कर गई। इस घटना की ऐसी चोट पड़ी कि घनानंद वृन्दावन

जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय[1] के वैष्णव साधु हो गये।

तीसरी जनश्रुति घनानन्द की मृत्यु के संबंध में है। इसका हवाला सबसे पहले रीवाँ नरेश रघुराज सिंह (सं० १९३६) ने अपनी 'भक्त माला' में दिया। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं--

एक भक्त का पुनि कहौं, घनआनँद इतिहास।
घनआनँद है नाम जिन, सुनत हरत सब त्रास॥
मथुरा पुरी मलेच्छन घेरे। लाखों यमन खढ़े चहुँ फेरे।

घन आँनँद वंशीवट पाहीं। बैठे रहे भावना माहीं!

ते अवसर मलेच्छ तहँ आई। मारे खड्ग शीश मँह धाई॥

इस घटना को इस प्रकार से भी कहा जाता है सं० १७९६ में नादिरशाह के सिपाही लूटमार करते मथुरा पहुँचे। किसी ने उनसे कह दिया कि बादशाह का मीरमुंशी साधु के वेश में यहाँ रहता है। उसके पास बहुत धन है। बस, सिपाहियों ने घनानंद को घेरकर 'ज़र-ज़र-ज़र' (धन धन धन) चिल्लाना शुरू किया। घनानंद सब समझ गए। एक फक्कड़ की तरह उन्होंने धूल उठाई और 'रज रज रज' कहते हुए सिपाहियों की तरफ फेंक दी। तब सिपाहियों ने क्रुद्ध होकर इनका हाथ काट लिया और फल स्वरूप इनकी मृत्यु हो गयी।

वस्तुतः घनानंद के जीवन-वृत्त के संबंध में अब भी शोध की बहुत आवश्यकता है। 'भक्तमाला'--कर्त्ता रीवाँ नरेश रघुराज सिंह के शब्दों में--

---

१. पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र घनानंद के काव्य में परकीया-प्रेम की प्रधानता देखकर मानते हैं कि घनानंद के निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित न होकर माध्व-चैतन्य-सम्प्रदाय में दीक्षित होने की संभावना है।

घन आँनँद की कथा अनेका । ब्रज में विदित अहै सविवेका ।
जाहि सुनन को होय हुलासा । करैं सो जाय बिमल ब्रजवासा ॥

घनानंद की प्राप्त रचनाएँ हैं—सुजानसागर; घनानंद कवित्त, सुजान-हित, रसकेलिवल्ली, सुजान रागमाला, विरहलीला, कृपाकांड, इश्कलता, नेह सागर, प्रेमपत्रिका, प्रीतिपावस आदि । इनमें सर्वाधिक प्रमुख ग्रंथ है सुजानसागर ।

घनानंद ने पाठक वा आलोचक के व्याज से अपने कवि का परिचय स्वयं ही इस प्रकार दिया है—

नेही महा, ब्रजभाषा प्रवीन, औ सुंदरतानि के भेद कौं जानै ।
जोग वियोग की रीति मैं कोविद भावना भेद स्वरूप कौं ठानै ॥
चाह के रंग मैं भींज्यौ हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै ।
भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै सो 'घनजी' के कवित्त बखानै ॥

घनानंद महानेही, ब्रजभाषा-प्रवीण, सौंदर्य की बारीकियों के ज्ञाता, संयोग-वियोग की भावनाओं को स्वरूप देने में कुशल, प्रेम-डूबे हृदय से बिछुड़े प्रियतम का पथ हेरने की व्यथा वा आवेग रखनेवाले एवं भाव-भाषा में स्वच्छंदता के कायल हैं और इसीलिए उन्हें इन गुणों से युक्त अनुरागी आलोचक की अपेक्षा है ।

घनानंद तथा विद्यापति के संबंध में प्रायः यह प्रश्न उठाया जाता है कि ये भक्त थे या श्रृङ्गारिक और दोनों के संबंध में निरापद रूप से यही कहा जा सकता है कि इनकी कविता का केन्द्रीय भाव है प्रेम । प्रेम को हटाकर घनानंद के काव्य का रसास्वादन नहीं किया जा सकता । कवि के शब्दों में—

समुझै कविता घन आनँद की हिय आँखिन नेह की पीरतकी ।

कहा जा सकता है कि प्रेम तो रीतिकाल की सर्व प्रधान प्रवृत्ति थी । किन्तु ऐसा कहना अशुद्ध होगा क्योंकि जिन्हें रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि माना जाता है उनके काव्य के केन्द्र में आलंकारिक चमत्कार-भावना की

जिसे तत्कालीन दरबारी संस्कृति ने प्रश्रय दिया था, प्रेम वा नारी तो उस चमत्कारवाद की बाँदी थी। उस काल में प्रेम के उन्मत्त गायक घनानंद जैसे ही एकाधिक कवि थे। यही चीज घनानंद को रीतिकाल के सामान्य कवियों से अलग स्थान देती है। दूसरी चीज है स्वच्छंदता जो इन्हें उस काल के इन कवियों से भिन्न करती है। जहाँ उस काल के प्रमुख कवि राजाश्रय में रीति-पद्धति पर प्राकृत-जन-रंजन कर रहे थे वहाँ घनानंद भाव-स्वच्छंदता एवं रीति-मुक्तता लेकर रसमूर्त्ति बने थे। उन्होंने इस पार्थक्य की ओर स्वयं ही अपने अध्येताओं का ध्यान आकर्षित किया है—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत।

वस्तुतः घनानंद कलापक्ष-प्रधान रीतिकाल में भावपक्ष की अर्जना करनेवाले और परिणाम में भाव एवं भाषा का आयास मुक्त स्थापत्य उतार लाने वाले एक अभूतपूर्व कवि हैं। इस दृष्टि से रीतिकाल में उनका स्थान कोई दूसरा नहीं ले सकता।

बिहारी आदि जहाँ चित्रवादी हैं वहाँ घनानंद प्रभाववादी (Impressionist)। कृष्ण के नखशिख का वर्णन बिहारी बड़े मनोयोग से करते हैं पर घनानंद का ध्यान अन्तर की रूप-माधुरी में तन्मय है। इस प्रकार यद्यपि घनानंद रीतिकाल में पैदा हुए किंतु उनकी आत्मनिष्ठ चेतना उन्हें भक्तिकाल के निकट ला रखती है।

इसका यह मतलब नहीं कि घनानंद में प्रकृति के वाह्य-स्वरूप की सटीकता का अभाव है। कहीं-कहीं तो बाह्य-प्रकृति का ऐसा चित्रवत् मौलिक चित्रण हुआ है कि उनकी पंक्तियाँ अपने प्रसंग में चिरस्मरणीय हो गई हैं। यमुना का एक चित्र देखिए—

जुग कूल सरस सलाका दीठि परत हीं,
अंजन सिंगाररूप अवरेखवेई है।

पर घनानंद का महत्त्व प्रेम की आंतरिक व्यंजना में ही सर्वाधिक है। भावावेग, प्रेम-तन्मयता एवं स्वच्छंदता की दृष्टि से वे अपने से लगभग एक शताब्दी पहले के कवि रसखान के निकट पड़ते हैं। दोनों के जीवन में भी एक अपूर्व साम्य है। दोनों भक्त होने के पहले व्यसनी थे। दोनों लौकिक प्रेम से अलौकिक प्रेम की ओर आए। किंतु दोनों में एक मौलिक अन्तर था। रसखान के जीवन में विरह की कोई घड़ी नहीं आई। वणिक् पुत्र से प्रेम करने के अनन्तर उन्होंने स्वयं ही एक ज्योतित घड़ी में कृष्ण पर आत्म-समर्पण किया। घनानंद की सुजान ने विश्वासघात किया। प्रतिक्रिया-स्वरूप भक्ति जगी। पर उस विश्वासघात में परिस्थिति-जन्य बेबसी भी हो सकती है। ऐसी ही चिंता के कछार पर घनानंद जीवन पर्यंत अश्रुसिक्त रहे। फलस्वरूप जहाँ रसखान में प्रेम के संयोग-पक्ष की प्रधानता है वहाँ घनानंद में वियोग-पक्ष की। फिर रसखान की दृष्टि में प्रेम एक कठिन कर्म है—

कमलतंतु सो छीन, अरु कठिन खड्ग की धार।

लेकिन चिरविरही घनानंद के अनुभव में प्रेम का मार्ग सीधा है, उसमें जरा भी बाँकपन नहीं है—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।

प्रेम के इस सरलपन से घनानंद का तात्पर्य सम्भवतः प्रेमी हृदय की साधना से है क्योंकि उन्होंने जिस प्रेम-यातना का चित्रण किया है वह मीराँ की तरह समस्यामूलक है—

भए कागद की नाव उपाव सबै 'घन-आनँद' नेह नदी गहरै।

अथवा

जीव की बात जनाइए क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौ।

घनानंद की प्रेम-यातना की समस्या यह है कि प्रियतम 'अमोही' है लेकिन उसके बिना एक घड़ी एक कल्प के समान लगती है। एक ओर

इस बात का अनुभव है कि प्रियतम जानकर अनजान बना बैठा है और दूसरी ओर यह भी आशा है कि प्रतिदान का मादक क्षण शायद आ जाए। यह एक विचित्र अवस्था है और इस परिस्थिति के एकमात्र चित्रक घनानंद हैं।

जहाँतक भाषा का संबंध है घनानंद की भाषा की विशेषताएँ हैं— लाक्षणिकता, माधुर्य और शुद्धता। रसखान की भाषा में जहाँ अभिधा की सादगी है वहाँ घनानंद की भाषा में लाक्षणिक व्यंजकता की आयासमुक्त माधुरी। घनानंद ब्रजभाषा को एक सर्वथा मौलिक व्यंजना की बीथी से ले चले थे। इसका सर्वाधिक उत्कृष्ट उदाहरण है—

मो-से अन पहिचान कों, पहिचानें हरि कौन।
कृपा कान मधि नैन ज्यों, त्यों पुकार मधि मौन॥

माधुर्य और शुद्धता तो सर्वत्र मिलेगी। कहीं कठोर शब्द-मैत्री या व्याख्या-स्खलन को ढूँढ़ लेना कठिन है।

वैसे कहीं-कहीं अनुप्रास या यमक का चमत्कार भी मिल जाता है जैसे—

१. कित तें यह बैरिनि बाँसुरिया, बिन बाजेई बाजिबोई-सी करै।
(अनुप्रास)

२. काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है।
(यमक)

पर इन पंक्तियों में दर्शनीय वस्तु है वह शुद्धता और सहज माधुरी जो ब्रजभाषा के तद्भव शब्दों से घनानंद की भाषा में आती है। इन्हीं गुणों के कारण रामचन्द्र शुक्ल को, जिन्होंने घनानंद को रीति-काल के फुटकल खाते में रखा, यह कहना पड़ा कि—

'प्रेम-मार्ग का एक ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।'

मतिराम

रीतिकाल के प्रमुख कवि मतिराम का जन्म संवत् १६७४ के लगभग हुआ था। वे चिंतामणि तथा भूषण के भाई थे। उनके द्वारा विरचित प्रसिद्ध 'ललित-ललाम' और 'रसराज' अलंकार-ग्रन्थ हैं। उन्होंने 'छंद-सार', 'साहित्यसार', 'लक्षण-श्रृंगार' और 'मतिराम-सतसई' नामक अन्य चार ग्रन्थों की भी रचना की है।

मतिराम का काव्य रसवत्ता अकृत्रिमता तथा प्रासादिकता की दृष्टि से अनुपम है। मतिराम के कवित्त-सवैये पद्माकर के इन छंदों के और उनके दोहे विहारी के दोहों के समकक्ष हैं।

मतिराम की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि वे एक साथ ही आचार्य और कवि हैं और दोनों रूपों में एक समान सफल।

▲

कुलपति मिश्र

आगरा-निवासी तथा माथुर चौबे परशुराम मिश्र के पुत्र और प्रसिद्ध कवि विहारी के भानजे, कुलपति मिश्र का जन्म अनुमानतः संवत् १६७७ में हुआ था उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस-रहस्य' संवत् १७२७ में तथा 'द्रोण-पर्व' संवत् १७२७ में, युक्तितरंगिणी संवत् १७४३ में और नखशिख एवं संग्रामसार १७२४ में निर्मित हुए थे। इस साक्ष्य पर उनका रचना-काल संवत् १७२४—१७४३ ई० निर्धारित करना अयुक्तिसंगत नहीं होगा।

कुलपति ने संस्कृत साहित्य-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया था। उनका 'रस-रहस्य' वस्तुतः 'काव्य-प्रकाश' का छायानुवाद ही है। चूँकि

ब्रजभाषा शास्त्रीय विवेचन के लिए विकसित भाषा नहीं थी इस कारण कुलपति को अपने उद्देश्य में पूरी सफलता नहीं मिल पाई, किन्तु अपनी ओर से उन्होंने यथेष्ट प्रयास अवश्य किया था जिसका सबसे बड़ा प्रमाण है कि उन्होंने पद्य को लक्षण-निरूपण के लिए अपर्याप्त पाकर इसके लिए गद्य का भी यत्र-तत्र सहारा लिया था।

'रस-रहस्य' के अन्य प्रकरणों में कुलपति ने न केवल विवेचन में ही, अपितु उदाहरणों में भी 'काव्य-प्रकाश' की ही अनुकृति की है, किन्तु अलंकार-प्रकरण में उन्होंने उदाहरण अधिकतर अपने आश्रयदाता महाराज जयसिंह की प्रशंसा में ही बनाये हैं।

कुलपति ब्रज-भाषा-भाषी प्रदेश के निवासी थे, अतः टकसाली ब्रज-भाषा में काव्य-रचना में वे सिद्ध थे, यद्यपि 'रस-रहस्य' में, चूँकि ग्रन्थ में संस्कृत के अनुसरण की चेष्टा है, भाषा में अस्पष्टता और क्लिष्टता आ गई है।

▲

बेनी

बेनी बंदीजन रीतिकालीन कवियों में अपने वैसे व्यंग्य-विनोदपूर्ण पद्यों के लिए प्रसिद्ध हैं, जिन्हें अंगरेजी में लैम्पू (Lampoor) कहते हैं। शुक्लजी ने उनके पद्यों को अँगरेजी के 'सैटायर' (Satiur) के समकक्ष माना है, किन्तु व्यंग्य के इस प्रकार में जो सदुद्देश्यता होती है उसका बेनी के व्यंग्य में सर्वथा अभाव है।

बेनी बंदीजन, जो समसामयिक और समनाम शृङ्गारिक कवि बेनी प्रवीन से भिन्न हैं, रायबरेली जिला के बैंती नामक स्थान के निवासी थे। उन्हें अवध के समकालीन वजीर महाराज टिकैतराय का प्रतिपालन प्राप्त था। इन्हीं के नाम पर बेनी ने 'टिकैतराय प्रकाश' नामक अलंकार-

ग्रन्थ संवत् १८४६ में लिखा था। उन्होंने अपना दूसरा ग्रन्थ 'रसविलास' संवत् १८७४ में लिखा था, जिसका विषय भी पहले ग्रन्थ की तरह ही शीर्षक से स्पष्ट है। बेनी अपने इन ग्रन्थों के लिए विशेष श्रेय नहीं प्राप्त कर सके, किन्तु उनके व्यंग्यात्मक पद्य बड़े लोकप्रिय सिद्ध हुए।

बेनी जिस युग में उत्पन्न हुए थे उसकी रुचि सामान्य रूप से विकृत हो चुकी थी। क्या श्रृङ्गार और क्या हास्य सभी विषय के काव्य निम्नाभिमुख हो रहे थे। उर्दू में जैसे उस युग में 'हजो', अर्थात् व्यंग्य-निन्दात्मक पद्य, लोकप्रिय थे, उसी प्रकार के पद्य लिखने में बेनी भी प्रवीण थे। कहीं किसी ने पुरस्कार देने में कृपणता की या किसी से प्रतिस्पर्धा हुई और बस पद्य का कशाघात हुआ। उदाहरण के लिए बेनी को किसी ने रजाई दी जो उन्हें पसन्द नहीं आई, या किसी ने ऐसे आम दिए जो सुस्वादु नहीं रहे होंगे, और बेनी ने उन्हें सदा के लिए उपहासास्पद बना दिया। बेनी ने लखनऊ के किसी ललकदास महंत का भी बहुत मखौल किया है और स्पष्टतः व्यक्तिगत द्वेष के कारण। हाँ 'गीच है कसूल पै न कीच लखनऊ की' वाले उनके पद्य में ऐसी निर्वैयक्तिक निन्दा है जिसके कारण हम उसे 'सैटायर' का दृष्टांत मान सकते हैं।

▲

तोष

तोष, जिनका पूरा नाम था तोपनिधि इलाहाबाद जिला के सिंगरौर नामक स्थान के निवासी चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इनके जन्म-मरण का समय तथा जीवन संबंधी विवरण अज्ञात हैं। इनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हैं—'सुधानिधि', 'विनयशतक' और 'नखशिख'। इनमें प्रथम का रचना-काल है संवत् १७६१।

तोष ने आचार्य और कवि, दोनों के दायित्व का प्रशंसनीय

ढङ्ग से निर्वाह किया है। उनके द्वारा की गई काव्यांगों की परिभाषाएँ स्पष्ट हैं और उदाहरण काव्य-कला की कसौटी पर खरे खरे उतरते हैं। उनके भाव तो गूढ़ हैं, किन्तु अभिव्यक्ति में श्लाघ्य प्रासादिकता है। उन्होंने बिहारी जैसे अपने युग के अन्य कवियों की तरह बहुधा अति-रंजित वर्णन किए हैं, किन्तु अभिव्यंजना की विशदता से ऐसे वर्णन भी अग्राह्य नहीं सिद्ध होते।

▲

दूलह

दूलह की काव्य-प्रतिभा वंशानुगत थी। उनके पितामह कालिदास त्रिवेदी और पिता उदयनाथ कवींद्र दोनों ही कवि थे। दूलह का जन्म-मरण काल तो अनिश्चित है, किंतु उनके पिता के ग्रंथ संवत् १८०४ तक के प्राप्त हुए हैं। अतः ऐसा अनुमान करना युक्ति संगत होगा कि दूलह ने संवत् १८००—१८२५ तक काव्य-रचना की होगी।

दूलह की एक मात्र उपलब्ध पुस्तक 'कविकुल कंठाभरण' अलंकार-शास्त्र-विषयक हिंदी का प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ है। दूलह के स्फुट छंद भी प्राचीन संग्रहों में मिलते हैं।

दूलह के 'कविकुलकंठाभरण' की विशेषता यह है कि इसमें यद्यपि एक ही छंद में लक्ष्य-लक्षण दोनों का कथन है, तथापि वे सरस और स्पष्ट हैं। 'भाषा-भूषण' आदि ग्रन्थों में भी एक ही छन्द में लक्ष्य-लक्षण-कथन का प्रयास किया गया है, किंतु उनमें न तो लक्ष्य ही रसपूर्ण हैं, न लक्षण ही स्फुट। दूलह को अपेक्षाकृत अधिक सफलता इसलिए मिली है कि उन्होंने दोहे जैसे छोटे छन्द के बदले, जिसका प्रयोग 'भाषा-भूषण-कार' आदि ने किया है, कवित्त और सवैये जैसे बड़े छन्दों को इस काव्य

के लिये चुना है। यही कारण है कि दूलह का अपनी इस पुस्तक के संबंध में यह दावा—

'जो या कंठाभरण को, कंठ करै चितलाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

सर्वथा उचित है। इसे फिर भी आत्म-श्लाघा कह सकते हैं; किंतु उनके बारे में एक पुराने काव्य-मर्मज्ञ की यह उक्ति भी प्रसिद्ध है—

'और बराती सकल कवि, दूलह दूलहराय।'

देव

कविवर देव, जिनका पूरा नाम था देवदत्त, जाति के ब्राह्मण थे, किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह कहना कठिन है कि वे कौन ब्राह्मण थे। कुछ पंडितों का मत है कि वे सनाढ्य ब्राह्मण थे, और कुछ के अनुसार वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनकी जीवनी के पुनर्निर्माण के लिये जो बहुत थोड़ी सी सामग्री सुलभ है उसके आधार पर हम इस तथ्य के अतिरिक्त इतना ही और जानते हैं कि वे इटावा के रहने वाले थे और उनके पिता का नाम था पं० बिहारीलाल।

ऐसा विश्वास करने का आधार है कि उनका जन्म लगभग सं० १७३० में हुआ था। उनकी मृत्यु कब हुई, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। हाँ, उनके ग्रन्थों के रचना-काल के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे दीर्घायु थे, उनकी आयु नब्बे वर्ष से भी अधिक थी।

देव की कृतियों की संख्या और नाम के सम्बन्ध में भी अंतिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जनश्रुति यह है कि उन्होंने प्रायः अस्सी

ग्रंथों की रचना की थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पच्चीस ग्रन्थों के नामों का उल्लेख भी किया है। यहाँ उनके मुख्य ग्रन्थों का परिचय दिया जा रहा है। इनके बारे में यह उल्लेखनीय है कि एक ही ग्रन्थ के अनेक छन्द दूसरे ग्रन्थों में प्रसंगानुसार सन्निविष्ट कर दिए गए हैं। रीतिकाल के अन्यान्य कवियों के समान ही देव ने अपने विभिन्न ग्रंथों की रचना आश्रयदाताओं के नाम पर की है।

भाव-विलास' उनकी सर्व-प्रथम कृति है जिसकी रचना उन्होंने 'चढ़त सोरहीं वर्ष' की थी। यह औरङ्गजेब के काव्यानुरागी पुत्र और देव के प्रथम आश्रयदाता आजमशाह के लिए लिखा हुआ नायिका-भेद का ग्रंथ है। 'अष्टयाम' और 'भाव-विलास' इसी आश्रयदाता के प्रतिपालनकाल में लिखी कृतियाँ हैं।

धनी-मानी व्यक्तियों के आश्रय की अपेक्षा रखने के बावजूद देव स्वाभिमानी पुरुष थे। इसी कारण अनेक अन्य कवियों की तरह वे किसी एक आश्रयदाता के पास बने नहीं रह सके। आजमशाह के बाद कविवर ने अपने नवीन आश्रयदाता भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानी विलास' की रचना की। तदनन्तर उन्होंने कुशल सिंह के नाम पर 'कुशल विलास' और उद्योत सिंह के लिए 'प्रेम-चंद्रिका' लिखी।

इस प्रकार पर्यटन करने के सिलसिले में उन्होंने विभिन्न देशों और वहाँ के पुरुषों तथा स्त्रियों के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त किया उसके सहारे उन्होंने 'जाति-विलास' की रचना की, जिसमें विभिन्न-जातियों और विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है।

देव ने अपने जीवन के अन्तिम काल में राजा भोगीलाल और तत्-पश्चात् अकबर अली खाँ का आश्रय प्राप्त किया। उन्होंने पहले के लिए 'रस-विलास' और दूसरे के लिए 'सुख-सागर-तरंग' को प्रस्तुत किया। ग्रन्थ 'सुख-सागर-तरंग' वस्तुतः उनकी पिछली अनेक रचनाओं का संक-लन मात्र है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'प्रेम-चंद्रिका', 'प्रेम-पचीसी', 'शब्द-रसायन', 'प्रेम-तरंग' आदि भी उल्लेखनीय हैं।

देव रीतिकाल के प्रमुख कवियों में भी उच्च स्थान के अधिकारी हैं। हिन्दी के प्राचीन काव्य के कुछ प्रसिद्ध विद्वान् इस बात को लेकर बहुत दिनों तक वाद-विवाद करते रहे कि देव और बिहारी में श्रेष्ठ कौन है! मिश्रबंधुओं और पद्म सिंह शर्मा के बीच केन्द्रित हो जाने पर यह विवाद उस जमाने में कटु भी हो गया था, किन्तु आज उसका ऐतिहासिक महत्व हो गया है, क्यों कि मिश्रबंधुओं ने देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए, और पद्म सिंह शर्मा ने बिहारी को देव से उत्कृष्ट प्रमाणित करने के उद्देश्य से ऐसी तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखीं जिनका हिन्दी आलोचना के विकास में स्थान बन गया है।

यों तो देव ने भी रीतिकाल के अन्य कवियों की भाँति रस, अलंकार छंद आदि के लक्षण-उदाहरण, नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन आदि को ही अपना विषय रखा है, किन्तु उनकी अपनी विशेषता यह है कि 'उनका आधार-फलक (कैनवस) अवश्य ही बहुत विस्तृत है।" इस दृष्टि से डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मंतव्य युक्ति-संगत है कि "रीतिकाल के कम कवियों में इतना वैविध्य होगा।"

उन्होंने 'शब्द-रसायन' जैसे ग्रन्थ में रस, अलंकार, छंद आदि का साहित्य के आचार्य के अनुरूप पांडित्य के साथ विवेचन किया है। उन्होंने इस प्रकार संस्कृत के 'काव्य प्रकाश' के समान उच्च-कोटि के 'काव्य-शास्त्र', को हिन्दी में प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही साथ उन्होंने 'भाव-विलास', 'रस-भेद' और 'सुख सागर-तरंग' जैसे उत्कृष्ट नायिका-भेद के ग्रंथों की भी रचना की है, 'प्रेम-चंद्रिका' में प्रेम का क्रमबद्ध और सजीव वर्णन किया है, और 'राग-रत्नाकर' में राग-रागिनियों का विवेचन किया है। इन श्रृंगार प्रधान रचनाओं के अतिरिक्त 'ब्रह्मदर्शन-

पच्चीसी' और 'तत्त्व-दर्शन-पच्चीसी' में हम उनकी वैराग्य-भावना का परिचय भी पाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक वर्ण्य-विषय की विविधता का प्रश्न है, देव के विषय में उपर्युक्त मंतव्य सर्वथा सत्य है।

देव के काव्य की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे अपने छंदों में जो चित्र उपस्थित करते हैं, वे अपूर्ण और अस्पष्ट नहीं होते। इन चित्रों में "रेखाओं के सन्निवेश और रंगों की योजना की दृष्टि से देव की तुलना बहुत कम कवियों के साथ की जा सकती है।" कहने का तात्पर्य यह कि जैसे एक कुशल चित्रकार अपने चित्र में बड़ी सावधानी से रेखाओं का अंकन और रंगों का प्रयोग कर एक कलापूर्ण कृति तैयार करता है, उसी प्रकार देव शब्दों के सहारे हृदयग्राही चित्र निर्मित करने में सफल होते हैं। वे अपने चित्रों का आधार साधारणतः पवित्र गार्हस्थ्य प्रेम से लेते हैं और उनके निर्माण में एक सच्चे कलाकार की तरह विषय के प्रति अनासक्त बने रहते हैं, अमर्यादित भावुकता के प्रवाह में बह नहीं जाते।

उदाहरणस्वरूपः—

जब तें कुँवर कान्ह रावरी कलानिधान
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी।
तब ही ते 'देव' देखी देवता-सी हँसति-सी
खीझति-सी रीझति-सी रूसति-रिसानी-सी।
छोही-सी छली-सी छीनि-लीनी-सी छकी-सी छीन
जकी-सी चकी-सी लागी थकी थहरानी-सी।
बाँधी-सी बँधी-सी विष बड़ी-सी बिमोहित-सी
बैठी बाल बकति बिलोकति बिसानी सी॥

इस एक ही छन्द में देव विरहिणी की नाना दशाओं और चेष्टाओं का चित्रकारोचित सूक्ष्मता से अंकन करने का सफल प्रयास करते हैं।

देव के "सादृश्य-विधान में भी सरसता और ताजगी रहती है।" वे अपने कथन को उदाहृत और चमत्कारपूर्ण बनाने के उद्देश्य से जब अलंकारों का आयोजन करते हैं तो बहुधा नवीन उपमानों के द्वारा उपमेय, अथवा वर्ण्य वस्तु, की समानता व्यक्त करते हैं, जैसे—

वेगि ही बूड़ि गई पँखियां, अँखियां मधु की मखियां भई मेरी ॥

देव की सौंदर्य-भावना यदि एक ओर परंपरागत नख-शिख-वर्णन पर आधारित है, तो दूसरी तरफ उसके पीछे पर्यटन और जीवन के व्यापक अनुभव के प्रमाण भी मिलते हैं। जाति-विलास में उन्होंने निम्न जातियों की स्त्रियों के सौंदर्य का भी ऐसा वर्णन किया है जो आधुनिक काल के कवि पंत के द्वारा किए गए 'ग्राम्या के वर्णनों का पूर्वाभास प्रतीत होता है—यद्यपि दोनों कवियों के दृष्टिकोण और उद्देश्य में स्वभावतः बहुत अंतर है।

नायक-नायिका के सौंदर्य-वर्णन के साथ ही साथ देव ने प्रकृति के सौंदर्य का भी चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है, यद्यपि उस पर युग की मनोवृत्ति की स्पष्ट छाप है। कहने का तात्पर्य यह है कि देव भी साधारणतः अन्य समकालीन कवियों की तरह प्रकृति का वर्णन नायक-नायिका अर्थात् आलंबन, की मनोदशाओं को उत्तेजित करने वाली पृष्ठभूमि, अर्थात् उद्दीपन के रूप में ही करते हैं। किन्तु उनके अनेक छंदों में प्रकृति के अपने सुन्दर चित्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ वसंत का यह वर्णन प्रस्तुत किया जा सकता है:—

डारि द्रुम पालना बिछौना नव पल्लव के
सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावै 'देव'
कोयल हलावै हुलसावै करतारी दै॥
परत पराग सों उतारी करै राई नोन

कुंद कली नायिका लतान सिर सारी दै ।
मदन महीप जू को बालक बसंत ताहि
प्रात ही जगावत गुलाब चटकारी दै ॥

देव ने मुख्यतः कवित्त और सवैया, जैसे, दोहा की तुलना में बड़े, छंदों में ही अपने भावों को व्यक्त किया है । इसका यह परिणाम हुआ है कि बहुधा जो प्रभाव बिहारी बहुत थोड़े शब्दों में ही उपन्न करने में सफल हो जाते हैं, उसके लिए देव को अनावश्यक विस्तार का सहारा लेना पड़ता है । कविता में वाग्विदग्धता (wit) एक प्रशंसनीय गुण है । वाग्विदग्धता की आत्मा है संक्षिप्तता । इस दृष्टि से स्पष्टतः देव बिहारी की तुलना में हीन सिद्ध होते हैं । आचार्य हजारी प्रसाद जी ने ठीक ही कहा है कि 'देव की सब से बड़ी कमजोरी बड़े-बड़े छंदों में साधारण और सहज चित्रों के फैलाने की चेष्टा में व्यक्त होती है । छंदों के चुनाव में बिहारी और मतिराम देव से अधिक चतुर हैं ।'

यदि वाग्विदग्धता में बिहारी देव से श्रेष्ठ हैं, तो एक दूसरे रीतिकालीन कवि, मतिराम, 'भाषा के सहज प्रवाह' और भावों की प्रसाद-गुणपूर्ण अभिव्यंजना में उनसे उत्कृष्ट हैं । देव की भाषा में अनावश्यक क्लिष्टता, शब्दाडंबर और अप्रचलितत्व दोष पाए जाते हैं । उनके भावों में भी सद्यः प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता नहीं पाई जाती । उनके इन तथा कुछ अन्य दोषों को संक्षेप में, द्विवेदी जी के शब्दों में, यों निरूपित किया जा सकता है, कि "बिहारी की भाँति वे भी उक्ति-वैचित्र्य का मोह नहीं छोड़ पाते और अर्थभारहीन शब्दालंकारों के फेर में पड़ जाते हैं, परन्तु जब वे इन चक्करों से मुक्ति पा जाते हैं तो उनकी भाषा में गति आ जाती है और उनका विस्तृत ज्ञान वक्तव्य को अत्यन्त आकर्षक बना देता है ।"

बैताल

'सरोज'-कार के मतानुसार, बैताल संवत् १७३४ में उत्पन्न हुए थे। वे विक्रम साहि के दरबारी कवि थे और उन्होंने अपने इसी प्रतिपालक का संबोधन करते हुए छंद रचे थे। यदि इनके आश्रयदाता विक्रमसाहि और विक्रम सतसई के रचयिता, चरखारी वाले विक्रमसाहि एक ही हैं तो बैताल का समय संवत् १८३९ और १८८६ के मध्य माना जाएगा, न कि उतना पहले जितना 'शिवसिंह सरोज' में उल्लिखित है।

बैताल के थोड़े से स्फुट छन्द ही प्राप्त हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे नीति संबंधी काव्य की रचना में पटु थे। उन्होंने गिरधरराय के समान ही कुंडलिया छन्द में और सर्वथा अनलंकृत भाषा में आचार-व्यवहार तथा नीति संबंधी पद्य रचे हैं। इन पद्यों में विशेष काव्यात्मकता तो नहीं है किन्तु वे सहज भाव से शिक्षा देने के अपने लक्ष्य की प्राप्ति अवश्य करते हैं।

▲

वृंद

जोधपुर के मेड़ता नामक स्थान के निवासी वृन्द के संबंध में इतना ही ज्ञात है कि उन्होंने 'वृन्द-सतसई' नामक नीति-विषयक ग्रन्थ की रचना संवत् १७६१ में की थी, और अपने शिष्य कृष्णगढ़ के राजा, महाराज राजसिंह के साथ, औरंगजेब की सेना में संवत् १७६१ में ही, सम्भवतः ढाका गए थे। इनके वंशज आज भी कृष्णगढ़ में हैं।

सात सौ दोहों वाली उनकी सतसई तो बहुत ही प्रसिद्ध है; इसके अतिरिक्त उनकी दो अन्य कृतियाँ, 'शृङ्गार शिक्षा' और 'भावपंचाशिका', प्राप्त हुई हैं।

▲

(एक सौ उनसठ)

भिखारीदास

भिखारीदास ने अपना वंश-वृक्ष स्वयं ही प्रस्तुत किया है, जिससे अवगत होता है कि उनके वृद्ध प्रपितामह राय नरोत्तमदास, प्रपितामह राय रामदास, पितामह वीरभानु और पिता कृपालदास थे। भिखारीदास के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे। उनके पौत्र के कोई पुत्र नहीं था, अतः इन्हीं के साथ इस वंश की समाप्ति हो गई। भिखारीदास का परिवार जाति का कायस्थ और प्रतापगढ़ के समीपस्थ ट्योंगा ग्राम का निवासी था।

भिखारीदास ने संवत् १७८५ में कोषग्रंथ 'नामप्रकाश', संवत् १७९९ में 'रससारांश' और 'छन्दोर्णव पिंगल', संवत् १८०३ में 'काव्य-निर्णय', १८०७ में 'शृङ्गार-निर्णय' तथा प्रायः इसी समय दोहा-चौपाई में निबद्ध 'विष्णुपुराण', 'छंद प्रकाश', 'शतरंज शतिका' एवं अमरकोष का भाषानुवाद 'अमरप्रकाश' लिखा था। चूँकि ऐसा प्रतीत होता है कि भिखारीदास की कोई रचना १८०७ के बाद की नहीं है, अतः उनका रचना-काल संवत् १७८५–१८०७ निर्धारित किया जा सकता है। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि उनके आश्रयदाता हिन्दूपति सिंह के भाई पृथ्वीपतिसिंह जो प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा थे, संवत् १७९१ में सिंहासनारूढ़ और संवत् १८०७ में दिवंगत हुए थे।

रीतिकालीन प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने आचार्य का कार्य भी कभी-कभी गंभीरतापूर्वक और ज्यादातर चलने-चलाने का दिया है। भिखारी-दास प्रथम वर्ग में प्रमुख हैं। क्योंकि उन्होंने प्रायः समस्त काव्यांगों का सविस्तर तथा साधिकार विवेचन किया है। यह दूसरी बात है कि भिखारीदास को भी काव्य-शास्त्र विषयक किसी महत्त्वपूर्ण मौलिक उद्भावना का श्रेय नहीं दिया जा सकता। उदाहरणार्थ भिखारीदास ने संस्कृत साहित्य में परिगणित हावों के अतिरिक्त कुछ अन्य हावों का

उल्लेख किया है, किन्तु वे वस्तुतः प्राचीन साहित्य शास्त्र में वर्णित नायिकाओं के स्वभावज अट्टारह अलंकारों के अन्तिम आठ अलंकारों से भिन्न नहीं हैं। इसी प्रकार भिखारीदास ने यह कहा कि—

श्रीमानन के भौन में भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में गनैं सुकवि-सिरमौर॥

स्वकीया की परिभाषा व्यापकतर बनाई है, किन्तु आखिर यह कोई ऐसी विलक्षण देन नहीं मानी जा सकती।

अतः देव आदि जैसे अन्य रीतिकालीन कवि आचार्यों के सदृश ही भिखारी का आचार्यत्व भी सीमित महत्त्व का ही है, यद्यपि उन्होंने परिभाषा की दृष्टि से इस क्षेत्र में औरों से अधिक कार्य किया है। लक्षण-निरूपण के लिए विकसित और प्रौढ़ गद्य के अभाव में उन्होंने भी पद्य को ही इसके लिए माध्यम बनाया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक स्थलों पर लक्षण सदोष हो गये हैं और फलतः उनके उदाहरण भी निर्दोष नहीं हैं। उनके द्वारा निरूपित और उदाहृत उपादान लक्षणा इसका एक दृष्टांत है।

रीतिकाल में शृङ्गार-रस की प्रधानता थी और भिखारीदास ने भी देव आदि की तरह उसी पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। किन्तु उन्होंने देव की अपेक्षा मर्यादा का कुछ अधिक ध्यान रखा, जिसका प्रमाण यह है कि उन्होंने देव के 'जाति-विलास' में आलंबनरूप में वर्णित नाना जातियों की स्त्रियों को केवल दूतीत्व प्रदान कर संतोष कर लिया है।

जहाँ तक उदाहरणों का प्रश्न है, भिखारीदास ने मनोहर, सरस और परिमार्जित भाषा के व्यवहार के द्वारा, और सहज संवेद्य भावों को लेकर, प्रसादपूर्ण छन्दों की रचना की है। यदि उनमें देव जैसा कल्पना-विलास नहीं है, तो देव जैसी क्लिष्टता और अस्पष्टता के दोष भी नहीं हैं। उन्होंने साहित्य-शास्त्रीय-विवेचन और शृङ्गारिक छन्दों के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्यपूर्ण नीतिपूर्ण सूक्तियाँ भी लिखी हैं।

नागरीदास

यों तो नागरीदास नामधारी एकाधिक कृष्ण-भक्त कवि हुए हैं, किंतु उनमें प्रमुख हैं कृष्ण-गढ़ के महाराज सावंतसिंह। जिनका जन्म संवत् १७५६ में हुआ था और उपनाम था नागरीदास और जिनके पद इस संग्रह में संकलित हैं। विरक्त होने के पहले वे अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। कहते हैं, जब वे बारह वर्ष के किशोर ही थे तभी उन्होंने बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को तलवार के घाट उतार दिया था। उन्हें दिल्ली के समकालीन बादशाह ने उनके पिता महाराज राजसिंह के निधन पर कृष्णगढ़ का उत्तराधिकारी मनोनीत किया था, किन्तु जब वे अपने राज्य में पहुँचे तो अपने भाई बहादुरसिंह को गद्दी पर पाया। सावंतसिंह, अर्थात् बाद के नागरीदास जी को, बलपूर्वक अपना अधिकार प्राप्त करना पड़ा, जिसमें वे सफल तो हुए किंतु जिसके कारण ही उनमें विरक्ति भी जगी। उन्होंने बड़े क्लेश के साथ कहा है—

कहा भयो नृप हू भए, ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरि-भक्ति को, सफल सुखन को सार॥

वे संवत् १८१४ में अपने पुत्र सरदार सिंह को राज-पाट सौंपकर वृंदावन चले गए और वहीं मृत्यु पर्यंत रहे।

नागरीदास का पहला ग्रंथ 'मनोरथ-मंजरी' तथा कुछ अन्य ग्रन्थ भी उनके वृंदावन जाने के पहले ही, संवत् १७८० में, पूरे हो चुके थे। अतः उनका रचना-काल संवत् १७८०-१८१९ निर्धारित किया जा सकता है। कृष्णगढ़ में आज भी उनकी छोटी-बड़ी तिहत्तर कृतियाँ सुरक्षित हैं और कुछ अन्य ग्रन्थों के भी उल्लेख मिलते हैं। इन रचनाओं की संख्या से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नागरीदास की कृतियों का परिमाण

बहुत अधिक है। अन्य भक्त कवियों की तरह उन्होंने भी अनेक कृतियाँ तो कुछेक छंदों में ही समाप्त कर दी हैं।

जब वे पहले-पहल वृन्दावन पहुँचे थे तो कृष्णगढ़ के राजा पधारे हैं यह जान कर कृष्ण-भक्तों ने उनका स्वागत नहीं किया, किन्तु वे ही नागरीदास हैं, यह जानते ही उन्हें बड़े आदर के साथ भक्तों ने अपना लिया। इसका वर्णन नागरीदास ने स्वयं इस प्रकार किया है—

सुनि व्यवहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥

वृंदावन में उनके साथ उनकी उपपत्नी 'बणीठणी' जी भी रहती थीं जो स्वयं कवयित्री थीं।

यों तो नागरीदास का विषय भी कृष्ण-लीला ही है और पूर्ववर्त्ती कृष्ण-भक्त कवियों का पिष्ट-पेषण-सा प्रतीत होता है, किंतु उनकी विशेषता यह है कि एक ओर तो उनकी कृतियों पर सूफियों का प्रभाव है और दूसरी ओर पद-रचना के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, रोला आदि छन्दों में काव्य-रचना की रुचि और सामर्थ्य भी। उनकी काव्य-भाषा सरस और प्रसादगुण-युक्त है।

▲

लाल

बुन्देलखंड के मऊ नामक स्थान के निवासी गोरेलाल पुरोहित, जो अपने उपनाम लाल से ही प्रसिद्ध हैं महाराज छत्रसाल के समकालीन और आश्रित थे। लाल ने अपने काव्य-ग्रन्थ 'छत्र-प्रकाश' में, दोहा-चौपाई में, छत्रसाल का जीवन-वृत्त सविस्तर तथा सम्यक् रूप से उपस्थित किया है। चूँकि 'छत्र-प्रकाश' में संवत् १७६४ तक की ही घट-

नाओं का उल्लेख है इससे यह अनुमान किया जाता है कि या तो लाल इसके बाद जीवित नहीं थे या उनका यह ग्रन्थ खंडित रूप में मिलता है। लाल ने अपने दूसरे काव्य 'विष्णु-विलास' में बरवै-छंद में नायिका-भेद का निरूपण किया है।

'छत्र-प्रकाश' की एक बहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें वर्णित घटनाएँ, विवरण तथा तिथि-संवत् आदि सर्वथा इतिहास-सम्मत हैं, यहाँ तक कि चरित्त-नायक की पराजय के उल्लेख से भी कवि हिचका नहीं है। लाल कवि ने इस काव्य-ग्रंथ में देश-दशा का जो वर्णन किया है वह भी सर्वथा यथातथ्य है और प्राचीन हिंदी काव्यों को देखते हुए अप-वाद स्वरूप ही है।

वर्णन की विशदता, वस्तु के विन्यास और मार्मिक प्रसंगों के चयन से लाल की प्रबंध-काव्य की रचना-शक्ति का परिचय मिलता है। लाल ने दुरारूढ़ कल्पना, उक्ति-वचित्र्य और अलंकारों के बदले काव्य के दो मुख्य गुणों, ओज और प्रसाद, को ही महत्व दिया है।

गिरिधर कविराय

गिरिधर कविराय जितने ही लोकप्रिय नीति कवि हैं, उतने ही जीवन-वृत्त की दृष्टि से अज्ञातप्राय। गिरिधर कविराय या कविराज, उनके इस नाम से यह अनुमान किया गया है कि वे भाट रहे होंगे। शिवसिंह-सरोज के अनुसार, उनका जन्म संवत् १७७० में हुआ था, अतः उनका रचना-काल संवत् १८०० के लगभग माना जा सकता है।

हिंदी-भाषी प्रदेशों के अशिक्षित ग्रामीणों तक को उनकी नीति-विष-यक कुंडलियाँ कंठाग्र रहती आई हैं। उन्होंने वृंद की तरह अपनी नीति-

विषयक उक्तियों को उपमा आदि अलंकारों से कवित्वपूर्ण बनाने के प्रयास के बदले शिक्षाप्रद बातें दो टूक भाषा में कह दी हैं, यहाँ तक कि कहीं-कहीं वे ग्राम्य भी हो गई हैं। उन्होंने अपवाद-स्वरूप ही कहीं-कहीं अपनी उक्तियों के समर्थन में, कुछ कवित्व की दृष्टि से नहीं, दृष्टांत या अन्योक्ति का सहारा लिया है। यदि गिरिधर की कुंडलियाँ रस-अलंकार से रहित होने के कारण कविता की कोटि में परिगणनीय नहीं हैं, तो अपनी ऋजुता के परिणाम स्वरूप ही वे उतनी लोकप्रिय रही हैं जितनी बहुत कम कवियों की उक्तियाँ हो पाती हैं।

▲

ठाकुर

ठाकुर नाम के तीन विभिन्न कवियों की रचनाएँ एक दूसरे से इस तरह घुलमिल गई हैं कि उन्हें अलग करना अब असंभव जान पड़ता है। तीनों ठाकुरों में दो तो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और एक बुंदेलखंड के निवासी और जाति के कायस्थ। तीसरे ठाकुर की रचनाएँ ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हीं के छन्द इस संग्रह में संकलित हैं। उनके वे छन्द स्पष्ट पहचान में आ जाते हैं जिनमें बुंदेलखंडी भाषा के प्रयोग हैं।

बुंदेलखंडी ठाकुर का पूरा नाम था लाला ठाकुरदास और उनके पूर्वज मूलतः लखनऊ जिला के काकोरी स्थान के निवासी थे। ठाकुर के पिता गुलाबराय का विवाह ओरछा महाराज के मुसाहब रावराजा की पुत्री के साथ हुआ था और वे अपनी ससुराल में जा बसे थे। यहीं संवत् १८२३ में ठाकुर का जन्म हुआ था।

ठाकुर ने अपने कवि-जीवन के प्रारंभ में ही बुंदेलखंड के अनेक सामंतों के दरबारों में सम्मान प्राप्त किया था। बाँदा के हिम्मत बहादुर गोसाईं के दरबार में भी पहिले तो नहीं, किन्तु बाद में उन्हें पर्याप्त

सम्मान मिला था वहाँ पद्माकर जैसे कवि से उनकी लाग-डाँट रहती थी और, ऐसा कहा जाता है, हिम्मतबहादुर भी उनसे तब जाकर प्रभावित हुए थे जब उन्होंने उपेक्षित होने पर भरी सभा में अपना वह प्रसिद्ध कवित्त पढ़ा था जिसका अंतिम चरण है—

चोजिन के चोजी महा मौनिन के महाराज,
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के ॥

ठाकुर की मृत्यु अनुमानतः संवत् १८८० में हुई थी, अतः उनका रचना-काल १८५०-१८८० निर्धारित किया जा सकता है। ठाकुर की कविता में आवश्यक अलंकार या दुरारूढ़ कल्पना नहीं पाई जाती। उनकी कविता में लोकोक्तियों और मुहावरों का जैसा सफल प्रयोग देखने को मिलता है वह हिन्दी के प्राचीन कवियों की रचनाओं में दुर्लभ है। वे रोजमर्रे की भाषा से वह प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो अन्य कवि बाहरी सजावट का सहारा लेकर भी नहीं कर पाए हैं।

▲

सूदन

सूदन मथुरा-निवासी, माथुर चौबे वसंत के पुत्र और भरतपुर के महाराजा बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह के आश्रित कवि थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता के वीरतापूर्ण जीवन की कथा बड़े विस्तार से 'सुजान-चरित्र' नामक प्रबंध काव्य में लिखी है। 'सुजान-चरित्र' में संवत् १८०२ से १८२० की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख है, अतः सूदन का रचना-काल अनुमानतः संवत् १८२० और उसके बाद तक निर्धारणीय है।

सूदन के युग के भारतीय इतिहास में भरतपुर के जाट राजाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अतः सूदन को अपने चरित-नायक की काल्पनिक

वीरता का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन नहीं करना पड़ा। सूदन को एक सच्चे वीर का प्रतिपालन प्राप्त था और जिनका यशोगान भी उन्होंने किया है और इतिहास के तथ्यों की अवहेलना भी नहीं की है।

सूदन ने 'सुजान-चरित्र' में बड़े ओजस्वी तथा विविध छन्दों में निबद्ध वर्णन प्रस्तुत किए हैं, किन्तु घोड़ों और शस्त्रास्त्रों तथा अन्य अनेकानेक वस्तुओं के प्रकार और नाम गिनाने में उन्होंने अवांछनीय विस्तार कर दिया है। उन्होंने ब्रजभाषा, पंजाबी, खड़ी बोली आदि नाना भाषाओं की अनावश्यक मिलावट भी की है और शब्दों को बहुत अधिक तोड़ा-मरोड़ा है। यह सब होते हुए भी 'सुजान-चरित्र' के अनेक-स्थल अतिशय प्रभावोत्पादक हैं।

▲

बोधा

बोधा बाँदा जिला के निवासी एक ऐसी सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में संवत् १८०४ में उत्पन्न हुए थे, जिसके अनेक सदस्यों का पन्ना के महाराज के दरबार में बहुत सम्मान था। यही कारण था कि बोधा बचपन में ही पन्ना चले गये थे और महाराज के तो इतने प्रियपात्र बन गये थे कि वे उन्हें उनके असली नाम, बुद्धिसेन, से न पुकार कर बोधा कहा करते थे। बोधा का रचना-काल संवत् १८३०-१८६० है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

बोधा की दो कृतियाँ पाई जाती हैं—'विरह-वारीश' और 'इश्कनामा'। इनके स्फुट कवित्त और सवैये भी पुराने संग्रहों में मिलते हैं।

बोधा, अनेक समकालीन कवियों की तरह, आचार्यत्व के फेर में नहीं पड़े हैं, बल्कि प्रेम और उसकी पीर के बड़े ही सरस छन्द मुक्त

रूप में उन्होंने लिखे हैं। उनकी भाषा बहुत परिमार्जित नहीं है और वे युग की सस्ती रुचि से अपने को पूरी तरह बचा नहीं पाए हैं, फिर भी वे मुहावरेदार और टकसाली व्रजभाषा में हृदयग्राहिणी कविता रचने में सिद्धहस्त थे।

पद्माकर

पद्माकर बाँदा निवासी तैलंग ब्राह्मण और सुकवि मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। उनका जन्म बाँदा में संवत् १८१० में हुआ था और निधन कानपुर में संवत् १८९० में।

पद्माकर को अपने जीवन-काल में प्रचुर यश और अर्थ की प्राप्ति हुई और बाद में भी काव्य-मर्मज्ञों के बीच उनकी प्रतिष्ठा बनी रही। उन्हें अनेक राजाओं से असाधारण सम्मान मिला था। उन्होंने हिम्मत बहादुर के नाम पर 'हिम्मत बहादुर विरदावली' नामक वीर-रस के काव्य-ग्रंथ की रचना की, सितारा के महाराज रघुनाथ राव से प्रभूत पुरस्कार पाया, जयपुर के महाराज प्रताप सिंह और बाद में उनके पुत्र महाराज जगत सिंह के दरबार में रहते हुए 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' लिखा और कालांतर में उदयपुर तथा ग्वालियर के नरेशों से भी सम्मानित और पुरस्कृत हुए। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वे बाँदा लौट आये थे। वहीं उन्होंने भक्ति और वैराग्य ग्रंथ 'प्रबोध पचासा' लिखा था। मृत्यु के पूर्व वे सात वर्षों तक कानपुर में गंगा-तट के समीप रहते थे और उन्हीं दिनों हिंदी के अपूर्व स्तोत्र-ग्रंथ 'गंगा-लहरी' की रचना की थी। दोहा-चौपाई में लिखा 'राम-रसायन' नामक उनका एक प्रबंध-काव्य भी मिलता है, किंतु वह साधारण कोटि का काव्य है, अतः उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

पद्माकर का 'जगद्विनोद' शृंगार का अनूठा ग्रंथ है। उसमें पद्माकर की मूर्ति-विधायिनी कल्पना-शक्ति पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। पद्माकर की कविता काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञों के बीच मतिराम की कविता की तरह समादृत होती रही है, उनकी कल्पना बिहारी की कल्पना की कोटि की है और उनकी जैसी भाषागत अनेकरूपता केवल तुलसीदास में ही मिलती है।

पद्माकर ने अपने वर्णनात्मक छंदों में अनावश्यक अनुप्रास-प्रियता का परिचय दिया है, किन्तु जहाँ भाव और कल्पना का सामंजस्य हुआ है—और ऐसे ही छंद अधिक संख्या में हैं--वहाँ भाषा अलंकृत होते हुए सजीव और रस-निष्पत्ति में सक्षम है। पद्माकर में रीतिकालीन हिन्दी कविता उच्चतम शिखर पर पहुँची थी। इसके बाद वह अधिकाधिक ह्रासोन्मुख होती चली गई।

▲

ग्वाल

ग्वाल मथुरा-निवासी बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। उन्होंने संवत् १८७९ में 'यमुना-लहरी', संवत् १८८४ में 'कृष्ण जू को नख-शिख', संवत् १८९१ में 'दूषण-दर्पण', संवत् १९०४ में 'रसिकानंद' और 'रसरंग' और संवत् १९१९ में भक्तभावन की रचना की। 'हम्मीर-हठ', 'गोप-पचीसी', 'राधा-माधव-मिलन' और 'राधा-अष्टक' भी उनकी कृतियाँ मानी जाती हैं। उनकी कृतियों को ध्यान में रखते हुए उनका रचना-काल संवत् १८७९–१९१८ माना जा सकता है।

उन पर युग की रुचि का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि 'यमुना-लहरी' जैसे देव-स्तुति विषयक ग्रन्थ में भी उन्होंने विभिन्न रसों और

षट्ऋतु के वर्णन को ही प्रमुखता दी है। उन्होंने देश का भ्रमण कर विभिन्न प्रदेशों की बोलियों का जो ज्ञान प्राप्त किया था उसका उपयोग पंजाबी, गुजराती और पूरबी भाषा के छन्दों की रचना में कर दिखलाया है। ग्वाल के कवित्त-सवैयों में रुचि परिष्कार का अभाव तो अवश्य है, किन्तु उनके वाग्वैदग्ध्य से इनकार नहीं किया जा सकता। प्राचीन-काव्य के प्रेमियों को उनके छन्द कंठाग्र रहते आए हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

हिन्दी साहित्य का वह प्रथम प्रभात था जब भारतेन्दु ने सरस्वती की वीणा में जागरण का स्वर भरा था। 'नील गगन में सांध्यतारा का, पावस में प्रथम फुहार का तथा माला में प्रथम मणि का जो रमणीय और महत्त्वपूर्ण स्थान है, वही स्थान हिन्दी साहित्य में नवयुग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु हरिश्चंद्र का है।' देश में दैन्य की प्रचंड ज्वाला को धू-धू जलती देखकर भी जब रीति-कालीन कवि किसी अज्ञात नायिका को अभिसार का उपदेश दे रहे थे, जब कविता-कल्याणी सभा की परी बन रही थीं और जब 'राधा कृष्ण की आड़ में कलुषित प्रेम की शत-सहस्र उद्भावनाएँ की जा रही थीं' उसी समय प्रगति की पताका और राष्ट्रीयता का शंख लिए तरुणाई के मस्त कवि भारतेन्दु ने साहित्य के प्रांगण में पदार्पण किया और हमें सर्वप्रथम यह राष्ट्र-ध्वनि सुनाई पड़ी।

"रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई
हा, हा, भारत दुर्दसा न देखी जाई।"

श्रृंगारिकता के जिस प्रवाह को भूषण के कड़खे भी नहीं रोक सके थे, उसे भारतेन्दु के इस करुण उद्बोधन-गान ने न केवल अवरुद्ध ही कर

दिया वरन् उसे प्रतिकूल दिशा में मोड़कर राष्ट्रीयता की ओर प्रवाहित भी कर दिया। फिर तो उनके पीछे चलने वालों की कतार सी बँध गई जो अब तक अविकल और अविच्छिन्न है। माना कि भारतेन्दु बाबू की राष्ट्रीय भावनाएँ प्राचीन संस्कारों पर आधारित हैं और आगे चल कर बाबू मैथिली शरण गुप्त, माखन लाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल, त्रिशूल, दिनकर आदि के हाथों में सुस्पष्ट होकर उन भावनाओं ने आधुनिक रंग पकड़ा है, किन्तु इससे भारतेन्दु का महत्त्व रंचमात्र भी नहीं घटता। जिसे हम आज जातीयता कहते हैं, वही उस समय की राष्ट्रीयता थी और प्रगति का तो यही लक्षण ही है—एक पद प्राचीनता की सुदृढ़ भूमि पर दूसरा नवीनता के अग्रिम छोर पर। सच तो यह है कि 'भारतेन्दु-युग ने बीसवीं शताब्दी का द्वार खोल दिया, द्विवेदी-युग ने उस पर स्वागत का बन्दन-वार लगाया, नवयुग ने उस द्वार से प्रवेश कर हिन्दी-मन्दिर गुंजारित किया।'[1]

एक सच्चे साहित्यिक की भाँति भारतेन्दु ने साहित्यिक धारा को मोड़ कर जीवन से लगा दिया—उस धारा को जो इनके पहिले जीवन की दुरूह घाटियों से दूर परियों के स्वप्निल देश में बह रही थी। इनकी रचनाएँ 'निर्जन वन के बीच सुगम पथ, तम में दीप, दिशा-भ्रम में रवि, संकट में सांत्वना-वाक्य' के समान सुखद और उपादेय हैं।

युग-प्रवर्त्तक भारतेन्दु ने साहित्य के अङ्ग-प्रत्यंग पर दृष्टि डाली और उसके सभी आहत अङ्गों पर पट्टियाँ बाँधीं।

आजकल पैरोडी (Parody) की काफी धूम है। इसे कुछ लोगों ने काव्य परिहास की संज्ञा दी है। कुछ लोगों का विचार है कि हिन्दी साहित्य में यह नई-नई चीज आई है, किन्तु बहुत लोगों का ख्याल है, कि पैरोडी का जन्म कविता के जन्म के तुरत ही बाद हुआ होगा; क्योंकि

---

१. शान्तिप्रिय द्विवेदी (कवि और काव्य)

यह मनुष्य की स्वभावगत चीज है। जो कुछ भी हो, यह तो निष्ठुर सत्य है कि अभी तक हिन्दी के किसी भी प्राचीन पैरोडी-लेखक (parodist) का नाम ज्ञात नहीं हुआ है और न यही मालूम हुआ है कि संस्कृत में पैरोडी को क्या कहते थे और कभी वह साहित्य का एक विशिष्ट अङ्ग होने पाया था वा नहीं। अतः जब तक हमें किसी प्राचीन पैरोडी-लेखक का नाम ज्ञात नहीं होता, तब तक हम यही मानने को बाध्य हैं कि भारतेन्दु ही हमारे साहित्य के प्रथम पैरोडी-लेखक हैं। 'इन्दर-सभा' नामक एक प्राचीन किन्तु सुविख्यात नाटक की 'बन्दर-सभा' के नाम से आपने जो पैरोडी तैयार की थी वह सचमुच एक सर्वांग-पूर्ण पैरोडी है।

हिन्दी नाटकों की तो परम्परा ही आपसे आरम्भ होती है। भारतेन्दु के नाटकों ने ही उन्हें सबसे अधिक अमरता प्रदान की है और उनके नाटकों के लिए ही हिन्दी उनकी सब से अधिक ऋणी, सब से अधिक आभारी है। राष्ट्रीयता का विकास होना तो समयानुकूल अनिवार्य था, वह तो कालान्तर में होता ही, किन्तु यदि भारतीय गगन में इस इन्दु का उदय न होता, तो हिंदी साहित्य की रंगभूमि में नाट्यकला की चन्द्रिका शायद युगों तक न छिटकती। वस्तुतः भारतेन्दु ही साहित्य के सर्व प्रथम और अपने ढंग के सर्वोत्कृष्ट नाटककार हैं। नाटककार के रूप में भारतेन्दु एक स्कूल थे जहाँ बहुतों ने शिक्षा पाई। जिस समय नाटकों के रूप में भारतेन्दु की प्रतिभा-ज्योति चतुर्दिक विकीर्ण हो रही थी उस समय न केवल हिंदी-भाषा-भाषी वरन् उर्दू वाले भी उनके नाटकों को पढ़ने के लिए कितने लालायित रहते थे उसे, 'हिन्दुस्तानी लखनऊ' (उस समय की एक उर्दू पत्रिका) से उद्धृत इन पंक्तियों में देखिए—

"बाबू साहब की तसलीफात और तालीफात हिंदी ज़ुबान में कसरत से हैं बल्कि सच कहा जाय तो हिंदी की तरक्की आप ही से ख्याल करना चाहिए। अगर बाबू साहब तकलीफ गवारा करके अपनी कुल

तसनीफात उर्दू में तर्जुमा कर दें तो बिला शक तक एक बड़ा इहसान उर्दू पढ़े हुए पब्लिक पर होगा। उर्दू ज़ुवान बिलकुल नाटकों से खाली है। लेकिन हमको उम्मीद है कि अगर ऐसे ही दो चार लायक-फायक शख्स अपने कीमती वक्त को इधर सर्फ करेंगे तो बहुत कुछ दावा इस ज़ुवान का होगा। जिस वक्त 'हम बाबू साहब के 'नीलदेवी' या 'सत्य हरिश्चन्द्र' वगैरह नाटकों को देखते हैं तो एक क़िस्म का अफ़सोस होता है और हमारे अफ़सोस का यही कारण है।"

नाटकों में भी भारतेन्दु ने अपना प्रतिनिधि रूप नहीं छोड़ा है। "न उन्होंने प्राचीनता को प्राचीन मानकर छोड़ दिया और न नवीनता को उसके नव्य प्रकाश की चमक में फँसकर पूर्णतया ग्रहण किया। न एक की जटिलता में फँसे न दूसरे की नकल उतारने में।"

प्रकृति भी आपकी प्रतिभा की देन से उल्लसित है। इनके पहले प्रकृति चित्रण का हिन्दी साहित्य में कोई विशेष स्थान नहीं था। प्रकृति सदा उपेक्षिता ही रही। चारण-काल के कवियों ने प्रकृति में रुधिर का पनाला ही बहते देखा, और 'वर्षा विगत सरद ऋतु आई', तो भी तुलसीदास तत्वानुसंधान में ही लीन रहे। चित्रकूट की सुषुमाभरी स्थली में भी जहाँ तक उनकी दृष्टि गई उन्हें माया ही देख पड़ी। दरबार के अभिभावकों ने तो 'कीर, कोयल, कुरंग, कमल, अहि, कपि, सबको साढ़े तीन हाथ की एक ही डाल पर लटका दिया था।' ऐसे समय भारतेन्दु ने ही भगीरथ की भाँति उपेक्षा के जटाजूट में उलझी हुई कविता-गंगा को वहाँ से निकालकर प्रकृति की घाटियों में बहाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया। भारत के इस शारदीय इन्दु की ज्योत्स्ना में 'तरनि-तनूजा' (यमुना) का अंग-अंग पुलकित हो उठा, तमाल आदि तरुवर लहलहा उठे, काशी की जाह्नवी की लोल लहरों में भी विशेष गति और क्षिप्रता आ गई। प्रकृति को अपने नाटकों की पार्श्व-भूमिका (कैनवेस) के रूप में अङ्कित कर सचमुच आपने एक अग्रदूत का कार्य किया। माना कि

आपका प्रकृति अङ्कन सर्वतोभावेन विशुद्ध प्रकृति-अङ्कन नहीं है, किन्तु डूबते हुए को तिनके का सहारा भी बहुत होता है। अन्धेरी रात में पथ-भ्रष्ट पथिक के लिए दूरस्थित धूमिल दीपक का प्रकाश भी आशा और संजीवन का महान् केन्द्र होता है। प्रकृति से विरक्त कितने कवियों को भारतेन्दु की प्रकृति-संकुल कविताओं ने प्रकृति-चित्रण की प्रेरणा दी होगी, भारतेन्दु की प्रकृति ने कितने लोगों को लुभाया होगा, कौन कह सकता है।

और भारतेन्दु के गद्य-निर्माण का महत्व ? उसकी तो पर्याप्त प्रशंसा हो ही नहीं सकती। भारतेन्दु के पहले हिंदी के गद्य का कोई निश्चित स्वरूप नहीं था, कोई नियमित परिपाटी नहीं थी, कोई साहित्यिक स्टैंडर्ड नहीं था। भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम हमारी मातृभाषा का एक सर्वमान्य स्वरूप खड़ा किया जिसे सरस्वती के वरपुत्र द्विवेदी जी के कर्मठ करों ने निखारकर 'अप-टु-डेट' बना दिया। भारतेन्दु का तो मूल-मंत्र था—

> निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
> बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय की शूल ॥

विक्रमीय बीसवीं शताब्दी के आरंभ के साथ ही राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी के प्रांगण में पदार्पण किया। एक हिंदी के विशुद्ध रूप के पक्ष में थे, दूसरे उसके उर्दूनुमा विकृत स्वरूप के पक्ष में। दोनों में काफी तनातनी हो रही थी। इसी समय हरिश्चन्द्र ने मातृभाषा के विशुद्ध रूप को ग्रहण कर उसे इतना परिमार्जित और व्यापक बना दिया कि लोग बरबस इनकी ओर झुक गए और विपक्षीदल आधार-शून्य होकर शीघ्र ही मुँह के बल गिर पड़ा। भारतेन्दु ने ही सर्वप्रथम हिंदी को इस लायक बनाया कि वह सीधी-सादी होकर भी सब प्रकार के भावों और विचारों को व्यक्त कर सके। इन्हीं कारणों से आप आधुनिक हिंदी के जन्मदाता समझे जाते हैं।

उन्होंने न केवल गद्य को ही सँवारा, वरन् खड़ी बोली की कविता

कामिनी का भी श्रृङ्गार किया। चूरनवाली कविता भारतेन्दु-द्वारा रचित खड़ी बोली की एक प्रसिद्ध कविता है—

मेरा चूरन जो कोई खाय।
मुझ को छोड़ कहीं नहिं जाय॥
मेरा चूरन हट्टा कट्टा।
कीना दाँत सभी का खट्टा॥

यहाँ पाठक 'नहिं' और 'कीना' के प्रयोग पर नाराजगी नहीं प्रकट करें वह पुरुष-पुंगव धन्य था जिसने उस समय, जब कि कविता की अधिकारिणी एकमात्र व्रजभाषा थी और जब खड़ी बोली के खरापन में पद्य-रचना की कल्पना भी अवांछनीय समझी जाती थी, इन पंक्तियों को लिखने का साहस किया। अतः पंत के शब्दों में हम भी कहते हैं कि—

"भारतेन्दु कर गये भारती का वीणा-निर्म्माण॥"

'भारतेन्दु ने छंद भी विविध प्रकार के व्यवहृत किये हैं। गाने की चलती चीजों में विशेषकर ठुमरी, खेमटों, दादरों आदि में कुछ मुसलमान सहृदयों ने जो रचना-पटुता दिखाई है वह अभूतपूर्व है। उसमें इतनी सरसता, स्वाभाविकता और हृदयग्राहिता है कि उसकी बहुत प्रशंसा की जा सकती है। इस विषय में उनका समकक्ष कोई हिन्दी कवि कठिनता से मिलता है; उचित समकक्षता लाभ की है तो बाबू हरिश्चन्द्र जी ने लाभ की है। उनके 'प्रेमतरंग' इत्यादि ग्रन्थों में इस प्रकार की मनमोहक रचनाएँ हैं।"*

मौलिक साहित्यकार के रूप में तो हरिश्चन्द्र को किसी ने छूआ ही नहीं।

भारतेन्दु का उदय काशी की पावन नगरी में भाद्रपद शुक्ल सप्तमी,

---

*हरिऔध ['हिन्दी के मुसलमान कवि' के "दो शब्द"]

सं० १९०७ (ता० ९ सितम्बर, १८५० ई०) में हुआ था। शीघ्र ही इस नवचन्द्र की रजत-रश्मियाँ फूटकर हिन्दी साहित्य के गगनांगन में चतुर्दिक् विकीर्ण होने लगीं। पाँच वर्ष की अवस्था में ही जब शिशु हरिश्चन्द्र ने अपनी तुतली बोली में निम्नलिखित दोहा पढ़ा था—

"लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान।
बाणासुर की सैन को हनन लगे भगवान॥"

तभी लोगों ने यह विश्वास कर लिया था कि 'इस चन्द्र की चन्द्रिका अखिल देश को आप्लावित करके रहेगी' और तभी पिता के मुँह से निकल पड़ा था—'तू मेरा नाम बढ़ावेगा'। कालान्तर में ये दोनों आशाएँ फलीभूत हुईं।

बचपन में इन्हें हिन्दी, फारसी तथा अँग्रेजी की अच्छी शिक्षा मिली। पं० लोकनाथ इनके काव्य-गुरु थे। चौदह वर्ष के किशोर हरिश्चन्द्र के अल्हड़ जीवन में जीवन-संगिनी के रूप में प्रवेश कर मन्नी देवी ने मानों उनके दिल की कलियों को चटका दिया। यों तो, उनके हृदय-सिंधु में भाव-ऊर्मियाँ रह-रहकर शैशवावस्था से ही तरंगें ले रहीं थीं, किन्तु विवाहोपरांत १८ वर्ष की उम्र से उनकी कविता-सुरसरी की वह पीन धारा प्रवाहित हुई जिसके कलकल से हिन्दी संसार का दिग्दिगंत निनादित हो उठा। सं० १९३४ में पुष्कर यात्रा से लौटकर हिन्दी-वर्द्धिनी सभा द्वारा निमन्त्रित होकर आप प्रयाग गए थे और वहीं आपने एक ही दिन में हिन्दी की उन्नति पर अट्ठान दोहों का एक पद्यात्मक व्याख्यान तैयार कर उक्त अधिवेशन में सुनाया था और सभी ने एक स्वर से उनका लोहा माना था। इसके बाद तो रचनाओं का ताँता बँध गया।

भारतेन्दु 'कलियुग के कन्हैया' थे—लम्बा कद, इकहरा बदन, न अत्यन्त कृश न मोटा ही, आँखें कुछ छोटी, नाक सुडौल, कान कुछ बड़े जिन पर घुँघराले बालों की लम्बी लटें बल खाती थीं, उन्नत ललाट जो

उनके भाग्य का द्योतक था। 'दूर से लोग इनकी मधुर कविता सुनकर आकृष्ट होते थे और समीप आ मधुर श्यामसुन्दर घुँघराले बालों वाली मधुर मूर्ति देखकर बलिहारी होते थे और वार्तालाप में इनके मधुर भाषण नम्रता और शिष्ट व्यवहार से वशंवद हो जाते थे।'[1]

आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आप सुकवि थे, सुलेखक थे, सुवक्ता थे, नाटककार थे, नट थे, समाज-सुधारक थे, देश-भक्त थे, अनुवादकर्त्ता थे, मौलिक कलाकार थे और क्या नहीं थे। आप कई लिपियों में बड़ी सुन्दरता और सुगमता से (at ease) लिख सकते थे। शीघ्रता के साथ हिन्दी लिखने में तो आप अंग्रेजी लिखनेवालों से भी बाजी मार लेते। डा० राजेन्द्रलाल के शब्दों में आप 'राइटिंग मेशीन' थे। इनका आशुकवित्व इतना प्रखर और प्रबल था कि इन्होंने 'अंधेर-नगरी' एक ही दिन में लिख डाली थी और 'विजयिनी विजय-वैजयन्ती' की रचना तो सभा होने के ही दिन कुछ ही देर में हुई थी।

आप विद्वान् थे किन्तु ग्रंथ-कीट नहीं। जिन्दादिली तो आप में कूट-कूटकर भरी थी। ताश-शतरंज खेलना आपके लिए कोई शिकायत नहीं थी। चतुरंग पर तो आपने छप्पय लिखे हैं, जो शतरंज के खेलाड़ियों के लिए काफी मनोविनोद की चीज है। हास्य के तो आप अवतार ही थे। 'एप्रिल फूल्स डे' को आपकी विनोदमयी पैनी नजर से शायद ही कोई बच निकलता। 'बसंत होली' के छींटे भी खूब उड़ते।

पं० रघुनाथ ने इनके गुण और दोषों का अनुपात देखकर जब इन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि दी थी तब पं० सुधाकर द्विवेदी ने कहा था—पूरे चाँद में कलंक देख पड़ता है, आप दूज के चाँद हैं जिनके दर्शन को लोग पुण्य समझते हैं'। यह बात सभी के हृदयों में घर कर गई।

---

१. अम्बिका दत्त व्यास "बिहारी-विहार"।

पं० रामेश्वरदत्त व्यास ने 'सारसुधानिधि' पत्र में इन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से अलंकृत करने का प्रस्ताव किया और सभी ने मुक्त कंठ से उनका समर्थन किया। तब से आप 'भारतेन्दु' कहलाने लगे और इसी नाम से अधिक विख्यात हुए।

भारतेन्दु के अन्तिम दिन कष्टकर थे। तरुणाई के इस मस्ताने कवि पर सरकार की वक्र दृष्टि तो थी ही, इधर आपके अनुज ने भी सम्पत्ति का बँटवारा कर लिया था। देश के दुर्दिन की चिन्ता से तो भारतेन्दु दग्ध हो ही रहे थे, स्वजनों की उपेक्षा, उदासीनता और कृतघ्नता ने उनके हृदय को और भी जर्जर कर दिया। फलतः सं० १९४० में क्षयरोग ने इन्हें धर दबाया और ६ जनवरी, १८८५ ई० को पौने दस बजे रात में भारत का यह चन्द्र सदा के लिए अस्त हो गया। अभी हम उनसे कुछ सुनना चाहते थे, उनके चरणों में निवेदन करना चाहते थे, किन्तु वाम विधि ने अन्तरिक्ष में कुछ ही कुटिल रेखाएँ खींच दी थीं, हाय!—

बड़े गौर से सुन रहा था जमाना।
तुम्हीं सो गये दास्ताँ कहते-कहते॥

यह ३५ वर्ष का युवक कलाकार अपने १७ वर्षों के अल्प रचना-काल में ही हमें १७५ ग्रन्थ निज के बनाये हुए दे गया है। ७५ ग्रन्थ इनके द्वारा सम्पादित, संगृहीत तथा उत्साह देकर लिखवाये हुए भी उपलब्ध हैं।

यद्यपि काल-राहु ने भारतेन्दु को असमय ही ग्रस कर हमें रंक बना दिया, किन्तु उनकी धवल ज्योत्स्ना हमारी झोपड़ियों में आज भी आलोक और अमृत बिखेर रही है। भाद्रपद की शुक्ला सप्तमी की हल्की चाँदनी में आज भी उनकी विरुदावली से भारत का कोना-कोना गूँज उठता है। उस महान् कलाकार की पुण्य स्मृति में श्रद्धा से सिर झुकाते हुए हम भी स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक के इन शब्दों को विश्वास के साथ दुहराते हैं कि—

"जब लौं भारतभूमि मध्य आरज कुल बासा।
जब लौं आरज धर्म भाँति आरज विश्वासा।
जब लौं गुनि आगरी नागरी आरज बानी।
जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी॥
तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहि है अटल।
नित चंद सुर सम सुमिरिहैं हरिचंद हु सज्जन सकल॥

▼

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

'प्रेमघन' जी भारतेन्दु-युग के, प्राचीनधारा के, प्रतिनिधि कवि थे। उनका जन्म संवत् १९१२में और देहान्त संवत् १९८० में हुआ था।

उन्होंने मुख्यतः ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना की थी। उन्होंने गंभीर विषयों पर कविताएँ लिखने के साथ ही साथ कजली, होली आदि गीत भी लिखे थे।

▲

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र का जन्म संवत् १९१३ में और निधन संवत् १९५१ में हुआ था। वे समस्यापूर्ति में और रीतिकालीन परंपरा के अनुरूप श्रृङ्गार-रस के छन्द लिखने में सिद्धहस्त थे। उन्हें लावनी गाने और बनाने का भी बहुत शौक था। उन्होंने पद्यात्मक निबंध भी लिखे हैं।

▲

नाथूराम शंकर शर्मा

'शंकर' जी का जन्म संवत् १९१६ में और देहावसान संवत् १९८९ में हुआ था। 'शंकर' जी ने अधिकतर ब्रजभाषा में और कवित्त तथा सवैया छन्दों में ही रचना की है, किन्तु उनके विषय नवीन होते थे और उनका दृष्टिकोण सुधारात्मक था।

▲

श्रीधर पाठक

श्रीधर पाठक का जन्म संवत् १९१६ और निधन संवत् १९८५ में हुआ था। ये खड़ी बोली को काव्य-भाषा के अनुरूप मधुर सिद्ध करने में तो सफल हुए ही, साथ ही साथ ब्रजभाषा में भी उत्कृष्ट काव्य रचना करते थे।

▲

मदनमोहन मालवीय 'मकरंद'

महामना मदनमोहन मालवीय का परिचय देना अनावश्यक है। हाँ, यह स्वल्प-ज्ञात है कि वे किशोरावस्था में भारतेन्दु के सम्पर्क में आए थे और 'मकरंद' उपनाम से ब्रजभाषा में बड़े सरस छन्द लिखते थे।

▲

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

बचपन में पाठशाला की पाठ्यपुस्तक में अनेक लोगों ने पढ़ा होगा—

एक ढेला था पड़ा मैदान में
एक पत्ता भी गिरा आकर वहीं,

पास रहने से मुहब्बत हो गई
चाहते थे वे अलग होना नहीं ।

और सजीव वर्णन के कारण ये पंक्तियाँ बहुतों को कंठस्थ भी हो गई होंगी । लेकिन उस समय इस बात की कल्पना किसी ने न की होगी कि उपर्युक्त पंक्तियों के लेखक 'हरिऔध' जी ही संस्कृत-निष्ठ शैली में लिखे गए खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य 'प्रियप्रवास' के भी विधाता हैं ।

वस्तुतः अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' एक शैली के रूप में हिन्दी भाषा के इतिहास में बहुत दिनों तक प्रतिष्ठित रहेंगे । हरिऔधजी हिन्दी में अनेक शैलियों के निर्माता थे और उनके अनेक प्रयोग आश्चर्य-जनक हुए थे । हरिऔध जी ने पहले-पहल हिन्दी में चौपदे और छःपदे लिखे । उन्होंने पहली बार खड़ी बोली में महाकाव्य (प्रियप्रवास) लिखा ।

खड़ी बोली के 'प्रथम 'महाकाव्य' के लेखक पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म निजामाबाद में १८७५ ई० में हुआ । इनके पूज्य पिता का नाम पंडित भोला सिंह उपाध्याय था और माता का नाम रुक्मिणी देवी ।

हरिऔध जी पर माता-पिता के अतिरिक्त चाचा पं० ब्रह्मा सिंह उपाध्याय का बड़ा स्नेह था । पं० ब्रह्मा सिंह उपाध्याय एक अच्छे विद्वान् और ज्योतिषी थे । वे स्वयं पुत्रहीन थे । अतः उनका सारा स्नेह और वात्सल्य बालक अयोध्या सिंह पर केन्द्रित हो गया । इन सुयोग्य चाचा ने स्वयं ही अयोध्या सिंह का विद्यारम्भ कराया । बाद में इन्हें बनारस के क्वींस कॉलेज में भर्ती करा दिया गया ।

हरिऔधजी का स्वास्थ्य उस समय ठीक नहीं था । फलतः क्वींस कालेज की पढ़ाई स्थगित कर देनी पड़ी । लेकिन पढ़ने की इच्छा तो थी

भाषा और साहित्य का इतिहास है जो पटना विश्वविद्यालय के 'रीडरशीप लेक्चर' के रूप में प्रस्तुत किया गया था।

हिन्दी साहित्य में हरिऔधजी दो बातों के लिए प्रसिद्ध रहे हैं—१. भाषा में विविध प्रकार की नवीन शैलियों की उद्भावना के लिए और २. साहित्य में नवीन भावों एवं दृष्टिकोणों की प्रतिष्ठा के लिए।

पहले हम उनके शैलीकार रूप को लें। हरिऔधजी द्विवेदी-युग के कवि थे, हालाँकि वे द्विवेदी-मंडल से बाहर काम कर रहे थे। यह हिंदी का एक क्लासिकल युग था, जब खड़ी बोली के गद्य और पद्य की पक्की व्यवस्था की गई थी। यह एक चिंता-संकुल काल था और युग की नाना चिंताओं को वाणी देने के लिए एक बहुविषयोपयोगी भाषा मुँह खोलना चाहती थी। तब हिंदी के सामने अनेक परंपराएँ थीं—संस्कृत की परंपरा, ब्रजभाषा की परंपरा, लोकवाणी की परम्परा और उर्दू की परम्परा। हिंदी इन सभी प्रेरणाओं के बीच रूप ग्रहण कर रही थी। फलतः हरिऔध जी इन सभी परम्पराओं को समेटकर हिंदी भाषा को नया रूप देना चाह रहे थे। इस रूप में, जैसा ऊपर निवेदन किया जा चुका है, उन्होंने विविध शैलियों का प्रचलन किया। एक ओर 'ठेठ हिंदी का ठाट' और 'अधखिला फूल' जैसे उपन्यास लिखकर सरलतम ठेठ हिंदी गद्य का नमूना पेश किया तो दूसरी ओर 'वेनिस का बाँका' जैसा अनुवाद-ग्रन्थ लिखकर पांडित्यपूर्ण संस्कृत-गर्भित भाषा का उदाहरण उपस्थित किया। एक ओर 'बोलचाल' जैसा निबंध लिखकर मुहावरेदार गद्य का आदर्श प्रस्तुत किया तो दूसरी ओर 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' लिखकर उर्दू के कान काटनेवाली रोजमर्रों, लोकोक्तियों और मुहावरों से भरी हुई काव्य-भाषा की बानगी खड़ी की। हरिऔधजी ने उर्दू शैली में ऐसे चौपदे और छःपदे लिखे जिनमें चमत्कार और मुहावरों की काट ऐसी है जो उन्हें उस काल के सभी कवियों से अलग कर देती है। उदाहरण लीजिए—

(१) कवि अनूठे कलाम के बल से,
हैं अजब कमाल कर देते।
बेधने के लिए कलेजे की,
हैं कलेजा निकाल धर देते।

(२) उमंगों भरा दिल किसी का न टूटे,
पलट जायँ पाँसे मगर जुग न फूटे,
कभी संग निज संगियों का न छूटे,
हमारा चलन घर हमारा न लूटे,
सगों से सगे कर लेवें किनारा,
फटे दिल मगर घर न फूटे हमारा।

मगर जहाँ हरिऔध ने उर्दू छंदों में चौपदे लिखे वहाँ संस्कृत छंदों (द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीड़ित, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी, मालिनी आदि वर्णिक छंदों) में और तत्सम शब्दावली में 'प्रियप्रवास' की रचना की। एक ओर वे बच्चों के लिए बच्चों की भाषा में ऐसी कविता लिखते थे—

देखो लड़को बन्दर आया।
एक मदारी उसको लाया।
फटे पुराने रंग-बिरंगे।
कपड़े उसके हैं बेढंगे।

और दूसरी ओर पंडितों के लिए उच्च भाषा और समास बहुल शैली में 'प्रियप्रवास' की ऐसी पंक्तियाँ लिखते थे—

बधन-उद्यम दुर्जय वत्स का
कुटिलता अघ-संज्ञक सर्प की,
विकट घोटक की अपकारिता
हरि-निपातन-यत्न अरिष्ट का।

अब हम उन नवीन भावों और दृष्टिकोणों पर विचार करें जिनका समावेश हरिऔधजी ने साहित्य में किया। यह हम जानते हैं कि प्रत्येक युग की अपनी मान्यताएँ और विचार होते हैं। हरिऔध जी एक बुद्धि-वादी (Intellectual) युग में पैदा हुए थे जब विज्ञान ने अनेक अंध-विश्वासों को झूठा प्रमाणित कर दिया था। अब किसी व्यक्ति की अलौकिक क्रियाओं में विश्वास करना कठिन था। अब यह मानने में दिक्कत थी कि बालक कृष्ण ने कानी उँगली पर पहाड़ उठा लिया था। अतः अब पौराणिक साहित्य का एक नये दृष्टिकोण से अध्ययन हुआ। हिंदी में इस नये अध्ययन एवं दृष्टिकोण को पहली बार उपस्थित करने का श्रेय हरिऔध जी को ही है। 'प्रियप्रवास' में उन्होंने बतलाया कि कृष्ण कोई अवतार नहीं थे बल्कि इसी धरती के एक आदर्श पुरुष थे। उन्होंने स्थूल रूप से गोवर्धन पर्वत को उँगली पर नहीं उठाया था बल्कि भीषण वर्षा से समस्त गोवर्धन-निवासियों की ऐसी दक्षता से रक्षा की थी कि एक भी मनुष्य या पशु का बाल बाँका नहीं हुआ और तब लोग अनायास ही कहने लगे कि कृष्ण ने तो मानों समूचा पर्वत ही उँगली पर उठा लिया—

यदि व्रजाधिप के प्रिय-लाड़ले।
पतित का कर थे गहते कहीं॥
उदक में घुस तो करते रहे।
वह कहीं जल-बाहर मग्न को॥
लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में।
व्रज-धराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोक लगे कहने उसे।
रख लिया उँगली पर श्याम ने

('उँगली पर रखना'—मुहावरे का कैसा चमत्कार-पूर्ण प्रयोग हुआ है ?) इसी प्रकार उन्होंने कहा कि कृष्ण को कष्ट पहुँचानेवाले राक्षस

नहीं थे बल्कि प्राकृतिक प्रकोप थे—कोई आँधी और कोई घोड़ा था। इस प्रकार हरिऔध जी ने समस्त कृष्ण कथा को एक व्यावहारिक रूप दिया।

यही नहीं उन्होंने जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया। आधुनिक युग में समाजशास्त्र ने नयी मान्यताएँ उपस्थित की थी। यह मानना कठिन था कि मनुष्य की श्रेष्ठता जन्मगत या जातिगत होती है। गांधो जी ने छुआछूत, जातिपाँति, आदि का विरोध किया था। समाज-सेवा को सबसे बड़ी साधना कहा था। हरिजन-आन्दोलन चलाया था। फलतः हरिऔध जी ने राधा का चित्रण एक समाज सेविका के रूप में किया। हरिऔध जी द्वारा चित्रित गांधी युग की यह राधा कैसी है उसे नीचे की पंक्तियों में देखिए—

कंगालों की परम निधि थीं, औषधि पीड़ितों की।
दीनों की थीं भगिनी, जननी थीं आश्रितों की।
आराध्या थीं व्रज-अवनी की, प्रेमिका विश्व की थीं॥

उस युग का नारा था—समाज-सेवा और हरिजनोद्धार। हरिऔधजी ने राधा के मुख से कहलाया कि सच्ची भक्ति समाज-रूपी शरीर का भार उठानेवाले हरिजन-रूपी पगों को शरण और सम्मान देना है—

जो प्राणिपुंज निज कर्म्म-निपीड़नों से।
नीचे समाज वपु के पग लौं पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न-द्वारा।
है भक्ति लोक पति की पद सेवनाख्या॥

एक और मानी में हरिऔध जी अग्रणी कवि हैं। वे खड़ी बोली में प्रकृति-चित्रण के अग्रदूत हैं। हरिऔध जी ने प्रकृति को एक स्वतंत्र रूप में उपस्थित किया। उनका वर्षा और वसन्त-वर्णन प्रसिद्ध है।

संध्या-वर्णन की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

▲

राधाकृष्णदास

राधाकृष्णदास भारतेन्दु के फुफेरे भाई थे। उनका जन्म संवत् १९२२ में हुआ था। वे हिन्दी के प्रारम्भिक नाटककारों और उपन्यास-लेखकों में प्रमुख हैं। वे सुकवि भी थे।

▲

बालमुकुन्द गुप्त

गुप्तजी का जन्म संवत् १९२२ में हुआ था। ये हिन्दी के प्रसिद्ध और प्रभावशाली सम्पादक तथा आलोचक थे। उनकी कविता भी प्रभावोत्पादक होती थी।

▲

लाला भगवानदीन

दीनजी का जन्म संवत् १९२३ में और देहान्त १९८७ में हुआ। वे प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् और अध्यापक थे। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में उत्कृष्ट काव्य-रचना की है।

▲

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म काशी में सं० १९२३ में और मृत्यु हरद्वार में सं० १९८९ में हुई। आप जिस अग्रवाल कुल में उत्पन्न हुए वह वैभव और विद्या दोनों की परम्परा लिए था। 'रत्नाकर' जी के पिता पुरुषोत्तमदासजी भारतेन्दु के अंतरंग मित्र, साहित्यानुरागी एवं फारसी के अच्छे जानकार थे। 'रत्नाकर' जी को बचपन में ही भारतेन्दु के सत्संग का अवसर मिला था और भारतेन्दु ने 'रत्नाकर' जी के सत्कवि होने की भविष्यवाणी भी की थी।

'रत्नाकर' जी की शिक्षा बी० ए० तक हुई। पिता की तरह आप भी फारसी के मर्मज्ञ थे। शुरू में 'जकी' उपनाम से फारसी में कुछ कविताएँ भी की थीं पर बाद में केवल ब्रजभाषा में ही लिखते रहे। यहाँ तक कि छायावाद-युग में, जब खड़ी बोली ने काव्योचित मंजुलता पा ली थी, ब्रजभाषा की भावधारा एवं व्यंजना पद्धति की कटु निन्दा हो रही थी और अनेक लोग ब्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली में लिखना शुरू कर आधुनिक बन रहे थे, आपने ब्रजभाषा का पल्ला नहीं छोड़ा।

यही नहीं, आप औरों को भी ब्रजभाषा के लिए उत्साहित करते रहे। आपकी प्रेरणा से ही 'रसिक-मंडल' नाम की ब्रजकाव्य-प्रेमियों की एक संस्था प्रयाग में स्थापित हुई थी।

'रत्नाकर' जी कवि होने के साथ-साथ एक सत्समीक्षक और अद्वितीय भाष्यकार थे। 'बिहारी-रत्नाकर' नाम से 'बिहारी-सतसई' का आपने जो भाष्य प्रस्तुत किया वह इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए अलम् है। 'सूरसागर' के सामग्री-संचय एवं पाठ-संपादन के कठिन कार्य आरम्भ करने का श्रेय भी इन्हीं को प्राप्त है।

मृत्यु के कुछ दिनों पहले अर्थात् सं० १९८९ में आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता-अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए थे।

रत्नाकर जी के ग्रन्थ हैं—हिंडोला, समालोचनादर्श, हरिश्चंद्र, कलकाशी, उद्धव-शतक, गंगावतरण, शृङ्गार-लहरी, गंगा-विष्णु-लहरी, रत्नाष्टक, वीराष्टक और प्रकीर्णपद्यावली। 'समालोचनादर्श' अंग्रेजी के कवि-आलोचक पोप की रचना 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' का छन्दबद्ध अनुवाद है। 'प्रकीर्ण पद्यावली' स्फुट पद्यों का संग्रह है। शेष ग्रन्थों के विषय उनके नाम से ही स्पष्ट हैं 'हरिश्चन्द्र', 'गंगावतरण' और 'उद्धवशतक' प्रबंधकाव्य है। और शुक्लजी सरीखे मीमांसक के शब्दों में ये तीनों 'बहुत ही सुन्दर प्रबंधकाव्य' हैं। शुक्लजी ने 'उद्धवशतक' की मार्मिकता और रचना-कौशल को 'अद्वितीय' माना है।

जरा इस कथन का परीक्षण कर लें। 'उद्धवशतक' की कथा वस्तु संक्षेप में यह है। एक दिन यमुना में स्नान करते समय एक मुरझाए कमल को देखकर कृष्ण को राधा की स्मृति हो आती है और वे मूर्च्छित हो जाते हैं तभी एक शुक 'राधा-राधा' बोलने लगता है। कृष्ण विह्वल-शिथिल हो जाते हैं। उद्धव समझाते हैं किन्तु वे तब तक सुनने को तैयार नहीं हैं जब तक उद्धव गोकुल-गली की 'धूरि' धारण कर न लौटें। निदान उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर ब्रज जाते हैं और गोपियों को निर्गुण का संदेश देते हैं। किन्तु परिणाम उलटा होता है। गोपियों की विरह-सरिता में उद्धव का ज्ञान बह जाता है और वे स्वयं प्रेम में सराबोर होकर कृष्ण के पास लौटते हैं।

इस प्रकार 'रत्नाकर' के 'उद्धव-शतक' की वर्ण्य वस्तु वही है जो सूरदास के 'भ्रमरगीत' और 'नंददास' के 'भँवर गीत' की है। इन सबका उद्देश्य भी एक ही है—निर्गुण पर सगुण की अथवा ज्ञान पर प्रेम की विजय-वैजयन्ती फहराना। किन्तु अन्तर भी स्पष्ट है। 'रत्नाकर' जी की रचना में भ्रमरोल्लेख नहीं है और इसीलिए यह अपना नाम सार्थक कर.

रही है। 'रत्नाकर' जी फारसी के भी ज्ञाता थे और उनके 'उद्धवशतक' पर सूफी प्रेमाख्यान का प्रभाव साफ है। इस प्रबंध काव्य का शिल्प मसनवी-जैसा है क्योंकि इसमें शुक के द्वारा नायिका का नामोच्चारण होता है। नायिका का ध्यान आते ही नायक मूर्च्छित हो जाता है। और इस प्रकार तरल विकलता का भार वह स्वयं स्वीकार कर लेता है। इस वस्तु विधान में नवीनता तो है किन्तु वह विषय की स्वाभाविक मार्मिकता के अनुकूल तथा पात्रोचित नहीं है। दूसरे शब्दों में यह नवीनता मौलिकता (विकसित नवीनता या नूतन विकास) नहीं सिद्ध हो पायी।

यों 'उद्धवशतक' सूरदास के 'भ्रमरगीत', नंददास के 'भँवरगीत' और प्रेमाख्यानक काव्यों के संगम के तीर्थ-सलिल से रचा गया एक भावुकता प्रधान प्रेमकाव्य है। प्रबंधात्मक होने के कारण यह नंददास के निकट है किन्तु भावना की दृष्टि से इसकी गोपियाँ सूरदास के निकट हैं। सूरदास की गोपियों की तरह 'रत्नाकर' की गोपियाँ भी निर्गुण या ज्ञान के विरोध में तर्क उपस्थित न कर अपनी भावात्मकता एवं प्रेमावेग ही प्रदर्शित करती हैं—

१. मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की।

२. एक मनमोहन तौ बसिकै उजार्‌यौ मोहि,
हिय मैं अनेक मनमोहन बसावौ ना।

३. मुक्ति-मुकता कौ मोलमाल ही कहा है जब
मोहनलला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं।

पर यह ठीक है कि 'उद्धवशतक' के कुछेक स्थल मार्मिक हैं और उपर्युक्त पंक्तियाँ भावुक प्राणों को छूती हैं। कहीं-कहीं तो इन पंक्तियों में समृद्ध प्रभावोत्पादकता (Vivacity) है जो सादगी और मुहावरे-दारी के भीतर से उमड़ती है, जैसे—

पत्नी ऐसी मिली थीं जिनका स्वभाव इनसे सर्वथा भिन्न था। सत्यनारायण के अल्पायु होने का मुख्य कारण उनका असफल दाम्पत्य जीवन माना गया है।

वे किशोरावस्था से ही ब्रजभाषा की मधुर कविता लिखने लग गए थे और, कहते हैं, वे सवैया तो इस तरह पढ़ते थे कि श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते थे वे मित्रों को बहुधा पद्यबद्ध पत्र ही लिखा करते थे।

सत्यनारायण किसी को ना कहना जानते ही न थे। इसका अनुचित लाभ उठाकर लोग उनसे उत्सवोपयोगी या नेताओं के अभिनंदनादि के लिए पद्य लिखाया करते थे और उनका बहुत समय इस या ऐसे ही अन्य कार्यों में लग जाता था। यही कारण है कि स्वामी रामतीर्थ, गोखले, तिलक, सरोजनी नायडू अथवा काशी विश्वविद्यालय, कुलीप्रथा आदि के संबंध में लिखी उनकी बहुसंख्यक कविताएँ समयोपयोगी चाहे जितनी रही हों, स्थायी महत्त्व की नहीं हैं।

फिर भी सत्यनारायण की कुछेक काव्य-कृतियाँ ऐसी अवश्य हैं जिनसे उनकी प्रतिभा का पता चलता है। ऐसी रचनाओं में उनकी दो लम्बी कविताएँ 'प्रेमकली' और 'भ्रमरदूत' विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

सत्यनारायण ने ब्रजभाषा में लिखा है और उनकी उत्कृष्ट रचनाओं का विषय भी परंपरागत है, किन्तु भाषा और विषय-वस्तु दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने विशिष्ट मौलिकता का परिचय दिया है। उदाहरण के लिए, उन्होंने 'भ्रमरदूत' में विप्रलंभ श्रृङ्गार की परम्परा में मौलिक परिवर्त्तन यह कर दिया है कि माता यशोदा; गोपियाँ नहीं, द्वारका में श्रीकृष्ण के पास सँदेसा भेजती हैं। इतना ही नहीं यशोदा के मुख से ब्रज की दशा का जो वर्णन उन्होंने कराया है उससे सत्यनारायण के युग में भारतीय नारियों की जो दयनीय दशा थी उसकी भी मर्मभेदिनी झलक मिलती चलती है। सत्यनारायण ने पौराणिक आख्यान को बुद्धि-ग्राह्य और शिक्षा प्रद रूप देने की चेष्टा में 'हरिऔध' जी की तरह उसकी सरसता नष्ट

नहीं होने दी है, पर ये दोनों काम भी उससे निकाल लिए हैं और उसकी मार्मिकता भी अक्षुण्ण रखी है।

सत्यनारायण ने 'भ्रमरदूत' में नंददास के 'भ्रमरगीत' का ही रूप-विधान लिया है, किन्तु न केवल वस्तु और दृष्टिकोण में, अपितु शैली में भी मौलिकता बनाए रखी है। सत्यनारायण ने नंद की तरह साहित्यिक ब्रजभाषा में 'भ्रमरदूत' की रचना न कर बोलचाल की मुहावरेदार ब्रज-भाषा का ही प्रयोग किया है। इन्होंने 'मैकाले' के प्रबंध काव्य 'होरेशस' तथा भवभूति के नाटक 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद भी किया था।

▲

जयशंकर 'प्रसाद'

जयशंकर 'प्रसाद' आधुनिक हिंदी साहित्य के सबसे सरस, गंभीर और मनस्वी कवि थे। आधुनिक युग में 'प्रसाद' जी ही हिन्दी के एक मात्र ऐसे बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे जो अंत तक अपने कविरूप में एकरस रहकर ठोस एवं स्थायी साहित्य (गद्य एवं पद्य दोनों ही) की रचना करते रहे। वे खड़ी बोली के इतिहास में एक नये युग के विधाता थे। कविता, कहानी और नाटक—इन तीनों में ही उन्होंने एक नयी परंपरा का शिलान्यास किया था। वे हिन्दी साहित्य के रवीन्द्र थे।

हिन्दी काव्य में छायावाद का इतिहास 'प्रसाद' जी से ही शुरू होता है। छायावादी कविता का आरंभ करनेवालों—प्रसाद, पंत और निराला—में 'प्रसाद' जी ही अगुआ थें। "आज से बहुत वर्ष पूर्व, जब छायावाद के दो देवदूत—पंत और निराला—विद्यालयों में 'कागजी कुसुम' और 'सिगरेट का धुँआ' से खेला करते थे, एक मनस्वी कलाकार (जयशंकर 'प्रसाद') अपनी रंगीन कल्पना और स्वस्थ भावुकतापूर्ण डोरियों से इस

युग का (छायावाद के युग का) ताना-बाना बुन रहा था।" 'प्रसाद' जी हिन्दी साहित्य में आधुनिक छायावाद के प्रवर्त्तक थे।

'प्रसाद' जी की निम्नलिखित आरंभिक पंक्तियों में छायावाद ने पहली बार हमें दर्शन दिया था--

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।

और 'कामायनी' लिखकर 'प्रसाद' जी वस्तुतः छायावादी कविता को उस हद तक ले गए जहाँ से आगे की राह अभी तक किसी ने ढूँढ़ी नहीं है। 'कामायनी' छायावाद का एक मात्र और खड़ी बोली का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक-सी रही तब, मैं मलय की बात रे मन !
(कामायनी)

ऐसी अमर पंक्तियों से भरी 'कामायनी' छायायुग का आकाशदीप है।

'प्रसाद जी की कविता के तीन मुख्य विषय हैं—१- भारत और भारतीय संस्कृति, २. प्रेम, यौवन और वेदना तथा—३. दर्शन। स्वदेश प्रेम के गीत अपने ओज और प्रवाह के लिए प्रसिद्ध हैं। ये गीत उद्‌बोधन और जागरण के गीत हैं। इनमें वीरतापूर्ण वातावरण का अपूर्व निर्माण हुआ है।

१. हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार
जगे हम, लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संस्तृति हो उठी अशोक
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस, वैसा ज्ञान
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष

('स्कंदगुप्त' में मातृगुप्त का गीत)

२. हिमाद्रि तुङ्ग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती—
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य-पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

('चन्द्रगुप्त' में अलका का गीत)

३. अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

('चन्द्रगुप्त' में कार्नेलिया का गीत)

४. पैरों के नीचे जलधर हों बिजली से उनका खेल चले।
संकीर्ण कगारों के नीचे शतशत झरने बेमेल चलें।
सन्नाटे में हो विकल पवन पादप निज पद हों चूम रहे।
तब भी गिरिपथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले।

अपनी ज्वाला को आप पिये नव-नील कंठ की छाप लिये।
विश्राम शांति को शाप दिये, ऊपर ऊँचे सब झेल चले।

('ध्रुवस्वामिनी' में मंदाकिनी का गीत)

ये सब ऐसे गीत हैं जो वीरता का समा बाँध देते हैं। कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो इन गीतों को सुनकर अपनी नसों में देश-प्रेम और आर्य संस्कृति की गर्मी का अनुभव न करे ?

प्रेम-गीतों में अपूर्व कल्पना-माधुरी है। ऐसी रूमानी (Romantic) पर जीवंत कल्पना हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलती। मुख पर बिखरे हुए बालों का एक वर्णन देखिए—

बाँधा विधु को किसने इन काली जंजीरों से ?
मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से ?

'प्रसाद' जी की कल्पना में एक अजीब चित्रमयता भी होती है। अमूर्त यौवन का मूर्त्तिव भाव-सौंदर्य देखिए—

शशि मुख पर घूँघट डाले, अंचल में दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली में कौतूहल से तुम आये॥

जवानी के आने का यह वर्णन कितना चित्रमय है ? 'प्रसाद' जी ने एक जगह स्वयं ही अपनी कल्पना के प्रति कहा है—

आह ! कल्पना का सुंदर यह
जगत मधुर कितना होता।
सुख-स्वप्नों का दल छाया में
पुलकित हो जगता सोता।

वस्तुतः कवि की ये पंक्तियाँ कवि के अपने ही काव्य पर चरितार्थ होती हैं।

प्रसाद के दार्शनिक गीत शैवदर्शन के आनंदवाद से संबंध रखते हैं।

इन गीतों में एक रहस्य-लोक और आनंदधाम की कल्पना की गई है।

छंद-योजना के क्षेत्र में भी 'प्रसाद' जी एक युग-प्रवर्त्तक रहे हैं। उन्होंने हिन्दी में पहली बार सॉनेट (Sonnet) जैसे अंग्रेजी छंद का प्रयोग किया। आज के प्रयोगवादी कवि काव्य-पंक्तियों के बीच में भी पूर्ण विराम-चिह्न रखते हैं। ऐसा प्रयोग सर्व प्रथम हिन्दी काव्य में 'प्रसाद' जी ने ही किया था।

आधुनिक मौलिक कहानियों का श्रीगणेश भी एक प्रकार से 'प्रसाद' जी से होता है। यों तो 'जमाना' नामक उर्दू पत्रिका में प्रेमचंद जी की कहानी १९०७ ई० में छप चुकी थी किन्तु हिन्दी 'सरस्वती' में उनकी पहिली कहानी 'पंच परमेस्वर' १९१६ ई० में छपी। इधर जयशंकर 'प्रसाद' जी की कहानी 'ग्राम' १९११ ई० में ही प्रकाशित हो चुकी थी। इस भाँति हिन्दी के कहानी-क्षेत्र में प्रेमचंद जी भी 'प्रसाद' जी के बाद ही आए।

कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद और 'प्रसाद' दोनों एक दूसरे के पूरक थे। प्रेमचंद ने हमारे वर्तमान जीवन की कठोर वास्तविकता की यथार्थ अभिव्यक्ति की ओर तथा प्रसाद ने प्राचीन भारतीय जीवन के साथ हमारी आज की जिन्दगी को रखकर एक नवीन आदर्श की ओर संकेत किया। एक में व्यक्त घटनाएँ प्रधान हैं. दूसरे में व्यक्त व्यापार से अधिक अव्यक्त भावना को प्राधान्य मिला है। प्रेमचंद जीवन की मोटी साइकोलौजी पर चलने वाले थे और 'प्रसाद' मानव-हृदय की सूक्ष्म और सुकुमार मनोवृत्तियों का विश्लेषण करनेवाले। एक ने पुरुष-हृदय को पहचाना और दूसरे ने नारी के हृदय के स्पष्टीकरण में अधिक सफलता पाई। प्रेमचंद का कथनोपकथन नाटकीय है जो कहीं-कहीं Melodramatic हो जाता है। प्रसाद का कथनोपकथन स्निग्ध और कवित्वपूर्ण है, जिससे अध्ययन का आनंद आता है। एक की भाषा प्रसादपूर्ण, सजीव, उर्दू की जोश और रवानी से भरी, मुहावरों की चुस्ती और कलाम की सफाई से युक्त है, दूसरे

की भाषा एक पहुँचे हुए व्यक्ति की भाँति बालसुलभ चपलताओं से हीन, धीर व्यक्तित्व लिए खड़ी है। प्रेमचंद की कहानियों में एक डिजाइन है। वे एक निश्चित गति से आरंभ होती हैं और एक निश्चित परिस्थिति में उनका अन्त होता है, जहाँ पाठक की सारी जिज्ञासाएँ एक बारगी शांत हो जाती हैं। 'प्रसाद' की कहानियों का अन्त अकस्मात् होता है। वे पाठक को शांति देने की जगह भावोत्तेजन (Thought Provocation) भरती हैं।

'प्रसाद' कहानी-क्षेत्र में भी एक स्कूल बन गए जहाँ कितनों की प्रतिभा ने प्रेरणा ग्रहण की। प्रसाद के 'आकाशदीप', रायकृष्ण दास के 'सुधांशु' तथा विनोदशंकर की 'तूलिका' में वस्तु का कितना साम्य है ?

'प्रसाद' के उपन्यास 'वस्तुवादी कला के श्रेष्ठ उदाहरण' हैं। वस्तु की यथार्थता, नाटकीय तत्त्व के समावेश, और कवित्व के मधुवेष्टन के कारण दोनों उपन्यास सरस्वती के श्रृङ्गार की वस्तु बन गये हैं। स्मरण रखना चाहिये कि एक संघटित और चुस्त कथानक के अन्तर्गत रोचक घटना चक्र और अतिशय रोचक वर्णन-शैली में अङ्कित होकर समाज के अत्याचारों और पाखंडों की यह कथा अतीव मार्मिक हो गई है। 'कंकाल' की यह सफलता हिन्दी में अपूर्व है। आधुनिक अँग्रेजी साहित्य में गॉल्सवर्दी के नाटक व्यक्ति पर समाज के अत्याचारों को दिखाते हैं। विपन्नता के चित्रण में वे सामयिक साहित्य में शायद सर्वोच्च स्थान रखते हैं पर उनके पात्रों का अर्थकष्ट हमें उतना अधिक आकर्षित नहीं करता, जितना 'कंकाल' के पात्रों की समाज-पीड़ा, दंभ और दुर्गुणों का भंडाफोड़, नकली और खोखले आदर्शों की निस्सारता। वे समाज के अनर्थकारी बन्धनों की जटिलता के प्रदर्शन पद-पद पर करते हैं। समाज का यह रूप देखकर हम आशंकित और क्षुब्ध होते हैं अश्लीलता की शिकायत नहीं करते। ग्लानि, क्षोभ और विडंबना के भाव ही हम पर अधिकार कर लेते हैं। इस महाकार और विनाशकारी कालिमा का प्रदर्शन तथा उसके प्रति

विद्रोह का सृजन ही उपन्यास का लक्ष्य है। इन उपन्यासों की तुलना वाल्टर स्कॉट के 'आइवन' अथवा विक्टर ह्यूगो के 'ला मिजरेबुल्स' से की जा सकती है।

'प्रसाद' की नाट्य-प्रतिभा ने इस क्षेत्र में एक नवीनयुग का विधान किया। 'सज्जन' लेकर वे आए जिसमें संस्कृत नाटकों का अनुकरण है और उन्हीं की शैली का कंठ-स्वर भी।

वस्तुतः 'विशाख' से उनकी स्वतंत्र कला का आरम्भ होता है, 'अजात-शत्रु' में वह एक प्रौढ़ रूप पकड़ती है और 'स्कंदगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी में उत्कर्ष की चरम कोटि को पहुँच जाती है। 'प्रसाद' ने न यूनान की निराशामयी दुखान्तता ली है और न केवल संस्कृत नाटकों की कौतूहलपूर्ण सुखान्तता तक ही अपने को सीमित किया है। एक निस्संग जीवन-स्रष्टा की भाँति उसने सुख-दुख से भरे जीवन को अपने करुण-मधुर नाटक में उतारा है। इसलिए 'प्रसाद' के नाटक न तो सुखांत हैं, न दुखांत, वरन् 'प्रसादान्त' हैं।

'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटक साहित्य के अभिमान के उपकरण हैं। इतिहास की सत्यता और काव्य की कल्पना का यह मिलन अनूठा है— अभूतपूर्व और बेपनाह! सामाजिक प्रयोगों की यह सरस कहानी सुनते ही बनती है। 'प्रसाद' ने पहली वार हिन्दी नाटकों को साहित्यिक रूप दिया। जिस तरह गेटे (जर्मन साहित्यकार) तक रंगमंच को जाना पड़ा उसी तरह प्रसाद तक हिन्दी के रंगमंच को जाना चाहिये।

काशी के श्री शिवरत्न के यहाँ पौत्र के रूप में जयशंकर का जन्म माघ शुक्ल १२ सं० १९४६ को हुआ। सौंदर्य और शील से युक्त बालक जयशंकर इस वैश्यकुल के लिये भी अभिमान था। कसरत और घोड़े की सवारी ने उसके शरीर को और भी सुडौल तथा भव्य बना दिया था।

आरम्भिक शिक्षा घर पर शुरू हुई। बाद में क्वींस कॉलेज में आये। १२ वर्ष का जयशंकर जब आठवीं कक्षा में पढ़ रहा था तभी पिता की मृत्यु हो गई। कालेज छूट गया। हाँ, अग्रज श्री शम्भुरत्न की देख-रेख में घर पर ही हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी, और उर्दू की पढ़ाई चलती रही। पाँच वर्ष के बाद जयशंकर से शम्भुरत्न का स्नेह भी छिन गया। परिवार का दुर्वह भार-वहन करते हुए किशोर जयशंकर के साथी रह गये संस्कृत ग्रन्थ। इन्हीं के फलस्वरूप आगे चलकर प्रसादजी ने अपने प्राचीन-सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध-कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद्, स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी साहित्य को परिपूरित किया।' समस्यापूर्ति करने वाले कवियों का जो जमघट इनके घर पर लगा रहता था उसने बचपन में ही प्रसाद के हृदय में काव्य की अभिरुचि उत्पन्न कर दी थी। वे छिप-छिपकर तुकबंदियाँ जोड़ा करते। १५ वर्ष का जयशंकर दूकान के बही-खाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविताएँ करता और अन्यमनस्क हो फेंक देता। अग्रज की डाट भी सुननी पड़ती। १९०८ ई० तक 'प्रसाद' जी की ब्रजभाषा में लिखी कविताएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी आने लगी।

'प्रसाद' जी की प्रथम कविता 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। उसके बाद वे नूतन भाव और नयी शैली लेकर खड़ी बोली के क्षेत्र में आए। १९११ में 'ग्राम' शीर्षक कहानी निकली। उसी समय के लगभग 'प्रसाद' के कई कविता-संग्रह निकले—'कानन कुसुम', 'प्रेम पथिक' और 'महाराणा का महत्व' 'सज्जन' नाटक निकला। आँसू (१९२५ ई०) के बाद प्रसाद साहित्य-देवता बन गए। एक से एक अनूठी रचनाएँ निकलीं। नौ कविता-संग्रह (कानन कुसुम, प्रेम-पथिक, चित्राधार, महाराणा का महत्व, करुणालय, आँसू, लहर, झरना, और कामायनी), दस नाटक (सज्जन, करुणालय, प्रायश्चित्त, राज्यश्री, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, एक घूँट और ध्रुवस्वामिनी), दो उपन्यास (कंकाल

और तितली) और पाँच कहानी-संग्रह (ग्राम, छाया, आकाशदीप, इन्द्र-जाल और आँधी) इनके जीवन काल में ही प्रकाशित हो गये थे। 'प्रसाद' जी की मृत्यु के उपरान्त नन्ददुलारे वाजपेयी ने उनके निबंधों का एक संग्रह 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' के नाम से प्रकाशित कराया। 'कामायिनी' की समाप्ति के बाद प्रसादजी 'इरावती' उपन्यास लिखना चाहते थे। किन्तु वह अधूरा ही रह गया। उनकी मृत्यु के बाद वह प्रकाशित कर दिया गया है। २२ जनवरी, १९३३ को ज्वर-ग्रस्त हो गए। राज-यक्ष्मा रोग हो गया। डाक्टरों ने बनारस छोड़ने की राय दी किन्तु शंकर ने काशी न छोड़ने की प्रतिज्ञा कर ली। नवम्बर में हालत और खराब हो गई और ११ नवम्बर, १९३७ ई० को उनका देहावसान हो गया।

▲

संग्रह

ब्रजभाषा–काव्य

कवि	पृष्ठ

कवि	पृष्ठ
ध्रुवदास	१५१
घनानंद	१५५
मतिराम	१६१
कुलपति मिश्र	१६४
बेनी	१६५
तोष	१६९
दूलह	१७०
देव	१७२
बैताल	१७७
वृंद	१८०
भिखारीदास	१८४
नागरीदास	१८६
लाल	१८८
गिरिधर कविराय	१८९
ठाकुर	१९१
सूदन	१९४
बोधा	१९६
पद्माकर	१९८
ग्वाल	२०१
भारतेन्दु हरिश्चंद्र	२०४
बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'	२०८
प्रतापनारायण मिश्र	२११
नाथूराम शंकर शर्मा	२१४

कुंभनदास

रूप-वर्णन

नंदनंदन नवल कुँवर व्रज वरसौ, भाग सीवाँ बदन ओप,
निरखि सखी नैननि मन हरत री।
स्याम-सेत अति सुअच्छ, बंक चपल चितवनि सों,
मनहुँ सरद-कमल ऊपर खंजन द्वै लरत री॥
अलकावलि मधुप पाँति, अँग-अँग छवि कहि न जाति,
निरखति सुंदर जु बदन के पाँयन परत री।
'कुंभनदास' प्रभु गिरिधरन, स्याम रूप सोंहिनी सों,
देव-भूमि पाताल जुवती सहज ही बस करत री।१।

सुंदर सत्ता की सीवाँ नैन।
परम स्वच्छ चपल अनियारे, सहज लजावत मैंन॥
कमल-मीन-मृग खग आधीनहिं, तजि अपने सुख-चैन।
निरखि सबनि सखि, एक अंस पर सब सुख के ये दैंन॥
जब अपने रस गूढ़ भाव करि, कछुक जनावत सैंन।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, जुवतिन मन हरि ऐंन॥२॥

रूपासक्ति

नैन भरि देखौ नंदकुमार।
ता दिन तें सब भूलि गई हौं, बिसरयौ पन परवार॥
बिन देखे हौं बिकल भई हौं, अंग-अंग सब हारि।
तातें सुधि है साँवरि मूरति की, लोचन भरि-भरि वारि॥
रूप-रासि पैमित नहीं मानों, कैसे मिलै लौ कन्हाई।
'कुंभनदास' प्रभु गोवरधन-धर, मिलियै बहुर री माई॥३॥

कबहूँ देखि हौं इन नैननु।
सुंदर स्याम मनोहरि मूरत अंग-अंग सुख दैननु॥
वृंदावन विहार दिन-दिन प्रति, गोपवृंद सँग लैननु।
हँसि-हँसि हरषि पतौवन पावन, बाँटि-बाँटि पथ फैननु॥
'कुंभनदास' किते दिन बीते, किये रैंन सुख सैननु।
अब गिरिधर बिन निसि अरु बासर, मन न रहत क्यों चैननु।४।

प्रेमासक्ति

हनि ढोटा हौं डहकी माई।
चितवनि में कछु टौना कीनों, मोहन मंत्र पढ़ाई॥
विकल भई मन लीने डोलति, बिनु देखै न रहाई।
बाट-घाट, पुर, वन-वीथिन में, लोक कहै बौराई॥
मगन भई मन स्याम-सिंधु में, खोजत ही मैं हिराई।
'कुंभनदास' प्रभु गोबरधन-धर बात कही समुझाई॥५॥

जो पै चोंप मिलन की होय।
तौ क्यों रहै ताहि बिनु देखें लाख करौ किन कोय॥
जो यह बिरह परसपर व्यापै जो कछु जीवन बनै।
लोक-लाज कुल की मरजादा एकौ चित्त न गनै॥
'कुंभनदास' प्रभु जाय तन लागी और न कछु सुहाय।
गिरिधरलाल तोहि बिनु देखै, छिन-छिन कलप बिहाय॥६॥

हिलगिन कठिन है या मन की।
जाके लिऐं देखि मेरी सजनी, लाज गई सब तन की॥
धर्म जाउ अरु हँसौ लोग सब, अरु आवहु कुल गारी।
सो क्यों रहै ताहि बिन देखै, जो जाकौ हितकारी॥
रस लुब्धक छिन निमिष न छाँड़त, ज्यों अधीन मृग गान।
'कुंभनदास' सनेह परम श्री गोबरधन-धर जानै॥७॥

बतियाँ तेरी ये जिय भावत।
तब ही लौं सुख गिरधरन छबीले, जौलौं रह्यौ सुनावत॥
तबही तें जिय चटपटी लागत, जब ही छिनु घर आवत।
एक तें एक पढ़ी बन बोलत, चैन न क्यौं हूँ पावत॥
बारंबार यह चरचा सीखी, और न जियहिं सुहावत।
'कुंभनदास' प्रभु अति आतुर चित, प्रेम पयोधि रहावत॥८॥

परम भावते जिय के हो मोहन, नैननि आगे तें जिन टरहु।
तौलौं जीऊँ, जौलौं देखौं बार-बार, पाँ लागौं चित्त अनत न धरहु॥
तन सुख चैन तौहिलौं प्यारे, जौलौं लैलै आँकौं भरहु।
रसिकन माँझि रसिक नंदनंदन, तुम पिय मेरे सकल दुख हरहु॥
आवहु जाहु रहहु घर मेरे, स्याम मनोहर संक न करहु।
'कुंभनदास' तुव गोबरधन-धर, तुम अरि-गंजन काते डरहु॥९॥

उत्सव-संबंधी

हिंडोरे माई झूलति हैं ब्रजनारी।
सावन मास फुही थोरी-थोरी, तैसिय भूमि हरियारी॥
नव बन, नव घन, नव चातक पिक, नवल कसूमी सारी।
नवल किसोर बाम अंग सोभित, नव वृषभान दुलारी॥
विद्रुम खंभ, जटित नग पटुली, डाँड़ी सरस सँवारी।
'कुंभनदास' प्रभु मधुरे झोटा, देत लाल गिरिधारी॥१०॥

लीला-संबंधी

आई रितु चहुँ-दिसि फूले द्रुम-कानन,
कोकिला-समूह मिलि गावत बसंतहिं।
मधुप गुंजरत, मिल सप्त-सुर,
भयौ है हुलास तन-मन सब जंतहिं॥

मुदित रसिक जन उँमगि भरे हैं,
नहिं पावत मनमथ-सुख-अंतहिं।
'कुंभनदास' स्वामिनि वेगहिं चलि,
यह समऐं मिलि गिरिधर नव कंतहिं ॥११॥

गाय खिलावत स्याम सुजान।
कूँकैं ग्वाल टेरि दै ही-ही, बाजत बेंनु, विषान॥
कियौ सिंगार धेनु सगरिन कौ, को करि सकै बखान।
फिर-फिर फिरत पूंछ उन्नत कै, करि-करि सूधे कान॥
पाँइ पैजनी, म्हेंदी राजति, पीठि पुरट के पान।
'कुंभनदास' खेलि गिरिधर पैजिहि विधि उठी उठान ॥१२॥

यातें तू भावत मदन गोपालै।
सारंग राग सरस अलापति, सुघर मिलत एक तालै॥
अति ही अनागति औघर आनत, सप्तक कंठ मरालै।
गावत अलापत सुरत संच मिलि, किंकिनी कूजित जालै॥
'कुंभनदास' प्रभु रसिक सिरोमनि, सोहति रति पति बालै।
गावत हस्तक भेद दिखावत, गोबरधन-धर लालै ॥१३॥

अब दिन रात पहार से भये।
तब तें निघटति नाहिंन, जब तें हरि मधुपुरी गये॥
यह जानिऐं विधाता जुग सम, कीने जाम नये।
जागत जाग विहाग न जाने, ऐसे प्रीति ठये॥
ब्रजवासी अति परम दीन भये, व्याकुल सोच लये।
प्रान दुखित उन जलरुह गन के, दारुन हेम पये॥
'कुंभनदास' बिछुरति नँदनंदन, बहुत संताप कये।
अब गिरिधर बिन रहत निरंतर, नौतन नीर छये ॥१४॥

कृष्न तरनि-तनया तीर रास-मंडल रच्यौ,
अधर केल मुरलिका वेणु बाजैं।
जुवती जन जूथ संग, निर्तत अनेक रंग,
निरखि अभिमान तजि काम लाजैं॥
स्याम तन पीत कौसेय सुभ पद नखनि,
चंद्रिका सकल कलिमल-हर भुव भ्राजैं।
ललिता अवतंस संभु, धनुष लोचन चपल,
चितवनि मानौं मदन-बान साजैं॥
मुखर मंजीर, कटि-किंकिनी कुनित रव,
वचन गंभीर जनु मेघ गाजैं।
दास 'कुंभनदास' कुंभ दास हरिदास वर्य,
धरनि नख-सिख स्वरूप अद्भुत विराजैं॥१५॥

❀

सूरदास

विनय तथा भक्ति

मंगलाचरण

चरन-कमल बंदौं हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराइ।
'सूरदास' स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहिं पाइ॥१॥

सगुणोपासना

अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूंगैं मीठे फल कौ रस अंतरगत हीं भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै॥२॥

सरन गए को को न उबारयौ।
जब जब भीर परी संतनि कौं, चक्र सुदरसन तहाँ सँभारयौ।
भयौ प्रसाद जु अंबरीष कौं, दुरबासा कौ क्रोध निवारयौ।
ग्वालनि हेत धरयौ गोबरधन, प्रकट इंद्र कौ गर्ब प्रहारयौ।
कृपा करी प्रहलाद भक्त पर, खंभ -फारि हिरनाकुस मारयौ।
नरहरि रूप धरयौ करुनाकर, छिनक माहिं उर नखनि बिदारयौ।
ग्राह ग्रसत गज कौं जल बूड़त, नाम लेत वाकौ दुख टारयौ।
'सूर' स्याम बिनु और करै को, रंग-भूमि मैं कंस पछारयौ॥३॥

अविद्या माया

बिनती सुनौ दीन की चित दै, कैसैं तुव गुन गावै ?
माया नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वाँग बनावै।
तुम सौं कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै।
मन अभिलाष-तरंगनि करि करि, मिथ्या निसा जगावै।
सोवत सपने मैं ज्यौं संपति, त्यौं दिखाइ बौरावै।
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै।
ज्यौं दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावै।
मेरे तो तुम पति, तुमहीं गति, तुम समान को पावै ?
'सूरदास' प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु, को मो दुख बिसरावै ॥४॥

जो सुख होत गोपालहिं गाएँ।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाएँ।
दिएँ लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाएँ।
तीन लोक तृन-सम करि लेखत, नंद-नंदन उर आएँ।
बंसीबट, बृंदाबन, जमुना तजि बैकुंठ न जावै।
'सूरदास' हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै ॥५॥

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ बिषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा-सब्द-रसाल।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या दूरि करौ नंदलाल ॥६॥

हमारे प्रभु, औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलौ नीर भरौ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै, गंगा नाम परौ।
तन माया, ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इनकौ निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ ॥७॥

राखौ पति गिरिवर गिरि-धारी!
अब तौ नाथ, रह्यौ कछु नाहिन, उघरत नाथ अनाथ पुकारी।
बैठी सभा सकल भूपनि की, भीषम-द्रोन-करन ब्रतधारी।
कहि न सकत कोउ बात बदन पर, इन पतितनि मो अपति बिचारी।
पांडु-कुमार पवन से डोलत, भीम गदा कर तैं महिं डारी।
रही न पैज प्रबल पारथ की, जब तैं धरम-सुत धरनी हारी।
अब तौ नाथ न मेरौ कोई, बिनु श्रीनाथ-मुकुंद-मुरारी।
'सूरदास' अवसर के चूकैं फिरि पछितैहौ देख उघारी ॥८॥

द्वै मैं एकौ तौ न भई।
ना हरि भज्यौ, न गृह सुख पायौ; वृथा बिहाइ गई।
ठानी हुती और कछु मन मैं, औरै आनि ठई।
अबिगत-गति कछु समुझि परत नहिं, जो कछु करत दई।
सुत सनेहि-तिय सकल कुटुंब मिलि, निसि-दिन होत खई।
पद-नख-चंद चकोर बिमुख मन, खात अंगार मई।
विषय-विकार-दवानल उपजी, मोह-बतारि लई।
भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायौ, अजहुँ न टेंव गई।
होत कहा अबके पछिताएँ; बहुत बेर बितई।
'सूरदास' से दे न कृपानिधि, जो सुख सकल मई ॥९॥

प्रबोध

सब तजि भजिए नंद कुमार।
और भजे तैं काम सरै नहिं, मिटै न भव जंजार।
जिहिं जिहिं जौनि जन्म धारयौ, बहु जोरयौ अघ कौ भार।
तिहिं काटन कौं समरथ हरि कौ तीछन नाम-कुठार।
बेद, पुरान, भागवत, गीता, सब कौ यह मत सार।
भव-समुद्र हरि-पद-नौका बिनु कोउ न उतारै पार।
यह जिय जानि, इहीं छिन भजि, दिन बीते जात असार।
'सूर' पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ फिरि संसार ॥१०॥

चित्-बुद्धि-संवाद

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग।
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर, गुंजत निगम सुवास।
जिहिं सर सुभग-मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै।
लक्ष्मी-सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित 'सूरजदास'।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस ॥११॥

आत्मज्ञान

आपुनपौ आपुन ही मैं पायौ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ।
ज्यौं कुरंग-नाभी कस्तूरी, ढूँढ़त फिरत भुलायौ।
फिरि चितयौ जब चेतन ह्वै करि, अपनैं ही तन छायौ।
राज-कुमारि कंठ-मनि-भूषन भ्रम भयौ कहूँ गवायौ।
दियौ बताइ और सखियनि तब, तनु कौ ताप नसायौ।

सपने माहिं नारि कौं भ्रम भयौ, बालक कहुँ हिरायौ।
जागि लख्यौ, ज्यौं कौ त्यौं ही है, ना कहुँ गयौ न आयौ।
'सूरदास' समुझै की यह गति, मनहीं मन मुसुकायौ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूँगैं गुर खायौ ॥१२॥

गोकुल-लीला

शैशव चरित

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तोकौं कान्ह बुलावै।
कबहुँक पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावै।
इहिं अंतर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरैं गावै।
जो सुख 'सूर' अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद भामिनि पावै ॥१३॥

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले, हरषि-हरषि अपनैं रङ्ग खेलत।
सिव सोचत, बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ़्यौ सागर-जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग दंतीनि सकेलत।
मुनि मन भीत भए, भुव कंपित, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रज-बासिनि बात न जानी, समुझे 'सूर' सकट पग ठेलत ॥१४॥

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसौं कहत मोल कौ लीन्हौ तू जसुमति कब जायौ।
कहा करौं इहि रिस के मारैं खेलन हौं नहिं जात।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।

गोरे नंद जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोहीं कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहु न खीझै।
मोहन-मुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
'सूर' स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥१५॥

कान्हहिं बरजति किन नँदरानी।
एक गाउँकैं बसत कहाँ लौं, करैं नंद की कानी।
तुम जो कहति हौ, मेरौ कन्हैया, गंगा कैसौ पानी।
बाहिर तरुन किसोर बयस बर, बाट घाट कौ दानी।
बचन बिचित्र, कमल-दल-लोचन, कहत सरस बर बानी।
अचरज महरि तुम्हारे आगैं आवै जीभ तुतरानी।
कहँ मेरौ कान्ह, कहाँ तुम ग्वारिनि, यह बिपरीति न जानी।
आवति 'सूर' उरहने कैं मिस, देखि कुँअर मुसुकानी ॥१६॥

बन तैं आवत धेनु चराए।
संध्या समय साँवरे मुख पर, गो-पद-रज लपटाए।
बरह मुकुट कैं निकट लसति लट, मधुप मनौ रुचि पाए।
बिलसत सुधा जलज आनन पर, उड़त न जात उड़ाए।
बिधि बाहन-भच्छन की माला, राजत उर पहिराए।
एक बरन बपु नहिं बड़ छोटे, ग्वाल बने इक धाये।
'सूरदास' बलि लीला प्रभु की, जीवत जन जस गाए ॥१७॥

मैया बहुत बुरो बलदाऊ।
कहन लग्यौ बन बड़ो तमासौ, सब मौड़ा मिलि आऊ।
मोहूं कौं चुचकारि गयो लै, जहाँ सघन बन झाऊ।
भागि चलौ कहि, गयौ उहाँ तैं, काटि खाइ रे हाऊ।

हौं डरपौं, काँपौं अरु रोवौं, कोउ नहिं धीर धराऊ।
थरसि गयौं नहिं भागि सकौं, वै भागे जात अगाऊ।
मोसौं कहत मोल कौ लीनो, आपु कहावत साऊ।
'सूरदास' बल बड़ौ चबाई, तैसेहिं मिले सखाऊ ॥१८॥

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पाइ पिराइ।
जौ न पत्याहि पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि, गारी देति रिसाइ।
मैं पठवति अपने जरिका कौं, आवै मन बहराइ।
'सूर' स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ ॥१९॥

नाथत ब्याल बिलंब न कीन्हौ।
पग सौं चाँपि धींच बल तोरयौ, नाक फोरि गहि लीन्हौ।
कूदि चढ़े ताके माथे पर, काली करत बिचार।
स्रवननि सुनी रही यह बानी, ब्रज ह्वै है अवतार।
तेइ अवतरे आइ गोकुल मैं, मैं जानी यह बात।
अस्तुति करन लग्यौ सहसौ मुख, धन्य-धन्य जग-तात।
बार-बार कहि सरन पुकारयौ, राखि-राखि गोपाल।
'सूरदास' प्रभु प्रगट भए जब, देख्यौ ब्याल बिहाल ॥२०॥

मुरली

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहैं, जमुना-जल न बहत ॥
खग मोहैं, मृग-जूथ भुंलाहीं, निरखि मदन-छबि छरत।
पसु मोहैं, सुरभी बिथकित, तृन दंतनि टेकि रहत ॥
सुक सनकादि सकल मुनि मोहैं, ध्यान न तनक गहत।
'सूरजदास' भाग हैं तिनके, जे या सुखहिं लहत ॥२१॥

मुरली तऊ गुपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नँदलालहिं, नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाइ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आज्ञा करवावति, कटि टेढ़ौ ह्वै आवति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नार नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर पल्लव पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, नैन नासा-पुट, हम पर कोप करावति।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छिन, धर तैं सीस डुलावति॥२२॥

गोवर्धन-धारण

गिरि पर बरषन लागे बादर।
मेघवर्त्त, जलवर्त्त, सैन सजि, आए लै लै आदर॥
सलिल अखंड धार धर टूटत, किये इंद्र मन सादर।
मेघ परस्पर यहै कहत हैं, धोइ करहु गिरि खादर॥
देखि देखि डरपत ब्रजबासी, अतिहिं भए मन कादर।
यहै कहत ब्रज कौन उबारै, सुरपति कियैं निरादर॥
'सूर' स्याम देखैं गिरि अपनैं, मेघनि कीन्हौ दादर।
देव आपनौ नहीं सम्हारत, करत इंद्र सौं ठादर॥२३॥

स्याम लियौ गिरिराज उठाइ।
धीर धरौ हरि कहत सबनि सौं, गिरि गोबरधन करत सहाइ॥
नंद गोप ग्वालनि के आगैं, देव कह्यौ यह प्रगट सुनाइ।
काहे कौं व्याकुल भएँ डोलत, रच्छा करै देवता आइ॥
सत्य बचन गिरि-देव कहत हैं, कान्ह लेहि मोहिं कर उचकाइ।
'सूरदास' नारी-नर ब्रज के, कहत धन्य तुम कुँवर कन्हाइ॥२४॥

गिरि जनि गिरै स्याम के कर तैं।
करत विचार सबै ब्रजबासी, भय उपजत अति उर तैं ॥
लै लै लकुट ग्वाल सब धाए, करत सहाय जु तुरतैं।
यह अति प्रबल, स्याम अति कोमल, रबकि-रबकि हरबर तैं ॥
सप्त दिवस कर पर गिरि धार्‌यौ, बरसि थक्यौ अंबर तैं।
गोपी ग्वाल नंद-सुत राख्यौ, मेघ-धार जलधर तैं ॥
जमलार्जुन दोउ सुत कुबेर के, तेउ उखारे जर तैं।
'सूरदास' प्रभु इंद्र-गर्ब हरि, ब्रज राख्यौ करवर तैं ॥२५॥

रासलीला

चली बन बेनु सुनत जब धाइ।
मातु पिता-बांधव अति त्रासत, जाति कहाँ अकुलाइ ॥
सकुच नहीं, संका कछु नाहीं, रैनि कहाँ तुम जाति।
जननी कहति दई कि घाली, काहे कौं इतराति ॥
मानति नहीं और रिस पावति, निकसी नातौ तोरि।
जैसैं जल-प्रवाह भादौं कौ, सो को सकै बहोरि ॥
ज्यौं केंचुरी भुअंगम त्यागत, मात पिता यौं त्यागे।
'सूर' स्याम कैं हाथ बिकानी, अलि अंबुज अनुरागे ॥२६॥

तब नागरि जिय गर्ब बढायौ।
मो समान तिय और नहीं कोउ, गिरिधर मैं हीं बस करि पायौ ॥
जोइ-जोइ कहति करत पिय सोइ, सोई मेरै ही हित रास उपायौ।
सुंदर, चतुर और नहिं मोसी, देह धरे कौ भाव जनायौ ॥
कबहुँक बैठि जाति हरि-कर धरि, कबहुँ कहति मैं अति स्रम पायौ।
'सूर' स्याम गहि कंठ रही तिय, कंध चढ़ौं यह बचन सुनायौ ॥२७॥

कृपा सिंधु हरि कृपा करौ हो।
अनजानैं मन गर्व बढ़ायौ, सो जिनि हृदय धरौ हो ॥
सोरह सहस पीर तनु एकै, राधा जिव, सब देह।
ऐसी दसा देखि करुनामय, प्रगटौ हृदय-सनेह ॥
गर्व-हत्यौ तनु, बिरह प्रकास्यौ, प्यारी व्याकुल जानि।
सुनहु 'सूर' अब दरसन दीजै, चूक लई इनि मानि ॥२८॥

बनावत रास-मंडल प्यारौ।
मुकुट की लटक, झलक कुंडल की, निरतत नंद दुलारौ ॥
उर बनमाला सोह सुंदर बर, गोपिनि कैं सँग गावै।
लेत उपज नागर नागरि सँग, बिच-बिच तान सुनावै ॥
बंसीवट-तट रास रच्यौ है, सब गोपिनि सुखकारौ।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे मिलन सौं, भक्तनि प्रान अधारौ ॥२९॥

राधा-कृष्ण

प्रथम मिलन

खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी।
कटि कछनी पीतांबर बाँधे, हाथ लए भौंरा, चक डोरी ॥
मोर-मुकुट, कुंडल स्रवननि वर, दसन-दमक दामिनि-छबि छोरी।
गए स्याम रबि-तनया कैं तट, अंग लसति चंदन की खोरी ॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी ॥
संग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन-थोरी, अति छबि तन-गोरी।
'सूर' स्याम देखत हीं रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी ॥३०॥

संबंध-रहस्य

ब्रजहिं बसैं आपुहिं बिसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु, बातनि भेद करायौ ॥

जल थल जहाँ रहौं तुम बिनु नहिं बेद उपनिषद गायौ।
द्वै-तन जीव-एक हम दोऊ, सुख-कारन उपजायौ॥
ब्रह्म-रूप द्वितिया नहिं कोऊ, तब मन तिया जनायौ।
'सूर' स्याम-मुख देखि अलप हँसि, आनँद-पुंज बढ़ायौ॥३१॥

राधा परम निर्मल नारि।
कहति हौं मन कर्मना करि, हृदय-दुविधा टारि॥
स्याम कौं इक तुहीं जान्यौ, दुराचारिनि और।
जैसैं घट पूरन न डोलै, अध भरौ डगडौर॥
धनी धन कबहूँ न प्रगटै, धरै ताहि छपाइ।
तैं महानग स्याम पायौ, प्रगटि कैसैं जाइ॥
कहति हौं यह बात तोसौं, प्रगट करिहौ नाहिं।
'सूर' सखी सुजान राधा, परसपर मुसुकाहिं॥३२॥

जबहीं रथ अक्रूर चढ़े।
तब रसना हरि नाम भाषि कै, लोचन नीर बढ़े॥
महरि पुत्र कहि सोर लगायौ, तरु ज्यौं धरनि लुटाइ।
देखति नारि चित्र सी ठाढ़ी, चितये कुँवर कन्हाइ॥
इतनैं हि मैं सुख दियौ सबनि कौं, दीन्ही अवधि बताइ।
तनक हँसे, हरि मन जुवतिन कौं, निठुर ठगौरी लाइ॥
बोलतिं नहीं रहीं सब ठाढ़ी, स्याम-ठगीं ब्रज-नारि।
'सूर' तुरत मधुबन पग धारे, धरनी के हितकारि॥३३॥

भए सखि नैन सनाथ हमारे।
मदनगोपाल देखतहिं सजनी, सब दुख सोक बिसारे॥
पठये हे सुफलक-सुत गोकुल, लैन सो इहाँ सिधारे।
मल्ल जुद्ध प्रति कंस कुटिल मति, छल करि इहाँ हँकारे॥

मुष्टिक अरु चानूर सैल सम, सुनियत हैं अति भारे।
कोमल कमल समान देखियत, ये जसुमति के बारे॥
होवे जीति विधाता इनकी, करहु सहाइ सबारे।
'सूरदास' चिर जियहु दुष्ट दलि, दोऊ नंद-दुलारे॥३४॥

नवल नंद-नंदन रंगभूमि राजैं।
स्याम तन, पीत पट मनौ घन मैं तड़ित, मोर के पंख माथैं बिराजैं॥
स्रवन कुंडल झलक मनौ चपला चमक, दृग अरुन कमल दल से बिसाला।
भौंहँ सुंदर धनुष, बान सम सिर तिलक, केस कुंचित सोह भृंग माला॥
हृदय बनमाल, नूपुर चरन लाल, चलत गज चाल, अति बुधि बिराजैं।
हंस मानौ मानसर अरुन अंबुज सुभर निरखि आनंद करि हरषि गाजैं॥
कुबलया मारि चानूर मुष्टिक पटकि, बीर दोउ कंध गज-दंत धारे।
जाइ पहुँचे तहाँ कंस बैठ्यौ जहाँ, गए अवसान प्रभु के निहारे॥
ढाल तरवारि आगैं धरी रहि गई, महल कौ पंथ खोजत न पावत।
लात कैं लगत सिर तैं गयौ मुकुट गिरि, केस गहि लै चले हरि खसावत॥
चारि भुज धारि तेहिं चारु दरसन दियौ, चारि आयुध चहूँ हाथ लीन्हे।
असुर तजि प्रान निरवान पद कौं गयौ, बिमल मति भई प्रभु रूप चीन्हे॥
देखि यह पुहुप वर्षा करी सुरनि मिलि, सिद्ध गंधर्व जय धुनि सुनाई।
'सूर' प्रभु अगम महिमा न कछु कहि परति, सुरनि की गति तुरत
असुर पाई॥३५॥

नाथ अनाथनि की सुधि लीजै।
गोपी, ग्वाल, गाइ, गोसुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै॥
नैनन जलधारा बढ़ि अति, बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी विनती सुनहु हमारी, बारक हूँ पतिया लिखि दीजै॥
चरन कमल दरसन नव नवका, करुनासिंधु जगत जस लीजै।
'सूरदास' प्रभु आस मिलन की, एक बार आवन ब्रज कीज॥३६॥

देखियति कालिंदी ग्रति कारी।
अहौ पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी॥
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरंग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल-पूर प्रस्वेद पनारी॥
बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंरे भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी॥३७॥

सखी इन नैननि तैं घन हारे।
बिनहीं रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे॥
दुरि दुरि बूँद परत कंचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्ही, बिबि मूरति धरि न्यारे॥
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँड़त, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं 'सूर' को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे॥३८॥

निसि दिन बरषत नैन हमारे।
सदा रहति बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे॥
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे।
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे॥
आँसू सलिल सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे।
'सूरदास' प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहैं बिसारे॥३९॥

मेरे नैना बिरह की बेलि बई।
सींचत नैन-नीर के सजनी, मूल पताल गई॥

बिगसित लता सुभाई आपनैं, छाया सघन भई।
अब कैसैं निरवारौं सजनी, सब तन पसरि छई॥
को जानै काहू के जिय की, छिन छिन होत नई।
'सूरदास' स्वामी के बिछुरैं, लागी प्रेम जई॥४०॥

सँदेसनि मधुबन कूप भरे।
अपने तौ पठवत नहिं मोहन, हमरे फिरि न फिरे॥
जिते पथिक पठए मधुबन कौं, बहुरि न सोध करे।
कै वै स्याम सिखाइ प्रमोधे, कै कहुँ बीच मरे॥
कागद गरे मेघ, मसि खूटी, सर दव लागि जरे।
सेवक 'सूर' लिखन कौ आँधौ, पलक कपाट अरे॥४१॥

उद्धव-संदेश

उद्धव को ब्रज भेजना

जदुपति जानि उद्धव रीति।
जिहिं प्रगट निज सखा कहियत, करत भाव अनीति॥
बिरह दुख जहँ नाहिं नैकहुँ तहँ न उपजै प्रेम।
रेख, रूप न बरन जाकैं, इहिं धरयौ वह नेम॥
त्रिगुन तन करि लखत हमकौं, ब्रह्म मानत और।
बिना गुन क्यौं पुहुमि उधरै, यह करत मन डौर॥
बिरस रस किहिं मंत्र कहिऐ, क्यौं चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति भरयौ अहंकार॥
प्रेम भजन न नैंकु याकैं, जाइ क्यौं समुझाइ।
'सूर' प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिं देउँ पठाइ॥४२॥

पाती मधुबन तैं आई।
ऊधौ हरि के परम सनेही, ताकैं हाथ पठाई॥

कोउ पढ़ति, कोउ धरित नैन पर, काहूँ हृदै लगाई ।
कोउ पूछति, फिरि-फिरि ऊधौ कौं आपुन लिखी कन्हाई ?
बहुरौ दुई फेरि ऊधौ कौं, तब उन बाँचि सुनाई ।
मन मैं ध्यान हमारौ राख्यौ 'सूर' सदा सुखदाई ॥४३॥

कोउ व्रज बाँचत नाहिंन पाती ।
कत लिखि-लिखि पठवत नंद-नंदन कठिन बिरह की काँती ॥
नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती ।
परसैं जरै, बिलोकैं भींजै, दुहूँ भाँति दुख छाती ॥
को बाँचै ये अंक 'सूर' प्रभु कठिन मदन-सर-घाती ।
सब सुख लै गए स्याम मनोहर, हमकौं दुख दै थाती ॥४४॥

मधुकर हम न होहिं वै बेलि ।
जिन भजि तजि तुम फिरत और रँग, करन कुसुम-रस केलि ॥
बारे तैं बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषी पिय पानि ।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होति सदा हित हानि ॥
ये वेलि बिरहीं बृंदावन, उरझीं स्याम तमाल ।
प्रेम-पुहुप-रस-बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल ॥
जोग समीर धीर नहिं डोलतिं, रूप डार दृढ़ लागीं ।
'सूर' पराग न तजहिं हिए तैं, श्री गुपाल अनुरागीं ॥४५॥

उद्धव-गोपी संवाद

पहला संवाद

सुनौ गोपी हरि कौ संदेस ।
करि समाधि अंतर गति ध्यावहु, यह उनकौ उपदेस ॥
वै अविगत अविनासी पूरन, सब-घट रहे समाइ ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुराननि गाइ ॥

सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ।
वह उपाइ करि विरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ॥
दुसह संदेस सुनत माधौ कौ, गोपी जन बिलखानी।
'सूर' बिरह की कौन चलावै, बड़तिं मनु बिनु पानी॥४६॥

दूसरा संवाद

अँखियाँ हरि दरसन-की प्यासी।
देख्यौ चाहतिं कमलनैन कौं निसि दिन रहतिं उदासी॥
आए ऊधौ फिरि गए आँगन, डारि गए गर फाँसी।
केसरि तिलक मोतिनि की माला, बृंदावन के बासी॥
काहू के मन की कोउ जानत लोगनि के मन हाँसी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस कौं, करवत लैहौं कासी॥४७॥

उपमा नैन न एक रही।
कवि जन कहत कहत सब आए, सुधि कर नाहिं कही॥
कहि चकोर बिधु मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात।
हरि-मुख कमल कोष बिछुरे तैं, ठाले कत ठहरात॥
ऊधौ बधिक ब्याध ह्वै आए, मृग सम क्यों न पलात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात॥
खंजन मन-रंजन न होहिं ये, कबहुँ नहीं अकुलात।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात॥
प्रेम न होइ कौन बिधि कहियै, झूठैं हीं तन आड़त।
'सूरदास' मीनता, कछू इक, जल भरि कबहुँ न छाँड़त॥४८॥

आए जोग सिखावन पाँड़े।
परमारथी पुराननि लादे, ज्यौं बनजारे टाँड़े॥
हमरे गति-पति कमल-नयन की, जोग सिखैं ते राँड़े।

कहौ मधुप कैसे समाहिंगे, एक म्यान दो खाँड़े ॥
कहु षटपद कैसें खैयतु है हाथिनि कैं सँग गाँड़े।
काकी भूख गई बयारि भषि, बिना दूध घृत माँड़े।
काहे कौं झाला लै मिलवत, कौन चार तुम डाँड़े।
'सूरदास' तीनौ नहिं उपजत, धनिया, धान कुम्हाँड़े ॥४९॥

तीसरा संवाद

हमकौं हरि की कथा सुनाउ।
ये आपनी ज्ञान गाथा अलि, मथुरा ही लै जाउ ॥
नागरि नारि भलैं समझैंगी, तेरौ बचन बनाउ।
पा लागौं ऐसी इन बातनि, उनही जाइ रिझाउ।
जौ सुचि सखा स्याम सुंदर कौ, अरु जिय मैं सति भाउ।
तौ बारक आतुर इन नैननि, हरि मुख आनि दिखाउ ॥
जौ कोउ कोटि करै कैसिहुँ विधि, बल विद्या व्यवसाउ।
तउ सुनि 'सूर' मीन कौं जल बिनु, नाहिंन और उपाउ ॥५०॥

चौथा संवाद

गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यौ पूरन ब्रह्म ध्यावहु, त्रिगुन मिथ्या भेष ॥
मैं कहौं सो सत्य मानहु, सगुन डारहु नाखि।
पंच त्रय-गुन सकल देही, जगत ऐसौ भाषि ॥
ज्ञान बिनु नर-मुक्ति नाहीं, यह विषय संसार।
रूप-रेख, न नाम जल थल, बरन अवरन सार ॥
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
'सूर' सुख-दुख नहीं जाकैं, भजौ ताकौं जाइ ॥५१॥

ऊधौ भली भई ब्रज आए ।
बिधि कुलाल कीन्हे काँचे घट ते तुम आनि पकाए ॥
रँग दीन्हौ हो कान्ह साँवरें, अँग-अँग चित्र बनाए ।
पातैं गरे न नैन नेह तैं, अवधि अटा पर छाए ॥
ब्रज करि अँवा जोग ईंधन करि, सुरति आनि सुलगाए ।
फूँक उसास बिरह प्रजरनि सँग, ध्यान दरस सियराए ॥
भरे सँपूरन सकल प्रेम-जल, छुवन न काहू पाए ।
राज काज तैं गए 'सूर' प्रभु, नंद-नँदन कर लाए ॥५२॥

ऊधौ जौ हरि हितू तुम्हारे ।
तौ तुम कहियौ जाइ कृपा करि, ए दुख सबै हमारे ॥
तन तरिवर उर स्वास पवन मैं, बिरह दवा अति जारे ।
नहिं सिरात नहिं जात छार ह्वै, सुलगि-सुलगि भए कारे ॥
जद्यपि प्रेम उमँगि जल सींचे, बरषि-बरषि घन हारे ।
जौ सींचे इहिं भाँति जतन करि, तो एतैं प्रतिपारे ॥
कीर कपोत कोकिला चातक, बधिक बियोग बिडारे ।
क्यौं जीवैं इहिं भाँति 'सूर' प्रभु, ब्रज के लोग बिचारे ॥५३॥

पाँचवाँ संवाद

वे हरि सकल ठौर के बासी ।
पूरन ब्रह्म अखंडित मंडित, पंडित मुनिनि बिलासी ॥
सप्त पताल ऊरध अध पृथ्वी, तल नभ बरुन बयारी ।
अभ्यंतर दृष्टी देखन कौं, कारन रूप मुरारी ॥
मन बुधि चित अहंकार दसेन्द्रिय प्रेरक थंभनकारी ।
ताकैं काज वियोग विचारत, ये अबला-ब्रजनारी ॥
जाकौं जैसौ रूप मन रुचै, सो अपबस करि लीजै ।
आसन बैसन ध्यान धारना, मन आरोहन कीजै ॥

षट दल अठ द्वादस दल निरमल, अजपा जाप जपाली।
त्रिकुटी संगम ब्रह्म द्वार भिदि, यौं मिलिहैं बनमाली॥
एकादस गीता स्रुति साखी, जिहिं बिधि मुनि समुझाए।
ते सँदेस श्रीमुख गोपिनि कौ, 'सूर' सु मधुप सुनाए॥५४॥

यह गोकुल गोपाल-उपासी।
जे गाहक निरगुन के ऊधौ, ते सब बसत ईस-पुर कासी॥
जद्यपि हरि हम तजी अनाथ करि, तदपि रहतिं चरननि रस रासी।
अपनी सीतलता नहिं छाँड़त, जद्यपि बिधु भयौ राहु-गरासी॥
किहिं अपराध जोग लिखि पठवत, प्रेम भगति तैं करत उदासी।
'सूरदास' ऐसी को बिरहिनि, माँगि मुक्ति छाँड़ै गुन रासी॥५५॥

पूर्ण परिवर्त्तन तथा यशोदा-संदेश

अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हो निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ॥
जो मैं ज्ञान कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परस्यौ नेरौ।
अति अज्ञान कछु कहत न आवै, दूत भयौ हरि केरौ॥
निज जन जानि मानि जतननि तुम कीन्हौ नेह घनेरौ।
'सूर' मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ॥५६॥

ब्रज मैं संभ्रम मोहिं भयौ।
तुम्हरौ ज्ञान संदेसौ प्रभु जू, सबै जू भूलि गयौ॥
तुमहीं सौं बालक किसोर बपु, मैं घर-घर प्रति देख्यौ।
मुरलीधर घन स्याम मनोहर, अद्भुत नटवर पेख्यौ॥
कौतुक रूप ग्वाल बृंदनि सँग, गाइ चरावत जात।
साँझ प्रभातहिं गो दोहन मिस, चोरी माखन खात॥
नँद-नंदन अनेक लीला करि, गोपिनि चित्त चुरावत।
वह सुख देखि जु नैन हमारे, ब्रह्म न देख्यौ भावत॥

करि करुना उन दरसन दीन्हौ, मैं पचि जोग बह्यौ।
छन मानहु षट्मास 'सूर' प्रभु, देखत भूलि रह्यौ ॥५७॥

श्रीकृष्ण-वचन

जो जन ऊधौ मोहिं न बिसारत, तिहिं न बिसारौं एक घरी।
मेटौं जनम जनम के संकट, राखौं, सुख आनंद भरी ॥
जो मोहिं भजै भजौं मैं ताकौं, यह परिमिति मेरे पाइँ परी।
सदा सहाइ करौं वा जन की, गुप्त हुती सो प्रगट करी ॥
ज्यौं भारत भरुही के अंडा, राखे गज के घंट तरी।
'सूरजदास' ताहि डर काकौ, निसि बासर जौ जपत हरी ॥५८॥

बलभद्र-ब्रजयात्रा

द्विज कहियौ जदुपति सौं बात।
बेद बिरुद्ध होत कुंडिनपुर, हंस के अंस काग नियरात ॥
जनि हमरे अपराध बिचारहु, कन्या लिख्यौ मेटि गुरु तात।
तन आतमा समरप्यौ तुमकौं, उपजि परी तातैं यह बात ॥
कृपा करहु उठि बेगि चढ़हु रथ, लगन समै आवहु परभात।
कृष्न सिंह बलि धरी तुम्हारी, लैवे कौं जंबुक अकुलात ॥
तातैं मैं द्विज बेगि पठायौ, नेम धरम मरजादा जात।
'सूरदास' सिसुपाल पानि गहै, पावक रचौं करौं अपघात ॥५९॥

ब्रजनारी-पथिक-संवाद

रुकमिनि चलौ जन्म भूमि जाहिं।
जद्यपि तुम्हरौ बिभव द्वारिका, मथुरा कैं सम नाहिं ॥
जमुना कैं तट गाइ चरावत, अमृत जल अँचवाहिं।
कुंज केलि अरु भुजा कंध धरि, सीतल द्रुम की छाँहिं ॥

सरस सुगंध मंद मलयानिल, बिहरत कुंजन माहिं।
जो क्रीड़ा श्री बृंदावन मैं, तिहूँ लोक मैं नाहिं॥
सुरभी ग्वाल नंद अरु जसुमति, मम चित तैं नट राहिं।
'सूरदास' प्रभु चतुर सिरोमनि, तिनकी सेव कराहिं॥६०॥

राधा-कृष्ण-मिलन

बूझति है रुकुमिनि पिय इनमैं को बृषभानु किसोरी।
नैकु हमैं दिखरावहु अपनी बाला-पन की जोरी॥
परम चतुर जिन कीन्हे मोहन, अल्प बैस ही थोरी।
बारे तैं जिहिं यहै पढ़ायौ, बुधि बल कल बिधि चोरी॥
जाके गुन गनि ग्रंथित माला, कबहुँ न उर तैं छोरी।
मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत-उर मोरी॥
वह लखि-जुवति वृंद मैं ठाढ़ी, नील बसन तन गोरी।
'सूरदास' मेरौ मन वाकी, चितवनि बंक हरयौ री॥६१॥

रुकमिनि राधा ऐसैं भेंटी।
जैसैं बहुत दिननि की बिछुरी, एक बाप की बेटी॥
एक सुभाव एक वस दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी।
एक प्रान मन एक दुहुनि कौ, तन करि दीसति न्यारी॥
निज मंदिर लै गई रुकमिनी, पहुनाई विधि ठानी।
'सूरदास' प्रभु तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी॥६२॥

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, क्रीट भृंग गति है जु गई॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई॥

बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई।
'सूरदास' प्रभु राधा माधव, ब्रज-बिहार नित नई-नई ॥ ६३ ॥

❀

परमानंददास

बाल-लीला

हौं वारी मेरे कमल-नैन पर, स्यामसुंदर जिय भावै।
चरन-कमल की रेनु जसोदा, लै-लै सीस चढ़ावै॥
रसन दसन धरि बालकृष्ण पर, राई-लौन उतारै।
काहू निसाचरि दृष्टि लगाई, लै-लै अंचर झारै॥
लै उछंग मुख निरखन लागी, विस्व-भार जब दीनौं।
कर तें उतरि भूमि पै राखे, इहि बालक कहा कीनौं॥
तू मेरौ ठाकुर, तू मेरौ बालक, तोहिं विस्व भर राखै।
'परमानंद' स्वामी चित चोरयौ, चिरजीवौ यों भाखै॥ १॥

बाल दसा गोबिंद की, सब काहू कों प्यारी।
लै-लै गोद खिलावहीं, जसुमति महतारी॥
पीत झगुलिया अति बनी, सिर कुलहैं विराजैं।
कर कंकन, कटि किंकिनी, पग नूपुर बाजैं॥
मुरि-मुरि नाँचें मोर ज्यों, ब्रज-जन मन मोहैं।
'परमानंद' प्रभु सांवरो, नंद-आँगन सोहैं॥ २॥

माई री! कमल-नयन स्यामसुंदर, झूलत पालना।
बाल-लीला गावति सब, गोकुल की ललना॥
अरुन तरुन चरन कमल, नख मनि ससि-जोती।
कुटिल कच भँवराकृत, लटकत लट मोती॥

अँगुठा गहि कमल-पानि, मेलत मुख माँहीं।
अपनौ प्रतिबिंब देखि, पुनि-पुनि मुसुकाँहीं॥
जसोमति के पुन्य पुंज, निरखि निरखि लालैं।
'परमानंद' प्रभु गोपाल, सुख सनेह पालैं॥ ३॥

बाल 'विनोद गोपाल के, देखत मोहिं भावै।
प्रेम पुलक आनंद भरि, जसुमति गुन गावै॥
बल समेंत घन साँवरौ, आँगन में धावै।
बदन चूँमि कोरा लिए, सुत जानि खिलावै॥
सिव बिरंचि मुनि देवता, जाकौ अंत न पावै।
सो 'परमानंद' ग्वाल कौ, हँसि भलौ मनावै॥ ४॥

मनिमय आँगन नंद के, खेलत दोऊ भैया।
गौर-स्याम जोरी बनी, बल कुँवर कन्हैया॥
नूपुर, कंचन, किंकिनी, रुनझुन-झुन बाजै।
मोहि रही ब्रज-सुंदरी मनसा-सुत लाजै॥
सँग-सँग जसोमति रोहिनी, हितकारन मैया।
चुटकी दै-दै नचावहीं, सुध जानि कन्हैया॥
नील-पीत पट ओढ़नी, देखत मोहि भावै।
बाल-लीला विनोद सों, 'परमानंद' गावै॥ ५॥

पीतांबर को चोलना, पहिरावति मैया।
कनक छाप ता पर दियौ, झीनीं एंक तया॥
सुथन लाल चुनीव की, जरकसी चीरा।
हँसुली हेम जराव की, उर राजत हीरा॥
ठाड़ी निरखै जसोमति, फूली अंग न समाय।
कज्जर लै बिंदुक दियौ, ब्रज-जंन मुसिकाय॥

नंद बबा मुरली दई, एक तान बजावै।
जोई सुनै ताकौ मन हरै, 'परमानंद' गावै ॥ ६ ॥

आछौ नीकौ लौनौं मुख भोरहिं दिखाइऐ।
निसि के उनींदे नैन, तोतरात मीठे बैंन,
भावत हौ जी के, मेरे सुख ही बढ़ाइऐ ॥
सकल सुख-करन, त्रिविध ताप-हरन,
उर कौ तिमिर बाढ़यौ, तुरत नसाइऐ।
द्वारे ठाड़े ग्वाल-बाल, जरऊ कलेऊ लाल,
मिस्सी रोटी छोटी-मोटी, माखन सों खाइऐ ॥
तनिक सो मेरौ कन्हैया, बारि फेरि हारी मैया,
बैंनी तौ गुहूँ बनाय, गहरु न लाइऐ।
'परमानंद' जन जननि मुदित मन फूली,
फूली फूली उर अंग न समाइऐ ॥ ७ ॥

बदन निहारति है नंदरानी।
कोटि काम, सतकोटि चंद्रमा, कोटिक रवि बारति जिय जानी ॥
सिव-विरंचि जाकौ पार न पावत, सेष सहस गावत रसना री।
गोद खिलावरि महरि जसोदा 'परमानंद' किऐं बलिहारी ॥ ८ ॥

तनक कनकः की दोहिनी दै-दै री मैया।
तात दुहन सिखन कह्यौ, मोहि धौरी गैया ॥
हरि विषमासन बैठि कै, मृदु कर थन लीन्हौं।
धार अटपटी देखि कै, व्रजपति हँसि दीन्हौं ॥
गृह-गृह से आईं जबै, देखन व्रज-नारी।
सचकित तन-मन हरि लियौ, हँसि घोष बिहारी ॥
द्विज बुलाइ दक्षिणा दई, मंगल जस गावै।
'परमानंद' प्रभु लाड़िलौ, सुखसिंधु बढ़ावै ॥ ९ ॥

प्रात समैं सुत कौ मुख निरखत, प्रमुदित जसुमति हरषित नंद ।
दिनकर-किरन किरन मानों बिगसत, उर प्रति अति उपजत आनंद ॥
बदन उघार जगावत जननी, जागो मेरे आनंद-कंद ।
मनहुँ पयोनिधि मथत फेंन फुट, दई दिखाई नौतन चंद ॥
जाकों ईस सेष ब्रह्मादिक, नेति-नेति गावत श्रुति छंद ।
सो गोपाल अब श्री गोकुल में, आनंद प्रगटे 'परमानंद' ॥१०॥

भावत है बन-बन की डोलन ।
मदनगोपाल मनोहर मूरति, हे-हे धौरी धेंनु की बोलन ॥
कर पर पात, भात ता ऊपर, बीच-बीच बिंजन धरि राखे ।
बाल केलि सुंदर ब्रजनायक, ग्वालिन दै-दै आपुन चाखे ॥
कहा वैभव, वैकुंठ लोक कौ, भवन चतुरदस की ठकुराई ।
सिवं विरंचि नारद पद वंदित, वेद उपनिषद् कीरति गाई ॥
जग्य पुरुष, लीला अवतारी, आदि-मध्य-अवसान एक-रस ।
'परमानंददास' कौ ठकुर, गोकुल मंडल भक्त प्रेम-वत्स ॥११॥

भोजन कों टेरत महतारी ।
बल समेंत चलो मेरे मोहन, बैठे नंद परोसी है थारी ॥
दूध सिरात स्वाद नहीं ऐसौ, वेगि गसा कछु लेहु मुरारी ।
हित-चित दै जेंवन वलि नीकें, पाछे कीजो केलि बिहारी ॥
सुबल सुबाहु श्रीदामा सँग, बैठे स्याम जाउँ बलिहारी ।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, जसोमति मैया करत मनुहारी ॥१२॥

क्रीड़ा-कौतुक

गोपाल माई ! खेलत हैं चौगान ।
ब्रज-कुमार बालक संग लीने, वृन्दावन मदान ॥

चंचल बाजि नँचावत, आवत होड़ लगावत पान।
सब जित रहत तहाँई चलावत करत बबा की आन॥
करत न संक, निसंक महाबलि, हरत नृपति-कुल मान।
'परमानंददास' कौ ठाकुर, गुन-आनंद निधान ॥१३॥

बने बन आवत मदन गोपाल।
नृत्यत, हँसत, ँसावत, किलकत, संग मुदित ब्रजबाल॥
वेनु, मुरझ, उपचंग, चंग मुख, चलत विविध सुर-ताल।
बाजे अनेक वेनु-रव सों मिलि, रनित किंकिनी-जाल॥
जमुना-तट के निकट वंसीबट, मंद समीर सुढाल।
राका-रजनी, विमल सरद-ससि, क्रीड़त नँद कौ लाल॥
स्याम सघन-तन कनक पीत पट, उर लंबित बनमाल॥
'परमानंद' प्रभु रसिक सिरोमनि, चंचल नैन विसाल ॥१४॥

माखन-लीला

ढोटा रंचक माखन खायौ।
काहै कौ दरद होत ग्वालिनिया, सब ब्रज गाज हलायौ॥
जाकौ जितनों तुम जानति हौ, दूनौ मोपै लेहु।
मेरौ कान्ह इहै इकलौतौ, सब असीस मिलि देहु॥
कमल नैन मेरौ अँखियन तारौ, कुल दीपक ब्रज गेहु।
'परमानंद' कहत नँदरानी, सुत प्रति अधिक सनेहु ॥१५॥

तेरी सौं सुनि-सुनि री मैया।
याके चरित्र तू नहिं जानैं, बोलि बूझि संकर्षन भैया॥
ब्याई गाय बछरुआ चाटत, हौं पीवत हौ प्रात खन घैया।
याहि देखि धौरी बिझकानी, मारन कों दौरी मोहि गैया॥

द्रु सींगन के बीच परयौ मैं तहाँ रखवारौ कोऊ न सैया।
तेरौ पुन्य सहाय भयौ है, अब उबरयौ बाबा नंद दुहैया॥
ये जोऊ बाँटि परी ही मोपै, भाजि चली कहि दैया-दैया।
'परमानंद' स्वामी की जननी, उर लगाइ हँसि लेत बलैया॥१६॥

मोहन! मान मनायौ मेरौ।
हौं बलिहारी कमल नैन की, नैंक चितै मुख फेरौ॥
माखन खाउ, लेउ मुख मुरली, ग्वालन-बालन टेरौ।
जोरी करिकै जोर, आपनी न्यारी गैया घेरौ॥
कारौ कहि-कहि मोहि खिजावत, नहिं बरजत बल अधिक अनेरौ।
इंद्रनीलमनि सों तन कहा जानै बल चेरौ॥
मेरौ सुत सिरताज सबन कौ, सबतें कान्ह बड़ेरौ।
'परमानंद' भोर भयौ, गावैं विमल विसद जस तेरौ॥१७॥

प्रेमासक्ति

जब तें प्रीति स्याम सों कीनीं।
ता दिन तें मेरे इन नैनन्हि, नैकहुँ नींद न लीनीं॥
सदा रहति चित चाक चढ्यौ सौ, और न कछू सुहाय।
मन में करत उपाय मिलन कौ, इहै विचारत जाय॥
'परमानंद' प्रभु पीर प्रेम की, काहू सों नहिं कहिए।
जैसे विथा मूक बालक की, अपने तन मन सहिऐ॥१८॥

मैं मन मोल गोपालहिं दीनौं।
अंबुज बदन लाल गिरिधर कौं रूप नैन निरखिन कौं लीनौं॥
इन आकर्ष लियौ अपनी रुचि, उनहिं तुला धरि करकस कीनौं।
वे लै चले दुराइ जतन करि, इनहिं बीच पलकन पल छीनौं॥

अब वे पलटन देत आपतें, इनहिं कह्यौ यातें कछु हीनों।
'परमानंद' प्रभु नंदनँदन सों, नौतन नेह बिधाता कीनों ॥१६॥

सहज प्रीति गोपालहिं भावै।
सुख देखै सुख होत सखी री, प्रीतम नैन सों नैन मिलावै॥
सहज प्रीति कमलनि अरु भानुहिं, सहज प्रीति कुमुदिनि अरु चंदै।
सहजप्रीति कोकिला बसंतहिं, सहज प्रीति राधा-नंदनंदै॥
सहज प्रीति चातक अरु स्वांतै सहज प्रीति धरनी जल धारै।
मन क्रम बचन 'दास परमानंद', सहज प्रीति कृष्न अवतारै ॥२०॥

रूप-माधुरी

कुंचित अधर पीत रज मंडित, जनु भँवरनि की पाँति।
कमल कोस में तें ढिग बैठे, पंडुर बरन सुजाति॥
चंद्रक चारु, मुकुट सिर सोभा, बीच-बीच मनि गुंजा।
गोपी मोहन अभिमत मूरति, प्रगट प्रेम के पुंजा॥
कंठ कंठमनि स्याम मनोहर, पीतांबर बन-माल।
'परमानंद' श्रवन मनि मंगल, कूजत बेनु रसाल ॥२१॥

भावै मोहि माधौ की आवनि।
बरहापीड़ दाम गुंजामनि, बेनु मधुर धुनि गावनि॥
स्याम सुभग तन गोरज मंडित, भेष विचित्र बनावनि।
बालक वृंद मध्य नँदनंदन, आनँद-रासि बढ़ावनि॥
बासर अंत अनंत संग हित, नट-गति रूप दिखावनि।
'परमानंद' गोपी मन आनंद, बिरह-ताप बिसरावनि ॥२२॥

रस-रंग

आजु नीकौ बन्यौ राग आसावरी।
मदन गोपाल बेंनु नीकौ बाजत, मोहन नाद सुनत भई बावरी॥

बछरा खीर पीवत थन छाँड्यौ, दंतन तृन खंडित नहिं गाव री।
अचल भए सरिता मृग पंछी, खेवट चकित चलत नहीं नाँव री॥
कमल-नैन घनस्याम मनोहर, सब विधि अकथ कथा है रावरी।
'परमानंद' स्वामी रति-नायक, यह मुरली रस रूप सुभावरी ॥२३॥

चलि तू मदन गोपाल बुलाई।
छाँड़ि विलंब मिलहु प्रीतम सों, हठ में कौन बड़ाई॥
वृंदाबन में वंसीबट तर, बैठे कुँअर कन्हाई।
नटवर भेष धर्यौ सुर मोहित, लीला बरनी न जाई॥
तेरे काज आप नँदनंदन, रुचि-रुचि सेज बनाई।
'परमानंद' स्वामी रति-नागर, गति में गति उपजाई ॥२४॥

विरह

कौन रसिक है इन बातन कौ।
नंदनँदन बिन कासों कहिऐ, सुन री सखी! मेरे दुखिया मन कौ॥
कहाँ वे जमुना-पुलिन मनोहर, कहाँ वो चंद सरद-रातन कौ।
कहाँ वे मंद सुगंध अमल रस, कहाँ वे षटपद जलजातन कौ॥
कहाँ वे सेज पौढ़िवौ बन कौ, फूल-बिछौना मृदु पातन कौ।
कहाँ वे दरस-परस 'परमानंद', कोमल तन, कोमल गातन कौ ॥२५॥

ब्रज के बिरही लोग बिचारे।
बिन गोपाल ठगे से ठाढ़े, अति दुरबल तन हारे॥
मात जसोदा पंथ निहारत, निरखत साँझ सकारे।
जो कोउ कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे॥
ये मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे।
'परमानंद' स्वामी बिन ऐसे, जैसे चंदा बिनु तारे ॥२६॥

वह बात कमल-दल नैन की ।
बार-बार सुधि आवत रजनी, बहु दुरि दैनी सैनी सैन की ॥
वोह लीला, वोह रास सरद कौ, गोरस रजनी आवनि ।
अरु वोह ऊँची टेर मनोहर, मिस कर मोहिं सुनावनि ॥
बसन कुंज में रास खिलायौ, विथा गँमाई मन की ।
'परमानंद' प्रभु सो क्यों जीवै, जो पोषी मधुवन की ॥२७॥

कौन वेर भई चलै री गोपालै ।
हौं ननसार गई ही न्यौते, बार-बार बोलत ब्रज-बालै ॥
तेरौ तन कौ रूप कहाँ गयौ भमिनि ! अरु मुख-कमल सुखाय रह्यौ ।
सब सौभाग्य गयौ हरि के सँग, हृदय-कमल विरहानल दह्यौ ॥
को बोलै, को नैन उघारै, को प्रति-उत्तर देहि बिकल मन ।
जो सर्वस्व अक्रूर चुरायौ, 'परमानंद' स्वामी जीवन-धन ॥२८॥

मेरौ मन गोविंद सौं मान्यौं, तातें और न जिय भावै ।
जागत सोवत यहै उत्कंठा, कोउ ब्रजनाथ मिलावै ॥
बाढ़ी प्रीति आनि उर अंतर, चरन कमल चित दीनों ।
कृष्न-विरह गोकुल की गोपी, घर ही में बन कीनों ॥
छाँड़ि अहार-बिहार देह-सुख, और न चाहै काऊ ।
'परमानंद' बसत हैं घर में, जैसे रहत बटाऊ ॥२९॥

माई ! को इहिं गाय चरावै ।
दामोदर बिन अपनु संघातिन, कौन सिंगार करावै ॥
सब कोई पूजै दीप-मालिका, हम कहा पूजें माई ।
राम-गोपाल मधुपुरी गमने, धाय-धाय ब्रज खाई ॥
दाम, दोहिनी, माट, मथानी, जाय पासि को पूजें ।

काके मिलें चलें ये गोकुल, कौन बेंनु कल कूजें ॥
करत प्रलाप सकल गोपी जन, मन मुकुंद हरि लीनों ।
'परमानंद' प्रभु इतनी दूर बसि, मिलन दोहिलौ कीनों ॥३०॥

या हरि कौ संदेस न आयौ ।
बरस-मास-दिन बीतन लागे, बिनु दरसन दुख पायौ ॥
घन गरज्यौ, पावस रितु प्रगटी, चातक पीउ सुनायौ ।
मत्त मोर बन बोलन लागे, विरहिन बिरह जनायौ ॥
राग मल्हार सह्यौ नहिं जाई, काहू पंथि कहि गायौ ।
'परमानंददास' कहा कीजै, कृष्न मधुपुरी छायौ ॥३१॥

पतियाँ बाँचेहू न आवै ।
देखत अंक नैन जल पूरे, गदगद प्रेम जनावै ॥
नंदकिसोर सुहथ अच्छर लिखि, ऊधौ हाथ पठाए ।
समाचार मधुबन गोकुल के, मुख ही बाँचि सुनाए ॥
ऐसी दसा देखि गोपिन की, भक्त भरम सब जायौ ।
मन क्रम बचन प्रेम पद अंबुज, 'परमानंद' मन भायौ ॥३२॥

व्याकुल बार न बाँधति छूटे ।
जब तें हरि मधुपुरी सिधारें, उर के हार रहत सब टूटे ॥
सदा अनमनी बिलख बदन अति, यह ढंग रहति खिलौना से फूटे ।
बिरह बिहाल सकल गोपी जन, अभरन मनहुँ बटकुटन लूटे ॥
जल-प्रवाह लोचन तें बाढ़े, बचन सनेह अभ्यंतर घूटे ।
'परमानंद' कहौं दुख कासों, जैसे चित्र लिखी मति टूटे ॥३३॥

बहुरि हरि आवहुगे किहि काम ।
रितु बसंत अरु मकर बितीते, अरु बादर भए स्याम ॥

तारे गगन गनत री माई, बीते चारयौ याम।
और काज सब बिसरि गये हरि, लेत तुम्हारौ नाम॥
छिनु आँगन, छिनु द्वारे ठाढ़ी, हम सूखत हैं धाम।
'परमानंद' प्रभु रूप बिचारत, रहे अस्थि अरु चाम॥३४॥

❀

कृष्णदास

विनय

जय-जय तरुन घनस्याम वर, सौदामिनी रुचिवास।
बिमल भूषन तारिकागन, तिलक चंद विलास॥
जय नृत्य मान संगीत रस बस, भामिनी सँग रास।
बदन स्रम-जल-कन बिराजित, मधुर ईषद हास॥
बन्यौ अद्भुत भेष गावत, मुरलिका उल्लास।
'कृष्णदास' नमित चरन, हरिदासवर्यं निवास॥१॥

वंदे धरनि गिरिवर भूप।
राधिका मुख कमल लंपट मत्त मधुप सरूप॥
वंदे रसिक संगीत गुन-निधि कुनित बेंनु अनूप।
कहै 'कृष्णदास' विलास उर पर लोल माल अनूप॥२॥

ध्यावत कान्ह विमल जस तेरौ।
गावत सिव-सारद मुनि नारद, प्रान जीवन-धन मेरौ॥
गावत वेद बंदिजन निसि-दिन, अरु मुनि-जूथ घनेरौ।
गावत सेष महेस विविध विधि, रस रसिकहिं सुख केरौ॥
गिरिधर पिय गावत ब्रजवासी, मिले प्रेम के घेरौ।
'कृष्णदास' द्वारे दुलरावत, श्री बल्लभ.कौ चेरौ॥३॥

जब तें स्याम-सरन मैं पायौ।
जब तें भेंट भई श्री वल्लभ, निज पति नाम सुनायौ॥
और अविद्या छाँड़ि मलिन मति, श्रुतिपति हगहिं दृढ़ायौ।
'कृष्णदास' सब जुग जन खोजत, अब निश्चय मन आयौ॥४॥

परम कृपाल श्री नँद के नंदन, करी कृपा मोहि अपुनौ जानि कै।
मेरे सब अपराध निबारे. श्री बल्लभ की कानि मानि कै॥
श्री जमुनाजल–पान करायौ, कोटिन अघ कटवाए प्रान कै।
पुष्टि तुष्टि मन नेम अहर्निसि, 'कृष्णदास' गिरिधरन आन कै॥५॥

मेरौ तौ गिरिधर ही गुनगान।
यह मूरत खेलत नैनन में, यही हृदय में ध्यान॥
चरन-रेंनु चाहत सन मेरौ, यही दीजिऐ दान।
'कृष्णदास' कौ जीवन गिरिधर, मंगल रूप निधान॥६॥

काव्य-संग्रह

बाललीला

नंद कौ लाल ब्रज पालने झूलैं।
अलक अलकावली, तिलक गौरोचना, चरन अंगुष्ट मुख किलकि फूलैं॥
नैन अंजन-रेख,भेख अभिराम सुठि,कंठ केहर करज किंकिनि कटि-मूलैं।
'कृष्णदास' नाथ रसिक पिय गिरवर-धरन,निरखि नागर देह-गेह भूलैं॥७॥

आरती करत जसोदा प्रमुदित फूली अंग न मात।
बलि-बलि कहि दुलरावति, आनँद मगन भई पुलकात॥
कनक-थार रतनन-दीपावलि, चित्र लिखी सी पाँति।
कल सिंदूर दूब दधि अक्षत, तिलक करत बहु भाँति॥
अनंत चतुर विधि बिबिध भोग दै, बाजत दुंदुभी बहु जाति।
नाचत गोप कुमकुमा छिरकत, देत अखिल नग दाँति॥
बरषत कुसुम निकर सुर नर मुनि, ब्रज जुवती मुसिकात।
'कृष्णदास' प्रभु गिरिधर श्री मुख, निरखत जस ससि-काँत्ति॥८॥

जै-जै लाल गोवर्धन धारी, इन्द्र-मान भंग कीनों।
बाम बाहु राख्यौ गिरि-नायक, दासन कों सुख दीनों॥

सात दिवस सुरपति पचि हारयौ, गोसुत-सींग न भीनों।
'कृष्णदास' स्वामी मोहन के, पाँय परयौ मति-हीनों ॥९॥

जीत्यौ-जीत्यौ जसोदा कौ नंदन, मधुवनि वृष्टि निवारी।
बाम बाहु राख्यौ गिरि नायक, गोकुल आरति टारी ॥
इंद्र खिसाय जोरि कर बिनवै, मैं अपराध कियौ भारी।
तू दयालु करुनामय माधौ, प्रनत ह्रदै भय-हारी ॥
बाल-बिनोद बाल—लीला रस, अद्भुत केलि बिहारी।
'कृष्णदास' ब्रजबासी बोलत, लाल गोवर्धन-धारी ॥१०॥

छवि-वर्णन

आवत बनहिं कान्ह गोप-बालक सँग,
नेंचुकी-खुर-रेनु छुरित अलकावली ॥
भौं हैं मनमथ-चाप, वक्र लोचन बान,
सीस सोभित मत्त मयूर चंद्रावली ॥
उदित उडुराज सुंदर सिरोमनि बदन,
निरखि फूली नवल जुवती-कुमदावली ॥
सकुच अफून बिंबाफल हसति,
कहत-कछु प्रगट होत कुंद रसनावली ॥
श्रवन कुंडल, भाल तिलक, वेसरि नाक,
कंठ कौस्तुभ-मनि सुभग त्रिवलावली ॥
रत्न हाटक खचित, पुरसि पदकनि-पाँति,
बीच राजत सुभ पुलक मुक्तावली ॥
वलय कंकन बाजूबंद, सोभित आजानु भुज,
मुद्रिका कर दल, विराजति नखावली ॥
कर तर मुरलिका मोहित अखिल विस्व,
गोपिका जनमसि प्रसित प्रेमावली ॥

कटि छुद्र घंटिका जटित हीरा मई,
नाभि अंबुज वलित भृंग रोमावली ॥
धाय बहुतक चलत भक्त-हित जानि पिय,
गंड मंडल रुचिर स्रम-जल कनावली ॥
पीत कौसेय परिधान सुंदर अंग,
चरन-नूपर-वाद्य गीत सबदावली ॥
हृदय 'कृष्णदास' गिरिवरधरन लाल की,
चरन-नख-चंद्रिका हरति तिमिरावली ॥११॥

अदभुत जोट स्याम-स्यामा वर, बिहरत वृंदावन चारी ।
रूप कांति बल वैभव महिमा, रटत वेद-श्रुति-मति हारी ॥
पदहिं विलास कुनित मनि नूपुर, तरुनि मेखला कुनकारी ।
गावत, हस्तक-भेद दिखावत, नाँचत गति मिलवत न्यारी ॥
किलकत, हँसत. कनखियन चितवत, प्यारे तन प्रीतम प्यारी ।
कंठ बाहु धरि मिलि गावत हैं, ललितादिक सखि बलिहारी ॥
मूरतिवंत सिंगार सुकीरति, निरखि चकित मृग अलि-नारी ।
'कृष्णदास' प्रभु गोवरधन-धर, अतिसय रसिक वृषभानु कुँवारी ।१२।

वृंदावन अदभुत नभ देखियत, बिहरत कान्हर प्यारौ ।
गोवरधन-धर स्याम चंद्रमा, जुवतिन-लोचन तारौ ॥
सुखद किरन रोमावलि वैभव, उर नव मनिगन हारौ ।
ललन-जूथ पर भेष विराजत, सुरति स्रमित अनुसारौ ॥
व्रज-जन-नैन-चकोर मुदित मन, पान करत रसधारौ ।
'कृष्णदास' निरखि रजनीकर, जलधि हुलस बारंबारौ ॥१३॥

राधा-वर्णन

प्यारी लाड़िली पालनैं झूलैं ।
रंग महल रचि रच्यौ विधाता, निरखि-निरखि मन फूलै ॥

नव निधि-सिधि जाकी आज्ञाकारिनि, सोइ-जोई कीरति-बाला।
सरस सरोवर भान-भवन में, प्रगटी है कुल-पाला ॥
आजु उदौ सब ब्रज मंडल कौ, गोरी रसिक गुपाल।
'कृष्णदास' प्रभु अति आनंदे, जोरा परम रसाल ॥१४॥

भजहिं सखि मोहन नँदनंदनहिं।
तू ब्रज-सर की नवल कुमुदिनी, नवल रूप वृंदावन-चंदहिं ॥
जिहि बंदसु होयहिं नटनागर, सुनि नागरि रचहिं ता बंदहिं।
नव निकुंज मिलि लीला सागर, सुभल करहिं मलयानिल मंदहिं ॥
किसलय दल कोमल सज्या पर, सुमुखि अनुभवहिं केलि सुछंदहिं।
मोहनलाल गोवर्धनधारी, 'कृष्णदास' प्रभु आनँदकंदहिं ॥१५॥

प्रेमासक्ति

निकुंज में वेनु मधुर कल गावै।
सप्त सुरन में रसिकराय पिय, रसिकिनि ! तोय बुलावै ॥
सरद-चंद रजनी द्रुम रंजित, मनमथ मोह वढ़ावै।
औघर तान, मान संपूरन, संगीत सुर उपजावै ॥
वृंदा विपिन विविधि कुसुमावलि, मधुप कमल उरझावै।
कोकिल, मोर, चकोर सोर सुक, मंगल सब्द सुनावै ॥
सुंदर-सुभग, सुखद जमुना तट, रसिकन कों जिय भावै।
'कृष्णदास' गिरिधर सुख-सागर, भाग बढ़े सोई पावै ॥१६॥

लीला

संध्या बदे बोल मनमोहन, प्रात आय कीन्हे सब साँच।
तन-मन उनहीं अभासत प्रीतम, काहे कों लाल ! करत छै-पाँच ॥
यह तौ विथा सो जानै गिरिधर, जाकें लगी विरह की आँच।
'कृष्णदास' जाऊँ बलि ताकी, जिन लीन्हे सरबस दै जाँच ॥१७॥

अरुन उदय नीके लागत हैं, सुनि सजनी ! तेरे नैन रसमसे।
मानहु सरद-कमल संपुट महँ, जग अलि मधुबस विवस बसे ॥
स्याम-स्वेत आलस रस भावित, भाव समूह कषाय कसमसे।
'कृष्णदास' रसिक गिरिधर प्रिय, सुखद सहज अंजन सों मसमसे ॥१८॥

❀

हित-हरिवंश

'हित-चौरासी' से

रास-लीला

मोहन मदन त्रिभंगी। मोहन मुनि मन रंगी ॥
मोहन मन सघन प्रगट 'परमानंद' गुरु गंभीर गुपाला ।
सीस किरीट, स्रवन मनि-कुंडल, उर मंडित बनमाला ॥
पीतांबर तनु धातु-विचित्रित कल किंकिनि कटि चंगी ।
नखमनि-तरनि चरन-सरसीरुह मोहन मदन त्रिभंगी ॥

मोहन बेनु बजावै इहि रव नारि बुलावै ॥
आईं ब्रजनारि सुनत बंसी-रव गृह-पति-बंधु बिसारे ।
दरसन मदन-गुपाल मनोहर मनसिज-ताप निवारे ॥
हरषित बदन बंक अवलोकनि सरस मधुर धुनि गावै ।
मधुमय स्याम समान अधर धरैं मोहन बेनु बजावै ॥

रास रच्यौ बन-माहीं। बिमल कल्पतरु-छाहीं ॥
बिमल कल्पतरु-तीर सुपेसल सरद रैन बर चंदा ।
सीतल मंद सुगंध पवन बहै, तहँ खेलत नंद-नंदा ॥
अद्भुत ताल मृदंग मनोहर, किंकिन सबद कराहीं ।
जमुना-पुलिन रसिक-रस-सागर रास रच्यौ बन माहीं ॥१॥

आजु बन नीकें रास बनायौ ।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना-तट, मोहन बेनु बजायौ ॥
कल कंकन किंकिनि नूपुर-धुनि, सुनि खग मृग सचुपायौ ।

जुवतिन-मंडल मध्य स्यामघन, सारंग-राग जमायौ ॥
ताल मृदंग उपंग मुरज डफ मिलि रस-सिंधु बढ़ायौ ।
बिबिध बिसद वृषभानु नंदिनी, अंग-सुढंग दिखायौ ॥
अभिनय निपुन लटकि लटि लोचन, भृकुटि अनंद नचायौ ।
ततथेई ताथेई धरति नवल गति, पति ब्रजराज रिझायौ ॥
बरसत कुसुम मुदित नभ-नायक, इन्द्र निसान बजायौ ।
जैश्री 'हित हरिवंस', रसिक राधापति, जस बितान जग छायौ ॥२॥

सरद बिमल, नभ, चंद बिराजै । मधुर मधुर मुरली कल बाजै ॥
अति राजत घनस्याम-तमाला । कंचन-बेलि बनी ब्रज-बाला ॥
भूषन बहुत, बिबिध रँग सारी । अंग सुगंध दिखावति नारी ॥
बसरत कुसुम मुदित सुर-जोषा । सुनियतु दिवि दुंदुभि-कल-घोषा ॥
जैश्री 'हित हरिवंस' मगन मन स्यामा ।
राधा-रमन सकल सुखधामा ॥३॥

आजु नीकी बनी राधिका नागरी ।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुराई,
सील-सिंगार-गुन-संबनि तें आगरी ॥
कमल दच्छिन भुजा बाम भुजा अंसु सखि,
गावती सरस मिलि मधुर सुर राग री ॥
सकल बिद्या बिहित रहसि 'हरिवंस' हित,
मिलत नव कुञ्ज बर स्याम बड़ भाग री ॥४॥

मधुरितु बृन्दावन, आनंद न थोर ।
राजति नागरी नव कुसल किसोर ॥
जूथिका जुगलरूप मंजरी रसाल ।
बिथकित अलि मधु माधवी गुलाल ॥

चंपक बकुल कुल बिबिध सरोज।
केतकी मेदिनी मद मुदित मनोज॥
पावन पुलिन घन मंजुल निकुंज।
किसलय सैन रचित सुखपुंज॥
मंजीर मुरज डफ मुरली मृदंग।
बाजत उपंग बीना बर मुख चंग॥
मृगमद मलयज कुंकुम अबीर।
बदन अगर-सत सुरभित चीर॥
गावत सुंदर हरि सरस धमारि।
पुलकित खग-मृग बहत न बारि॥
जैश्री 'हित हरिवंस' हंस-हंसिनी-समाज।
ऐसेई करहु मिलि जुग जुग राज॥५॥

प्रेमासक्ति

प्रीति न काहु कि कानि बिचारै।
मारग अपमारग बिथकित मन, को अनुसरत निवारै॥
ज्यौं पावस सलिता-जल उमगति सनमुख सिंधु सिधारै।
ज्यौं नादहिं मन दिये कुरंगनि, प्रगट पारथी मार॥
जैश्री 'हित हरिवंसहिं' लग सारँग ज्यौं सलभ सरीरहिं जार।
नाइक निपुन नवलमोहन बिनु कौन अपनपौ हारै॥६॥

रूपासक्ति

देखौ भाई, सुंदरता की सींवाँ।
ब्रज-नव-तरुनि-कदंब-नागरी निरखि करति अध ग्रीवाँ॥
जो कोउ कोटि कलप लगि जीवै रसना कोटिक पावै।
तऊँ रुचिर वदनारबिंद की सोभा कहति न आवै॥

देवलोक भुवलोक रसातल सुनि कविकुल मन डरियै।
सहज माधुरी अंग-अंग की, कहि कासों पटतरियै॥
जैश्री 'हित हरिवंस' प्रताप रूप गुन बय बल स्याम उजागर।
जाकी भ्रू-विलास वस पसुरिव, दिन बिथकित रससागर॥७॥

सिद्धांत-संबंधी पद

रहौ कोउ काहू मनहिं दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तिन छिए॥
जो अवतार-कदंब भजत हैं दृढ़ व्रत जु हिए।
तऊ उमगि तजत मर्यादा वन विहार रस पिए॥
खोए रतन फिरत सो घर घर कौन काज इमि जिए।
'हित हरिवंस' अनत सचु नाहीं बिन या रसहिं पिए॥८।

कुंडलिया

चकई प्रान जु घट रहै, पिय विछुरंत निकज्ज।
सर-अंतर अरु काल निसि, तरफ तेज घन गज्ज॥
तरफ तेज घन गज्ज, लज्ज तुव वदन न आवै।
जल-विहीन कर नैन भोर किहि भाय दिखावै॥
'हित-हरिवंश', विचार कौन अस बाद जु बकई।
सारस यह संदेह प्रान-घट रहै जु चकई॥९॥

छप्पय

तं भाजन कृत जटित बिमल चंदन कृत इंधन।
अमृत पूरि तिहि मध्य करत सरषप बल रिंधन॥
अद्भुत धर पर करत कष्ट कंचन हल वाहत।
बारि करत पावारि मंद बोवन विष चाहत॥

'हित हरिवंस' बिचार कैं यह मनुज-देह गुरु चरन गहि ॥
सकहि तौ सब परपंच तजि श्रीकृष्ण-कृष्ण गोविंद कहि ॥१०॥

तातें भैया मेरी सौं, कृष्णगुन संचु ।
कुत्सित बाद बिकारहिं परधन सुनु सिख परतिय वंचु ।
मनि-गुन-पुंज जु ब्रजपति छाँड़त 'हितहरिवंस'सु कर गहि कंचु ॥
पायो जानि जगत में सब जन कपटी कुटिल कलिजुगी टंचु ।
इहि परलोक सकल सुख पावत, मेरी सौं, कृष्ण गुन संचु ॥११॥

मानुष कौ तन पाइ भजौ ब्रजनाथ कौं ।
दर्वी लैकैं मूढ़ जरावत हाथ कौं ॥
'हित हरिवंस' प्रपंच विषयरस मोह के ।
बिनु कञ्चन क्यों चलैं पचीसा लोह के ॥१२॥

सोहनलाल के रंग राची ।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ, बात दसौं दिसि माची ॥
कन्त अनंत करौ किन कोऊ, नाहिं धारना साँची ।
यह जिय जाहु भले सिर ऊपर, हौं तुम प्रगट ह्वै नाची ॥
जाग्रत सयन रहत ऊपर मनि, ज्यों कञ्चन सँग पाँची ।
'हित-हरिवंस' डरौं काके डर, हौं नाहिन मति काँची ॥१३॥

❀

गोविंदस्वामी

बाल-लीला

झूलो पालने बलि जाऊँ।
स्याम सुंदर कमल लोचन, देखत अति सुख पाऊँ॥
अति उदार विलोकि आनन, पीवत नाँहिं अघाऊँ।
चुटकी दै-दै नचाऊँ, हरि कौ, मुख चूँमि चूँमि उर लाऊँ॥
रुचिर बाल-विनोद तिहारे, निकट बैठि कै गाऊँ।
बिविधि भाँति खिलौना लै-लै, 'गोविंद'प्रभू कों खिलाऊँ॥१॥

झूलें पालने महर-सुन कर लिऐं नवनीत।
नैनन अंजन, स्याम बिंदुका, तन राजत पट पीत॥
बैंनी देखत मंद हँसत हैं, कछुक होत भयभीत।
दै करताल नँचावत गोपी, गावत मधुरे गीत॥
राई लौंन उतारत, वारत, होत सब्द जै-जीत।
पूरन ब्रह्म गोकुल में 'गोविंद' रसना करो पुनीत॥२॥

पीरीसी झगुली झीनी, कंठ सोहैं मोती मनियाँ,
रुनुकु झुनुकु पाँय बाजत पैजनियाँ।
ताथेई ताथेई नाँचत आँगनियाँ,
निरखि-निरखि हँसै नंदजू की रनियाँ॥
गृह-गृह तें जुरि आईं गोपी धनियाँ,
मैया जू उठाय लीनीं लाइ दुरि कनियाँ।
करत न्यौछावर धन अरु धेंनियाँ,
प्यारे पर वारि-वारि पीवै सब पनियाँ॥

ललित लढ़ैते सिर सोहै सोंधे सनियाँ,
मानहुँ जलज लागे आले-आले घनियाँ।
कुंडल की झलक ससि की किरनियाँ,
गावै जन 'गोविंद' चतुर सुजनियाँ ॥३॥

जागो कृष्ण, जसोदा बोलै, इहि अवसर कोउ सोवै हो।
गावत गुन गोपाल ग्वालिनी, हरषित दही विलोवै हो॥
गो-दोहन-धुनि पूरि रही ब्रज, गोपी दीप सँजावै हो।
सुरभी हूँक बछरुआ जागे, अनिमिष मारग जोवै हो॥
बेनु मधुर धुनि महुवर बाजत, बेंत गहे कर सेली हो।
अपना गाय सब ग्वाल दुहत हैं, तुम्हरी गाय अकेली हो॥
जागे कृष्ण जगत के जीवन, अरुन नैन सुख सोहै हो।
'गोविंद' प्रभु जु दुहत हैं धौरी, ब्रज गोप-बधू मन मोहै हो ॥४॥

हा हा लैहो एक कौर, बहुत बेर भई है देखेरी ओर।
माखन मिश्री दूध औटयौ, पीयो बहु जोर॥
अब ही सखन टेरत हे, तेरे ग्वाल भयौ भोर।
जागे पंछी द्रुम-द्रुम सुनि, करन लगे सोर॥
खेलवे कों उठि भागोगे, मानि मेरौ निहोर।
लैहौं ललन बलाय तिहारी, छोर अंचल ओर॥
बदन मंद विलोक सीतल, होत हृदयौ मोर।
बैठि जननी गोद जेंवन, लागे 'गोविंद' थोर॥
रसिकवर श्री स्याम लीला, करत माखन चोर ॥५॥

पक्क खजूर जंबु बदरीफल, लै काछिनी टेरी द्वार।
लरिका जूथ संग बल मोहन, चौके करत बिहार॥
सुंदर कर जननी कनें दोनों, लै धाए सुकुमार।
हीरा रतन सों पूरित भाजन, ऐसे परम उदार॥

लिए लगाइ उदर सों खावत, मीठे परम रसाल।
जूठी गुठली मारत 'गोविंद', हँसत-हँसावत ग्वाल ॥६॥

बाल-क्रीड़ा

गोबरधन गिरि-सृंग सिलन पर, बैठे छाक खात दधि ओदन।
आस-पास ब्रज बाल मंडली मधि बल-मोहन,खात खवावत प्रेम प्रमोदन॥
काहू-कौ छीकौ नाँय छोरि गहि, डारत वह वा पर वह वाकी हो कोदन।
बाल केलि क्रीड़त 'गोविंद' प्रभु, हँसि गिर जात सुबल की हो गोदन ॥७॥

ब्रजजन-लोचन ही कौ तारौ।
सुनि जसुमति तेरौ पूत सपूत अति, कुल दीपक उजियारौ॥
धेनु चरावन जात दूरि जब, होत भवन अति भारौ।
घोष सँजीवन मरि हमारौ, छिन इत-उत जिन टारौ॥
सात द्यौस गिरिराज धरयौ कर, सात बरस कौ बारौ।
'गोविंद' प्रभु चिरजीवो रानी ! तेरौ सुत गोप-बंस रखवारौ ॥८॥

उपालंभ

बरजि–बरजि सुत अपुनौ बारौ।
सदा बिग्रह गृह-काज करैं क्यों, चोर चपल चातुर अति भारौ॥
धरत उठाय दूध-दधि-भाजन, जहाँ री सखी ! होय बहुत अँधियारौ।
कंठ चरन कर दुति बहु मनिगन, जहाँ री जाय, तहाँ अंग उज्यारौ॥
बैठौ मनों कछु जानत नाँहीं, ह्याँब सूधौ, पर–भवन है कारौ।
बदन छिपाय हँसी जननी तब, 'गोविंद' प्रभु ब्रज लोचन तारौ ॥९॥

गोवर्धन-पूजा

आज ब्रज कहा है तिहारैं तात !
नाँचत गावत, करत कुलाहल, फूली अंग न समात॥

घर-घर मंगल-चार मुदित मन, उँमगैं ब्रजवासी।
गाय सिंगारत खिरक-खिरक जाय, आनंद हाँसी॥
कहैं नंद सुनि मन मोहन, उच्छव है आजु हमारैं।
सबै भोज पकवान विविध फल, सुरपति कों बलिसारैं॥
वे तौ देवराज मघवा पति, मेघन बरसैं भारी।
यातैं सुखी रहै सब गोकुल, श्री वृंदा विपिन विहारी॥
तब हँसि कै हरि कह्यौ उनहिं प्रति, मघवा दीन विचारौ।
जो चाहौ गोधन, गोरस बहु, अर्थ-धर्म फल चारौ॥
तौ तुम गोवर्धनहिं पूजौ, सोचि सबै अनुसारौ।
वे हैं प्रगट भागि, वांछित फल दै हैं सकल तिहारौ॥
तब ब्रजपति वृषभान आदि सब बैठे मंत्र बिचारे।
आनि अरिष्ट टरे बहु भारे, अरु बहु असुर सँहारे॥
याकौ बचन सत्य करि जानौं, मानौं बचन हमारे।
पूरन ब्रह्म जसोदानंदन कहैं, सांई करो भैयारे॥
जोरे सकट, विविध अँग भूषन, मनि मुक्ताहल हीरा।
दुंदुंभि धुनि, मृदंग-भेरि सुनि, गाजत गुन गंभीरा॥
राजत गोप-भूप ब्रजपति सँग, मनों सुभट रनधीरा।
भागे सकल अमंगल जग के, काहु न बदत अहीरा॥
नव सत साजि सिंगार भामिनी, दामिन-दुति देखि लजाई।
गावत गुन प्रमुदित चलीं, गिरि गोवर्धन कों आई॥
विधिवत वेद मंत्र नंदादिक, पूजाहु दुहुन कराई।
धूप दीप नैवेद्य निवेदित, जैसे कान्ह बताई॥
प्रथमहिं छीर न्हवाइ, बहुरि गंगाजल लै ढरकायौ।
दीपक-पाँति कांति कंचन, गिर लागत परम सुहायौ॥
जब परवत पर प्रगट भए हरि अद्भुत रूप रसाला।
मोर मुकुट मंजुल, मुरली मुख, पीत बसन, उर माला॥
तन अति स्याम, काम कोटिक छवि, चंचल नैन विसाला।

निरखत ब्रज-जन नर-नारी सब,भोजन करत गुपाला ।।
श्री वृषभान आदि ब्रजवासी, महा मनोरथ पायौ ।
गोपीजन सुप्रेम मगन, 'गोविद' जन मंगल गायौ ।।१०।।

रास

निर्तत लाल गोपाल रास में, सकल ब्रज-बधू संगैं ।
गिड़ गिड़ तैथंग, ततथेई ततथेई, भामिनि रति-रस रंगैं ।।
सरद विमल नभ उडुपति राजत, गावत तान तरंगैं ।
ताल, मृदंग, झाँझ और झालरि बाजत, सरस सुगंधैं ।।
सिव, विरंचि मोहे, सुर धुनि, सुनि, सुर नर, मुनि गति भंगैं ।
'गोविंद' प्रभू रस-रासि रसिकमनि, भामिनि लेत उछंगैं ।।११।।

रूप-वर्णन

आज सखी अति बने गिरिधरन ।
निरखि मदन विथकित भई आली, सिथिल भई गति चरन ।।
कसूंभी पाग लटकि रही आधे सिर, हरित चारु अवतंस करन ।
सिंघद्वार ठाड़े पिय मोहन, श्रीदामा-अंस भुज धरन ।।
चंपक माल हृदै अवलंबित, अरु अति छवि पीत उपरैना फरहरन ।
'गोविंद'प्रभु चित चोरथा चितै करि,ईषद हास त्रिलोकी जुवतिन मनहरन१२

विमल कदंब मूल अवलंबित, ठाड़े हैं पिय भानुसुता-तट ।
सीस टिपारौ, कटि लाल कछिनी, उपरैना फरहरत पीत पट ।।
पारिजात अवतंस स्तरित सखि, सीस सेहरौ, बनी अलक-लट ।
विमल कपोल कुंडल की सोभा, मंद हास, जीते कोटि मदन भट ।।
बाम कपोल बाम भुज पर धरि, मुरलिया बजावत तान बिकट ।
'गोविंद' प्रभु के श्रीदामा प्रभृति सखा, करत प्रसंसा, जै नागर नट।।१३।।

रूपासक्ति

कहि न परै हो रसिक कुँवर की कुँवराई।
कोटि मदन नख-ज्योति विलोकत, परसत इंदु किरन की जुन्हाई॥
कंकन वलय हार गज-मोती, देखियत अंग अंग वह झाई।
सुघर सुज्ञान स्वरूप सुलच्छन, 'गोविंद' प्रभु सब बिधि सुंदरताई १४

अरी ! यह सुंदरता की हद।
कुंडल लोल कपोल बिराजत, बिलगित भुव ज्योती उनमद॥
विद्रुम अधर दसन दारयौ द्रुति, दुलरी कंठ हार उर बिसद।
'गोविंद' प्रभु बन तें व्रज आवत, मानहु मदन गजराज धरत मद।१५।

प्रेमासक्ति

बिनती करत प्यारी की सखी,
ललन मुरली नैंक बजाइऐ।
जानत हौं सकल गुनिन-सिरमौर,
यातें घोषराज कुँवर द्वै तान सुनाइऐ॥
जैसे खग-मृग-द्रुम-लता-वेली मोहीं,
ऐसै ही हमारी सखियन कों रिझाइऐ।
'गोविंद' प्रभु सकल-कला गुन प्रवीन नागर,
याहीतें हमारे स्रवनन सुख उपजाइऐ॥१६॥

प्रीतम प्रीति ही तें पैयै।
जदपि रूप, गुन, सील, सुघरता, इन बातन न रिझैयै॥
सतकुल जनम, करम सुभ लच्छन, वेद पुरान पढ़ैयै।
'गोविंद' प्रभु बिन स्नेह सुवा लौं, रसना कहा नचैयै॥१७॥

कहा करें बैकुंठहिं जाय।
नहीं जहँ कुंज-लता, अलि, कोकिल मंद सुगंध न वायु बहाय॥

नहीं जहँ सुनियत स्रवनन वंसी धुन, कृष्ण न मूरत अधर लगाय।
सारस हंस मोर नहीं बोलत, तहँ कौ बसिवौ कौन सुहाय॥
नहीं जहँ ब्रज, बृंदाबन-वीथिन, गोपी, नंद, जसोदा माय।
'गोविंद' प्रभु गोपी चरनन की, ब्रज-रज तजि वहाँ जाय बलाय॥१८॥

कहा री भयौ मुख मोरै कछू काहू जु कह्यौ।
रसिक सुजान लाड़िलौ ललन, मेरी अँखियन माँझ रह्यौ॥
अब कछु बात फिरि परी जु औरै, प्रेम-जामिन दियौ भयौ दूध तें दह्यौ॥
त्रैलोक अति सुजान सर्वस हर्यौ हौ, 'गोविंद' प्रभु जू लह्यौ॥१९॥

विविध लीला-वर्णन

विराजत स्याम मनोहर प्यारौ। प्रभु तिहुँ लोक उजियारौ॥
सरवसतम ब्रज सोभा, श्री ब्रजराज विराज।
सुर, नर, मुनि सब कौतुक भूले, देखि मदनकुल लाज॥
रंग सुरंग कुसुम नाना रंग, सोभा कहत न आवै।
नवल किसोर अरु नवल किसोरी, राग-रागिनी गावै॥
चोवा, चंदन, अगर, कुमकुमा, उड़त गुलाल, अबीर।
छिरकत केसरि, नव बंसीवट, कालिंदी के तीर॥
ताल सुरंग उपंग मुरज डफ, ढोल भेरि सहनाई।
अद्भुत चरित रच्यौ ब्रजभूषन, सोभा बरनि न जाई॥
दुरि दुरि सब ब्रज जुवतिनि, निरखि-निरखि सचु पावैं।
त्रन तोरैं, बलि जाँय बदन पर, तन त्रैताप नसावैं॥
या ब्रज केलि प्रभू की कीरति, सुर, नर, मुनि सब गावैं।
निरखि हरषि 'गोविंद' बलिहारी, चरन-रेंनु ब्रज पावैं॥२०॥

❀

गदाधर भट्ट

विनय और भक्ति

दिन दूलह मेरो कुँवर कन्हैया।
नितप्रति सखा सिंगार सँवारत, नित आरती उतारति मैया॥
नितप्रति गीत वाद्य मंगल धुनि, नित सुर-मुनिवर विरद कहैया।
सिर पर श्रीव्रजराज राजवित, तैसेही ढिंग बलनिधि बलभैया॥
नितप्रति रासविलास ब्याहविधि, नित, सुरतिय सुमननि बरसैया।
नित नव-नव आनंद बारिनिधि, नित ही गदाधर लेत बलैया॥१॥

श्रीगोविंद-पद-पल्लव सिर पर विराजमान,
कैसें कहि आवै या सुख कौ परिमान।
ब्रजनरेस-देस बसत कालानल हूँ त्रसत,
बिलसत मन हुलसत करि लीलामृत-पान।
भीजे नत नयन-रहत प्रभु के गुनग्राम कहत,
मानत नहिं त्रिविध ताप जानत नहिं आन।
तिनके मुख-कमल-दरस, पावन पदरेनु परस,
अधम जान 'गदाधर' से पावैं सनमान॥२॥

हरि हरि हरि हरि रट रसना मम।
पीवति खाति रहति निधरक भई, होत कहा तोकों स्रम॥
तैं तो सुनी कथा नहिं मो-से, उधरे अमित महाधम।
ग्यान ध्यान जप तप तीरथ व्रत, जोग-जाग बिनु संजम॥
हेम हरन द्विज-द्रोह मान-मद, अरु पर-गुरु-दारागम।
नाम-प्रताप-प्रबल-पावक में होत भसम अघ अमित सलभ सम॥

इहि कलिकाल-कराल-ब्याल-विष-ज्वाल विषम भोये हम।
बिनु इहि मंत्र 'गदाधर' कौ क्यों, मिटिहै मोह-महातम ॥३॥

है हरि तें हरिनाम बड़ेरो, ताकों मूढ़ करत कत झेरो ?
प्रगट दरस मुचकुन्दहिं दीन्हों, ताहू आयुसु भो तप केरो ॥
सुत-हित नाम अजामिल लीनों, या भव में न कियो फिरि फेरो।
पर-अपवाद स्वाद जिय राच्यौ, वृथा करत बकवाद घनेरो ॥
कौन दसा ह्वैहै जू 'गदाधर', हरि हरि कहत जात कह तेरो ॥४॥

कबै हरि, कृपा करिहौ सुरति मेरी। और न कोऊ काटन कों मोह बेरी।
काम-लोभ आदि ये निर्दय अहेरी। मिलिकैं मन-मति-मृगी चहुँधा घेरी।
रोपी आय पास पासि दुरासा केरी। देत वाही में फिरि-फिर फेरी ॥
परी कुपथ कंटक आपदा घनेरी। नैकहीं न पावति भाजि भजन सेरी।
दंभ के आरंभ ही सतसंगति डेरी। करै क्यों 'गदाधर' बिनु करुना तेरी ॥५

जयति श्री राधिके सकल-सुख-साधिके,
तरुनि-मनि नित्य नवतन किसोरी ॥
कृष्ण-तनु-लीन मनरूप की चातकी,
कृष्ण-मुख-हिम किरिन की चकोरी ॥
कृष्णदृग-भृंग-विश्राम हित पद्मिनी,
कृष्णदृग-मृगज बंधन सुडोरी।
कृष्ण-अनुराग-मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण-गुन-गान-रस-सिंधु बोरी ॥
विमुख परचित्त तें चित्त जाको सदा,
करत निज नाह की चित्त-चोरी।
प्रकृति यह 'गदाधर' कहत कैसें बनै,
अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी ॥६॥

जय महाराज ब्रजराज-कुल-तिलक गोविंद गोपीजनानंद राधारमन।
नंदनृप-गेहिनी-गर्भ-आकर रतन, सिष्ट कष्ट धृष्ट दुष्ट दानवदमन॥
बल-दलनगर्व, पर्वत-बिदारन ब्रजभक्त-रच्छा-दच्छ गिरिराज-धरधीर।
विविध वेला कुसल मुसलधर संगले चारुचरनांकचिततरनि-तनयातीर॥
कोटि कंदर्प दर्पापहर लावन्य धन्य, वृंदारन्य-भूषन मधुर तरु।
मुरिलिका-नाद-पीयूष महानंदन बिदित सकल ब्रह्म रुद्रादि सुरबरु॥
'गदाधर' विष वृष्टि करुना-दृष्टि करु दीन कौ त्रिविध-संताप ताप-तवन।
हैं सुनी तुव कृपा कृपन जन गामिनी, बहुरि पैहै कहाँ मो बराबर कवन।७॥

हिंडोरा-झूलन

रंग हिंडोरना मन मोह्यौ
सहज वृन्दाविपिन-पावस, सदा आनन्द-केलि।
जहँ सघन द्रुम-घटा-घन सौं विद्यु-कंचन-वेलि॥
कुसुम किसलय सुरँग सुरधनु मंद पवन झकोर।
नदत गहगह कंठ भरि कलकंठ चित्रक मोर॥
मनिन-बरनी किरनि नव तृन निरखि मुदित कुरंग।
थल कमलछल छत्राक बिच-बिच बूट बिद्रुम-भंग॥
भ्रमत अलि-मद अंबु विबिध सुगंध-लहरि अपार।
तहँ कलित-ललित हिंडोरना कल कल्पद्रुम की डार॥
खचे मन मानिक महाघन, रचे चित्र-विचित्र।
देखिबे कौं किये अनिमिष नैन रसिकन मित्र॥
झलमलत छलछलनि मोती मनहुँ आनंद-नीर।
तिहिं निरखि सुर मुनिहार कोटिक लजे तजि मनधीर॥
अति निपुन बीना वेनु, लाल प्रमान गान-बिधान।
बलि 'गदाधर' स्याम-स्यामा-चरनप्रद कल्यान॥८॥

रास-लीला

आजु मोहन रची रासरस-मंडली।
उदित पूरन निसानाथ निर्मल दिसा,
देखि दिनकर-सुता सुभग पुलिन-स्थली।
बीच हरि बीच हरिनाच्छ माला बनी,
तरुनता पिंछ जनु कनक कदली रली॥
पवन-बस चपल दल तुलन सों देखियत,
चारु हस्तक भेद भाँति भारी भली॥
चरन-विन्यास, कर्पूर-कुंकुम-धूरि।
पूरि रहि चारिदिसि कुञ्जबन की गली॥
कुंद - मंदार - अरबिंद मकरंद - मद,
पुञ्ज-पुञ्जनि मिले मंजु गुंजत अली॥
गान-रस तान के बान वेध्यौ बिस्व,
ज्ञान अभिमान मुनि-ध्यान-रति दलमली॥
अधर गिरधरन के लागिकैं जगत
विजयी भई माधुरी मुरलिका काकली॥
रस-सिरे मध्य मण्डल विराजत खरे,
नंदनंदन कुँवर भानुजू की लली।
देखु अनिमेषु लोचन 'गदाधर' जुगल,
लेखु जिय आपने भाग महिमा फली॥६॥

संगीत-रस—कुसल नृत्य-आवेस-बस,
लसति राधा रस-मण्डल-बिहारिनी॥
दिव्य गति चरन चारन चक्रवर्ती,
तो कुँवर स्यामल मनोहर मनोहारिनी॥
लोचन बिसाल मृदुहास मन उल्लास,

नन्दनन्दन-मनसि मोद - बिस्तारिनी ॥
मृदुल पद-विन्यास चलित बलयावली,
किंकिनी मंजु मंजीर झंकारिनी ॥
रूप निरुपम काँति भाँति बरनी न जाति,
पहिरि आभरन रचि षोड़स-सिंगारिनी ॥
मृदंग बीना ताल सुर सप्त संचार,
चारुता चातुरी सार अनुसारिनी ॥
मधुर मुख-सबद पीयूष बरसत मनों,
सींचि पिय-स्रवन तन-पुलक-कुल-कारिनी ॥
कहि 'गदाधर' जु गिरिराजधर तें अधिक,
बिदित रस-ग्रंथि अद्भुतकला-धारिनी ॥१०॥

रूप-वर्णन

आजु ब्रजराज कौ कुँवर, बनतें बन्यो,
देखि आवत मधुर अधर-रंजित बेनु ।
मधुर कल गान निज नाम सुनि स्रवन पुट,
परम प्रमुदित बदन फेरि हूँकति धेनु ॥
मद विघूर्नित नैनं मन्द बिहँसनि बैन,
कुटिल अलकावली ललित गोपद-रेनु ।
ग्वाल-बालनि-जाल करत कोलाहलनि,
सृंग दल ताल धुनि रचत संचत चैनु ।
मुकुट की लटक, अरु चटक पटपीत की
प्रगट अंकुरित गोपी मनहिं मैनु ।
कहि 'गदाधर' जु इहि न्याय ब्रज-सुन्दरी
बिमल बनमाल के बीच चाहतु ऐनु ॥११॥

यमुना-स्तुति

जमुना देवी कों न भलाई।
नामरूप गुन लैं हरिजू कौ, न्यारी अपनी चाल चलाई॥
अपबस देस कियो भ्राता कौ, उनहिं परसि कोउ तहाँ न जाई।
जे तन तजत तीर तुम्हरे, ते तात-किरन में गैल लगाई॥
मुक्तिवधू कौ करि दूतत्वं, अधमनि कों लै आनि मिलाई।
आपुन स्याम, आन उज्वल करि तात तपत अपु सीतलताई॥
जल कों छल करि, अनल अघन कों, यह सुनिकैं कोउ क्यों पतिआई।
निसिदिन पच्छपात पतितनकौ; तदपि 'गदाधर' प्रभुमन भाई॥१२॥

मो कुल कर्मठ कल्मष नासत, देखि प्रवाह प्रभाकर-कन्या।
यह देखौ पाप जात जित-तित बहे, ज्यों मृगराज देखि मृगसैन्या॥
दै पय-पान पूत लौं पोषति, जननि कृतारथ धनि बहु धन्या।
दीनीं चहति 'गदाधरजू' पै, चरन-सरन अति प्रीति अनन्या॥१३॥

❀

मीराँ बाई*

स्तुति-वंदना

मन रे परसि हरि के चरण ॥ टेक ॥
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इंद्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीने राखि अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखाँ सिरी धरण।
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम घरण।
जिण चरण कालीनाग नाथ्यो, गोपलीला करण।
जिण चरण गोबरधन धार्यो, इंद्र को ग्रब हरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर, अगम तारण तरण ॥ १ ॥

विनय

बसो मेरे नैनन में नंदलाल ॥ टेक ॥
मोहनी मूरति साँवरी सूरति, नैणा बने विसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल ॥ २ ॥

हरि मोरे जीवन प्रान अधार ॥ टेक ॥
और आसिरो नाहीं तुम बिन, तीनूँ लोक मँझार।

---

* मीराँ की भाषा में राजस्थानी, गुजराती और ब्रजभाषा का मिश्रण है। इस संग्रह में ऐसे पद संकलित हैं जिनमें ब्रजभाषा की प्रधानता है।

आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यौ सब संसार।
मीराँ कहै मैं दास रावरी, दीज्यौ मती बिसार ॥ ३ ॥

मेरो मन बसिगो गिरधरलाल सों ॥ टेक ॥
मोर मुकुट पीताम्बर हो, गल बैजंती माल।
गउवन के संग डोलत, हो जसुमति को लाल।
कलिंदी के तीर हो, कान्हा गउवां चराय।
सीतल कदम की छाहियाँ, हो मुरली बजाय।
जसुमति के दुवरवाँ हो ग्वालिन सब जाय।
बरजहु आपन दुलरुवा, हमसों अरुझाय।
बृंदाबन क्रीड़ा करैं, गोपिन के साथ।
सुर नर मुनि मोहे हो, ठाकुर जदुनाथ।
इन्द्र कोप घन बरखो, मूसल जलधार।
बूड़त ब्रज को राखेऊ, मोरे प्रान अधार।
मीराँ के प्रभु गिरधर हो, सुनिये चितलाय।
तुम्हरे दरस की भूखी हो, मोहि कछु न सोहाय ॥ ४ ॥

रूप-राग

निपट बँकट छवि अटके।
मेरे नैन निपट० ॥टेक॥
देखत रूप मदन मोहन को, पियत पियूख न मटके।
वारिज भवाँ अलक टेढ़ी मनो, अति सुगंधरस अटके।
टेढ़ी कटि टेढ़ी करि मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके।
मीराँ प्रभु के रूप लुभानी, गिरधर नागर नटके ॥५॥

जब से मोहिं नंदनंदन, दृष्टि पड़्यो माई।
तब से परलोक लोक, कछु न सोहाई।

मोरन की चंद्रकला, सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल, तीन लोक मोहै।
कुंडल की अलक झलक, कपोलन पर धाई।
मनो मीन सरबर तजि, मकर मिलन आई।
कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टौना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूले मृगछौना।
सुंदर अति नासिका, सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु भेष धरे, रूप अति विसेषा।
अधर बिंब अरुन नैन, मधुर मंद हाँसी।
दसन दमकदाड़िम दुति, चमके चपलासी।
छुद्र घंट किंकिनी, अनूप धुनि सोहाई।
गिरधर के अंग अंग, 'मीराँ' बलि जाई ॥६॥

अपनी टेक

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकट, मेरे पति सोई॥
छांडि दई कुल की कानि, कहा करिहै कोई।
संतन ढिक बैठि बैठि, लोक लाज खोई॥
अंसुवन जल सींचि सींचि, प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई, आणँद फल होई॥
भगति देखि राजी हुई, जगति देखि रोई।
दासी 'मीराँ' लाल गिरधर, तारो अब मोहीं ॥७॥

स्तुति-प्रार्थना

हरि तुम हरो जन की भीर॥ टेक॥
द्रोपती की लाज राखी, तुरत बाढ़यौ चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि, धरयौ आप सरीर।

हिरणाकुश मारि लीन्ह, धर्‌यौ नाहिं न धीर।
बूड़तो गजराज राख्यौ, कियौ बाहर नीर।
दासी 'मीराँ' लाल गिरधर, चरण कँवल पै सीर ॥८॥

विरह-व्यथा

पीया विनि रह्यौइ न जाइ ॥ टेक ॥
तन मन मेरो पिया पर वारूँ, बार बार बल जाइ।
निस दिन जोऊँ बाट पिया की, कबरे मिलोगे आइ।
'मीराँ' के प्रभु आस तुमारी, लीज्यौ कंठ लगाइ ॥९॥

प्रतीक्षा

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज ॥टेक॥
म्हैल चढ़े चढ़ि जोऊं मेरी सजनी, अव आवे महाराज।
दादर मोर पपइया बोलै, कोइल मधुरे साज।
उमंग्यो इन्द्र चहूँ दिसि बरसै, दामणि छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलण कै काज।
'मीराँ' के प्रभु हरि अविनासी, वेग मिलो महाराज ॥१०॥

सद्‌गुरु-महिमा

मैंने राम रतन धन पायौ ॥टेक॥
बसत अमोलक दी मेरे सतगुरु, करि किरपा अपणायौ।
जनम जनम की पूंजी पाई, जग में सभै खोवायौ।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवै, दिन दिन बधत सवायौ।
सत की नाव खेवटिया सतगुर, भवसागर तरि आयौ।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, हरखि हरखि जस गायौ ॥११॥

संसार

यहि विधि भक्ति कैसे होय ॥टेक॥
मनकी मैल हियतें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी, बाँधि मोहिं चंडाल।
क्रोध कसाई रहत घट में, कैसे मिले गोपाल।
बिलार विषया लालजी रे, ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से, राम नाम न लेत।
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अँग न समात।
अभिमान टीला किये बहु कहु, जल कहाँ ठहरात।
जो तेरे हिय अंतर की जानै, तासों कपट न बनै।
हिरदे हरि को नाम न आवै, मुख तें मनिया गनै।
हरि हितु से हेत कर, संसार आसा त्याग।
दास 'मीराँ' लाल गिरधर, सहज कर वैराग ॥१२॥

उपदेश

राम नाम रस पीजै मनुआँ, रामनाम रस पीजै ॥ टेक॥
तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचा सुण लीजै।
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, चित से बहाय दीजै।
'मीराँ' के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के रंग में भीजै ॥१३॥

मेरे मन रामहिं राम रटैरे ॥टेक॥
राम नाम जप लीजै प्राणी, कोटिक पाप कटैरे।
जनम जनम के खत जु पुराने, नामहिं लेत फटैरे।
कनक कटोरे इम्रत भरियो, पीवत कौन नटैरे।
'मीराँ' कहै प्रभु हरि अबिनासी, तन मन ताहि पटैरे ॥१४॥

❀

छीतस्वामी

बाल-लीला

प्रात भयौ, जागो बल मोहन सुखदाई।
जननी कहै बार-बार, उठो प्रान के अधार,
मेरे दुखहार, स्यामसुन्दर कनहाई॥
दूध, दही, माखन, घृत, मिश्री, मेवा बदाम,
पकवान भाँति भाँति विविध रस मलाई।
'छीतस्वामी' गोवरधन-धर, लाल भोजन कर,
ग्वालन के संग बन, गोचारन जाई॥१॥

गायन के पाछै-पाछै, नटवर वपु काछै,
मुरली बजावत, आवत है री मोहन।
अति ही छबीले पग, धरनी धरत डगमग,
उपजत मग लागै जिय सोहन॥
खिरक निकट जान, आगे धरत स्याम,
ठठकी गाय, लागीं सब गोहन॥
'छीतस्वामी' गिरिधारी, विठ्ठलेस वपु धारी,
आवत निरखि-निरखि गोपी लागीं जोहन॥२॥

भई भेंट अचानक आई।
हौं अपन गृह तें चली जमुना, वे उततें चले चारन गाई॥
निरखत रूप ठगौरी लागी, उत कौ डगर चल्यौ नहिं जाई।
'छीतस्वामी' गिरिधरन कृपा कर, मो तन चितए मुरि मुसकाई॥३॥

रूपासक्ति

मेरी अँखियन के भूषन गिरिधारी।
बलि-बलि जाऊँ छबीली छवि पर, अति आनंद सुखकारी॥
परम उदार चतुर चिंतामनि, दरस-परस दुखहारी।
अतुल सुभाव तनक तुलसी दल, मानत सेवा भारी॥
'छीतस्वामी' गिरिधरन बिसद जस, गावत हैं कुल नारी।
कहा बरन गुन-गाथ नाथ के, श्री विट्ठल हृदय विहारी॥४॥

अरी हौं स्याम-रूप लुभानी।
मारग जाति मिले नँदनंदन, तन की दसा भुलानी॥
मोर मुकुट सीस पर बाँकौ, बाँकी चितवनि सोहै।
अंग अंग भूषन बने सजनी, जो देखै सो मोहै॥
मो तन मुरिकै जब मुसिकाने, तब हौं छाकि रही।
'छीतस्वामी' गिरिधर की चितवनि, जाति न कछू कही॥५॥

मेरे नैनन इहै बान परी।
गिरिधरलाल मुखारविंद-छवि, छिन-छिन पिवत खरी॥
पाग सुदेस लाल अति सोहत, मोतिन की दुलरी।
हरि-नख उरहिं विराजत, मनि-गन जटित कंठसिरी॥
'छीतस्वामी' गोवरधन-धर पर, वारौं तन-मन री।
विट्ठलनाथ निरखि कै फूलत, तन-सुधि सब बिसरी॥६॥

रास-ऋतु-वर्णन

लाल संग रास-रंग लेत मान रसिक रमन,
गिड़-गिड़ता, गिड़-गिड़ता, त त्त त्त त्त त्त थेई-थेई गति लोने।
सरि ग म प ध नि, ग म प ध नि धुनि सुनि,
व्रजराज तरुनि गावत री, अति गति यति भेद सहित,

ता न न नां न न न न न न न न अति गति असलीने ॥
उदित मुदित सरद-चंद, बंद छुटे कंचुकी के,
वैभव भव निरखि-निरखि कोटि काम हीने ।
बिहरत बन रस-बिलास, दंपति वर ईषद हास,
'छीतस्वामी' गिरिवर-धर, रसबस कर लीने ॥७॥

आयौ ऋतुराज साज पंचमी बसंत आज,
बौरे द्रुम अति अनूप अब रहे फूली ।
बेली पट पीत माल, सेत पीत कुसुम लाल,
उड़वति सब स्याम भाम भँवर रहे झूली ॥
रजनि अति भई स्वच्छ, सरिता सब विमल पच्छ,
उड़गन पति अति अकास बरषत रस-मूली ।
जती-सती, सिद्ध-साधु जित-तित तें उठे भाग,
बिमल सभी तपसी भए, मुनि मन गति भूली ॥
जुवति-जूथ करति केलि, स्याम सुखद सिंधु झेलि,
लाज-लीक दई पेलि, परसि पगन तूली ।
बाजत आवज उमंग, बांसुरी मृदंग चंग,
यह सब सुख 'छीत' निरखि, इच्छा अनुकूली ॥८॥

बादर झूम-झूम बरसन लागे ।
दामिनि दमकति, चौंकि चमकि स्याम, घन की गरज सुनि जागे ॥
गोपी जन द्वारें ठाड़ीं, नारि नर मींजत मुख देखति अनुरागे ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल, ओत-प्रोत रस पागे ॥९॥

व्रजासक्ति

अहो विधना ! तो पै अँचरा पसारि माँगौं,
जनम-जनम दीजो मोहि याही व्रज बसिबौ ।
अहीर की जाति, समीप नंद घर,

हेरि-हेरि स्याम सुभग घरी-घरी हँसिवौ ॥
दधि के दान मिस, ब्रज की वीथिन में,
झकझोरन अंग-अंग कौ परसिवौ।
'छीतस्वामी' गिरिधरन श्री विट्ठल,
सरद-रैन रस रास बिलसिवौ ॥१०॥

❀

हरिदास

विनय और भक्ति

गहो मन सब रस को रस सार।
लोक वेद कुल करमै तजिये भजिये नित्य विहार ॥
गृह कामिनी कंचन धन त्यागौ सुमिरो श्याम उदार ॥
गति 'हरिदास' रीति संतन की गादी को अधिकार ॥१॥

ज्यों ही ज्यों ही तुम राखत हौ त्यों ही त्यों ही रहियतु हौं हो हरि।
और अचरचै पाइ धरौं, सु तौ कहौ कौन के पैंड़ भरि ॥
जदपि हौं अपनो भायो कियो चाहौं, कैसे करि सकौं तो तुम राखौ पकरि।
कहि 'हरिदास' पिंजरा के जानवर लौं, तरफराइ रह्यो उड़िबे कौं कितेउ करि।२

हरि को ऐसोई सब खेल।
मृगतृस्ना जग व्याप रही है कहूँ बिजारो न वेल ॥
धनमद, जोवनमद औ राज़मद, ज्यों पंछिन में डेल।
कहि 'हरिदास' यहै जिय जानौ तीरथ को सो मेल ॥३॥

हित तौ कीजै कमलनैन सौं, जा हित के आगे और हित लागै फीको।
कै हित कीजै साधु-सँगति सौं, जावै कलमष जी को ॥
हरि कौ हित ऐसो जैसो रंगमजीठ, संसार हित कसूँभि दिन दुती को।
कहि 'हरिदास' हित कीजै बिहारी सौं, और न निबाहु जानि जी को ॥४॥

हरि के नाम कौं आलस क्यों करत है रे, काल फिरत सर साँधैं।
हीरा बहुत जवाहर संचे, कहा भयो हस्ती दर बाँधैं ॥
बेर-कुवेर कछू नहिं जानत, चढ़ो फिरत है काँधैं।
कहि 'हरिदास' कछू न चलत जब, आवत अंत की आँधैं ॥५॥

कवितावली

अवधेस के द्वार सकार गई सुत गोद मैं भूपति लै निकसे ;
अवलोकिहौं सोच-बिमोचन को ठगि-सी रहि, जे न ठगे, धिक-से ।
'तुलसी' मन-रंजन रंजित अंजन नैन सु खंजन-जातिक-से ;
सजनी ससि मैं समसील उभै नव-नील सरोरुह-से बिकसे ॥१५॥

पग नूपुर औ, पहुँची कर-कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए ;
नवनील कलेवर, पीत झँगा, झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए ।
अरबिंद-सो आनन, रूप मरंद अनंदित लोचन-भृंग पिए ;
मन मैं न बस्यो अस बालक जो, 'तुलसी' जग मैं फल कौन जिए ॥१६॥

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं ;
अति सुंदर सोहत धूरि-भरे, छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं ।
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों, किलकैं कल बाल-बिनोद करैं ;
अवधेस के बालक चारि सदा 'तुलसी' मन-मंदिर में बिहरैं ॥१७॥

वर दंत की पंगति कुन्द कली अधराधर पल्लव बोलन की ।
चपला चमकै घन बीच जुगै छबि मोतिन माल अमोलन की ॥
घुघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ।
नेवछावर प्राण करैं 'तुलसी' बलि जाऊँ लला इन बोलन की ॥१८॥

कीर के कागर ज्यों नृप चीर विभूषन उप्पम अंगनि पाई ।
औध तजी मग वास के रूप ज्यों पंथ के साथ ज्यौं लोगलुगाई ॥
संग सुबंधु पुनीत प्रिया मनो धर्म क्रिया धरि देह सोहाई ।
राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाउ कीं नाई ॥१९॥

रावरे दोषु न पाँयन को, पग-धूरि को भूरि प्रभाउ महा है ;
पाहन ते बरु बाहन काठ को कोमल है, जल खाइ रहा है ।

पावन पाँव पखारिकै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है ?
'तुलसी' सुनि केवट के बर बैन, हँसे प्रभु जानकी ओर हहा है ॥२०॥

पुरते निकसी रघुवीर बधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की पटु सूखि गए मधुराधर वै॥
फिर बूझतिहैं चलनोऽव कितो पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै ॥२१॥

जल को गये लक्खन हैं लरिका परिखो पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछ पसेउ बयारि करौं अरु पाय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥
'तुलसी' रघुवीर प्रिया श्रम जानि कै वैठि विलम्ब लौं कंटक काढ़े।
जानकी नाह को नेह लख्यो पुलक्यो तन वारि विलोचन बाढ़े ॥२२॥

सीस जटा उर बाहु विशाल विलोचन लाल तिरीछीसी भौहैं।
तून सरासन बान धरे 'तुलसी' बन मारग में सुठि सोहैं॥
सादर बारहिबार सुभाय चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्रामवधू सिय सों कहो साँवरो सो सखि रावरो को है ॥२३॥

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मनो,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है;
कैधों व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर-रस बीर तरवारि-सी उघारी है।
तुलसी सुरेस-चाप, कैधों दामिनी-कलाप,
कैधों चली मेरु ते कृसानु-सरि भारी है;
देखे जातुधान जातु-धानी अकुलानी कहैं,
कानन उजारयो अब नगर पजारी है ॥ २४ ॥

कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाबिष, ब्याधि, दवा अति घेरे;
संकट कोटि जहाँ 'तुलसी' सुत, मातु, पिता, हित, बंधु न नेरे।

राखि हैं राम कृपालु, तहाँ, हनुमान-से सेवक हैं जिहि केरे;
नाक, रसातल, भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे ॥२५॥
लागि दवारि पहारि ढही, लहकी कपि लंक यथा खर-खोकी;
चारु चुआ चहुँ ओर चली, लपटैं झपटैं सो तमीचर तोकी।
क्यों कहि जात महासुखमा, उपमा तकि ताकत हैं कबि कोकी;
मानो लसो 'तुलसी' हनुमान-हिए जग जीति जराय की चोकी ॥२६॥

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सिद्यमान सोच सब,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाय, का करी।
वेदहुँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकियत,
साँकरे समै पै, राम रावरे कृपा करी।
दारिद दसानन दबाई दुनी दीनबंधु,
दुरित दहत देखि 'तुलसी' हहा करी ॥२७॥

विनय-पत्रिका

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु वेद बड़ाई भानी ॥
निज घर की वर बातं बिलोकहु हो तुम परम सयानी।
सिव की दई संपदा देखत श्री सारदा सिहानी ॥
जिनके भाल लिखीलिपि मेरी सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी ॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं भीख भली मैं जानी ॥
प्रेम प्रसंसा विनय ब्यंग जुत सुनि विधि की वर बानी।
'तुलसी' मुदित महेस मनहिं मन जगत मातु मुसुकानी ॥२८॥

मेरो मन हरिजू, हठ न तजै।
निसि-दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि, करत सुभाउ निजै।
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै;
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै।
लोलुप भ्रम गृह-पसु ज्यों जहँ-तहँ, सिर पदत्रान बजै;
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग, कबहुँ न मूढ़ लजै।
हौं हार्‍यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै!
'तुलसिदास' बस होइ तबहिं, जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥२९॥

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति सुर-सरिता, आस करत ओसन की।
धूम-समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की;
नहिं तहँ सीतलता, न बारि, पुनि हानि होति लोचन की।
ज्यों गच काँच बिलोकि स्वान जड़ छाँह आपने तन की;
टूटत अति आतुर अहार-बस, छति बिसारि आनन की।
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ मति जन की;
'तुलसिदास' प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥३०॥

अबलौं नसानी, अब ना नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं;
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित-कंचनहि कसैहौं।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निजबस ह्वै न हँसैहौं;
यह मन-मधुकर पन करि 'तुलसी', प्रभु-पद-कमल बसैहौं ॥३१॥

केसव, कहि न जाय, का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति, समुझि मन-हि-मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे;
धोए मिटै न मरै भीति, दुख पाइय यहि तनु हेरे।

रबिकर नीर, बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं;
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने;
'तुलसिदास' परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचाने ॥३२॥

कबहुँक हौं इहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ कृपाल कृपा तें संत सुभाव गहौंगो॥
जथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान सम सीतल मन परगुन अवगुन न कहौंगो॥
परिहरि देह जनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो।
'तुलसिदास' प्रभु इहि पथ रहि अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥३३॥

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो छाँड़िए कोटि बैरी-सम, जद्यपि परमसनेही।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी;
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रजबनितनि, भे सब मंगल-कारी।
नाते नेह राम के मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं;
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।
'तुलसी' सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो;
जासों होइ सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥३४॥

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुरलभ देह पाइ हरि-पद भजु, कर्म, बचन अरु ही ते।
सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बली ते;
हम-हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते।
सुत-बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह सब ही ते;

अंतहुँ तोहिं तजैंगे पामर, तू किन तजु अब ही ते।
अब नाथहिं अनुरागु, जागु जड़, त्यागु दुरासा जी ते;
बुझै न काम-अगिनि 'तुलसी' कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते।।३५।।

ऐसेहि जनम-समूह सिराने।
प्राननाथ रघुपति-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने।
जे जड़ जीव, कुटिल, कायर, खल, केवल कलि-मल-साने;
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ हरि ते अधिक करि माने।
सुख-हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाँय पिराने;
सदा मलीन पंथ के जल ज्यों, कबहुँ न हृदय थिराने।
यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने;
'तुलसी' चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने।।३६।।

हनुमान्-बाहुक

स्वर्ण-सैल-संकास कोटि-रबि-तरुन तेज घन;
उर बिसाल, भुजदंड चंड, नख बज्र, बज्र तन।
पिंग नयन, भ्रुकुटी कराल, रसना दसनानन;
कपिस केस, करकस लँगूर, खल-दल-बल-भानन।
कह 'तुलसिदास' बस जासु उर मारुत-सुत-मूरति बिकट;
संताप, पाप तिहि पुरुष के सपनेहुँ नहिं आवत निकट।।३७।।

सिंधु तरे, बड़े बीर दले, खलजाल हैं लंक-से बंक मवासे;
तैं रन केहरि केहरि के बिदले अरि कुंजर छैल छवा-से।
तोसों समत्थ सुसाहिब सेइ सहै 'तुलसी' दुख दोष दवा-से;
बानर-बाज बढ़े खल खेचर, लीजत क्यों न लपेटि लवा-से।।३८।।

हनुमान्-अष्टक

रावन जुद्ध अजान कियो, तब नाग कि पास सबै सिर डारो ;
श्रीरघुनाथ-समेत सबै दल मोहे, भयो तब संकट भारो।
आनि खगेस तबै हनुमानजू बंधन काटि कुत्रास निवारो ;
को नहिं जानत है जग में, प्रभु संकट-मोचन नाम तुम्हारो ॥३९॥

❀

नंददास

रास पंचाध्यायी

बंदन करौं कृपानिधान श्री शुक सुभकारी।
सुद्ध जोतिमय रूप सदा सुंदर अविकारी ॥१॥
हरि-लीला-रस मत्त मुदित नित बिचरत जग मैं।
अद्‌भुत गति कतहूँ न अटक ह्वै निकसत नग मैं ॥२॥

नीलोत्पल-दल स्याम अंग नव-जोबन भ्राजै।
कुटिल अलक मुख-कमल मनों अलि-अवलि बिराजै॥३॥

ललित बिसाल सुभाल दिपत जनु निकर निसाकर।
कृष्ण-भगति-प्रतिबंध तिमिर कहुँ कोटि दिवाकर ॥४॥
कृपा-रंग-रस-ऐन नैन राजत रतनारे।
कृष्ण-रसासव-पान-अलस कछु घूम घुमारे ॥५॥
उन्नत नासा अधर बिम्ब सुक की छबि छीनी।
तिन बिच अद्भुत भाँति लसति कछु इक मसि भीनी ॥६॥

स्रवन कृष्ण-रस-भवन गंड-मंडल भल दरसै।
प्रेमानंद मिली सुमंद मुसकनि मधु बरसै ॥७॥
कंबु कंठ की रेख देखि हरि-धरमु प्रकासै।
काम क्रोध मद लोभ मोह जिहिं निरखत नासै ॥८॥

उर-बर पर अति छबि की भीर कछु बरनि न जाई।
जिहिं अंतर जगमगत निरंतर कुँवर कन्हाई ॥९॥
गूढ़ जानु आजानुबाहु मद-गज-गति लोलैं।
गंगादिकनि पवित्र करत अवनी पर डोलैं ॥१०॥

प्रेम-समुद्र रूप-रसि गहिरे, कैसे लागै घाट।
बेकारथो दै जानि कहावत, जानिपनों की कहा परी बाट॥
काहू कौ सर परै न सूधो, मारत गाल गली-गली हाट।
कहि 'हरिदास' बिहारिहिं जानौ, तकौ न औघट घाट॥६॥

राधा-कृष्ण

प्यारी, जैसे तेरी आँखिन में हौं अपनपौ।
देखत, तैसें तुम देखति हौ किधौं नाहीं ?'
हौं तोसौं कहौं प्यारे आँख मूँदि
रहौं, लाल निकसि कहाँ जाहीं॥
मोकों निकसिबे कों ठौर बताओ,
सांची कहौं, बलि जाउँ, लागौं पाहीं।'
'श्रीहरिदास' के स्वामी स्यामा,
तुमहिं देख्यौ चाहत और सुख लागत नाहीं॥७॥

रासलीला

अद्भुत गति उपजति, अति नम्चत, दोऊ मंडल कुँवर-किसोरी।
सकल सुगन्ध अंग भरि भोरी, पिय नृत्यति, मुसुकति मुख मोरी॥
ताल धरैं बनिता मृदंग, चंद्रा-गति-घात बजैं थोरी-थोरी।
सधुर भाव-भाषा बिचित्र अति, ललित गीत गावैं चित चोरी॥
श्रीवृन्दाबन फूलनि फूल्यौ, पूरन ससि, समीर-गति थोरी।
गति बिलास, रस-हास परस्पर, भूतल अद्भुत जोरी॥
श्रीजमुना-जल थिथकित, पुहुपनि, छबि रतिपति डारत तृन-तोरी।
'श्रीहरिदास'के स्वामी स्यामा, कुंजबिहारी जू कौ रस रसना कहै कोरी॥८॥

राधा-महिमा

तुव जस कोटि ब्रह्मांड बिराजै राधे।
श्री सोभा बरनी न जाइ अगाधे,
बहुतक जन्म बिचारत ही गए साधे-साधे॥
'श्रीहरिदास' कहत री प्यारी,
ये दिन मैं क्रम करि-करि लाधे ॥६॥

❀

चतुर्भुजदास

भक्ति-भावना

सदा ब्रज ही में करत बिहार।
तब के गोप वेष, अबके प्रकटे द्विजवर अवतार॥
जब गोकुल में नंद-कुँवर, अब वल्लभ-राजकुमार।
आय पहुँचि रुचि और दिखावत सेवा मत दृढ़सार॥
जुग स्वरूप गिरिधरन श्री विट्ठल लीला ए अनुसार।
'चतुर्भुज' प्रभु सुख लेत निवासी भक्तन कृपा उदार॥१॥

हेत करि देत जमुना बास कुंजे।
जहाँ निसि-बासर रास में रसिक वर, कहाँ लौं बरनिऐ प्रेम पुंजे॥
थकित सरिता नाथ ब्रजबधू भीर, कोऊ धरत धीर मुरली सुनंजे।
'चतुर्भुजदास' जमुन पंकज जानि, मधुप की नाँई चित लाई गुंजे॥२॥

बाल-लीला

झूलौ पालने गोविंद।
दधि मथौं, नवनीत काढौं, तुमकों आनँदकंद॥
कंठ कठुला, ललित लटकन, भ्रकुटि मन के फंद।
निरखि छबि, छिन-छिन झुलाऊँ, गाऊँ लीला छंद॥
द्वै दूध की दतियाँ,सुखकी निधियाँ,हँसत जब कछू मंद।
'चतुर्भुज' प्रभु जननी बलि, गिरिधरन गोकुल-चंद॥३॥

ललित लिलाट लर लटकन सोहै, लाड़िले ललन कों लड़ावैं ललना।
प्रान प्यारे प्रानपति, उपजत अति रति, पल-पल पौढ़ैं प्रेम पलना॥

नैन्हीं-नैन्हीं दतियाँ द्वै-द्वै दूध की, देखिए हँसत, हरत दुख-दलना।
सरोज सलौंने मुख स्यामघन जलधर 'चतुर्भुज' प्रभु बिन देखै परै कल ना ४

मंगल आरती गोपाल की।
नित उठि मंगल होत निरखि मुख, चितवन नैन विसाल की।।
मंगल रूप स्यामसुंदर कौ, मंगल छवि भ्रकुटी भाल की।
'चतुर्भुजदास' सदा मंगल-निधि, बानिक गिरिधर लाल की ।।५।।

महा महोत्सव गोकुल गाँम।
प्रेम मुदित गोपी जस गावत, लै-लै स्यामसुंदर कौ नाम।।
जहाँ तहाँ लीला अवगाहत, खरिक खोरि दधि-मंथन धाम।
परम कुतूहल निसि अरु वासर, आनंद ही बीतत सब जाम।।
नंदगोप-सुत सब सुखदायक, मोहन मूरति, पूरन काम।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर आनँद-निधि, नख-सिख रूप सुभग अभिराम।।६।।

मोहन चलत बाजत पैंजनि पग।
सब्द सुनत चकृत ह्वै चितवत, त्यों ठुमकि-ठुमकि धरत है डग।।
मुदित जसोदा चितवति सिसु तन, लै उछंग लावै कंठ सु लग।
'चतुर्भुज' प्रभ गिरिधर न लाल कौं, ब्रज जन निरखत ठाड़े ठग-ठग ।।७।।

अगोरत नागर नंद किसोर।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिसि तें आई, सघन घटा घनघोर।।
नेह नीर बूँदन बरसन लाग्यौ, चपला पवन झकोर।
'चतुर्भुज' प्रभु पातर लै भाजे, सघन कुंज की ओर ।।८।।

छवि-वर्णन

सुभग सिंगार निरख मोहन कौ, लै दर्पन कर पियहिं दिखावै।
आपुन नैक निहारि बलि जाऊँ आज की छबि कछु कहत न आवै।।

भूषन रहे ठाँव ठाँवहिं फबि, अँग-अँग अद्भुत, चितहिं चुरावै।
रोम-रोम पुलकित तन सुन्दर, फूलन रचि-रचि पाग बनावै॥
अंचर फेरि करत न्यौछावर, तन-मन अति अभिलाष बढ़ावै।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरधर कौ रूप-सुधा, पीवत नैन-पुट तृप्ति न पावै॥९॥

नवल किसोरी नवल किसोर, बनी है विचित्र जोरि,
सोभा-सिंधु, मदनमोहन रूप रासि भामिनी।
राजत तन गौर स्याम, प्यारी पिय भागवान्,
नव घन गिरधरन अंग, अंग मनहु दामिनी॥
पहिरै पट पियरौ भूषन, भूषित सब मानों अंग,
गज-गति गोपाल नागर, नागरी गज-गामिनी।
'दास चतुर्भुज' दंपति की उपमा न कोऊ काम,
मूरति कमल-लोचन, मृगनैनी कामिनी॥१०॥

रूपासक्ति

नैन कुरंगी रति-रसवाते, फिरत तरल अनियारे।
नवल किसोर स्याम तन घन बनि, पाए हैं नव-निधि वारे॥
नाना बरन भये सुख पोषे, स्याम-स्वेत-रतनारे।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधरन-कृपा रंग, रँग रचि रुचिर सँवारे॥११॥

नैंननि ऐसी बानि परी।
बिन देखै गिरिधरन लाल मुख, जुग भरि गनत घरी॥
मारग जात उलटि तिन चितयौ, मो तन दृष्टि भरी।
तबही तें लागी है एकटक निमिष मरजाद टरी॥
'चतुर्भुजदास' छुड़ावन कौं हठि, मैं विधि बहुत करी।
तैं सर्बसु हरि कौं हारि दोनों, देह-दिसा बिसरी॥१२॥

प्रेमासक्ति

नागरि छाँडि दै चतुराई।
अंतर गति की प्रीति परस्पर, नाँहिन दुरत दुराई॥
ज्यों ज्यों ठानत मान मौन धरि, मुख रुख राखि बड़ाई।
त्यों-त्यों प्रगट होत उर अंतर, काँच-कलस जल झाई॥
भ्रकुटी भाव-भेद सिलवत सब, नागर सुघर सिखाई।
'चतुर्भुज' प्रभु गिरिधर गुन सागर, सैनन भली पढ़ाई॥१३॥

❀

तुलसीदास

गीतावली

आइ रहे जब ते दोउ भाई।
तब से चित्रकूट-कानन-छबि दिन-दिन अधिक-अधिक अधिकाई।
सीता-राम-लखन-पद अंकित अवनि सुहावनि, बरनि न जाई;
मंदाकिनि मज्जत, अवलोकत त्रिबिध पाप, त्रयताप नसाई।
उकठेउ हरित भए जल-थलरुह नित नूतन राजीव सुहाई;
फूलत, फलत, पल्लवित, पलुहत विटप-बेलि अभिमत सुखदाई।
सरित-सरनि सरसीरुह-संकुल सदन सँवारि रमा जनु छाई;
कूजत बिहँग, मंजु, गुंजति अलि, जात पथिक जनु लेत बुलाई ॥१॥

कृष्ण-गीतावली

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रज-भूमि सकल सुरपति सों मदन मिलिक करि पाई।
घन धावन, बग पाँति पटो सिर, बैरख तड़ित सोहाई;
बोलत पिक नकीब गरज्जनि मिस मानहुँ फिरति दोहाई।
चातक, मोर, चकोर, मधुप, सुक, सुमन, समीर सुहाई;
चाहत कियौ बास बृंदावन, बिधि सों कछु न बसाई।
सीवँ न चापि सको कोउ तब, जब हुते स्याम दोउ भाई;
अब 'तुलसी' गिरिधर बिनु गोकुल कौन करहि ठकुराई ॥२॥

दोहावली

बरषा-ऋतु रघुपति-भगति, तुलसी सालि सुदास;
राम-नाम बर बरन जुग सावन-भादों-मास ॥ ३ ॥

राम-नाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल ;
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहिं दलि सुर साल ॥ ४ ॥

रसना साँपिन, बदन बिल, जो न जपहिं हरि-नाम ;
'तुलसी' प्रेम न राम सों, ताहि बिधाता बाम ॥ ५ ॥

सपने होय भिखारि नृप, रंक नाकपति होय ;
जागे लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय ॥ ६ ॥

दीप-सिखा-सम जुवति-तन, मन, जनि होसि पतंग ;
भजहि राम तजि काम, मद, करहि सदा सतसंग ॥ ७ ॥

ताहि कि संपति सकुन सुभ, सपनेहु मन बिसराम ;
भूत-द्रोह-रत, मोह-बस, राम-बिमुख, रत काम ॥ ८ ॥

होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम ;
होइ कुपूत सपूत के, ज्यों पावक में धूम ॥ ९ ॥

बरखि बिस्व हरखित करत, हरत ताप, अघ प्यास ;
'तुलसी' दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ॥ १० ॥

सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की करतूति ;
'तुलसी' तापर चाहिए कीरति, बिजय बिभूति ॥ ११ ॥

लोक-रीति फूटी सहै, आँजी सहै न कोइ ;
'तुलसी' जो आँजी सहै, सो आँधरो न होइ ॥ १२ ॥

सचिव, वैद, गुरु तीन जहँ प्रिय बोलहिं भय-आस ;
राज, देह अरु धरम को होय वेगि ही नास ॥ १३ ॥

सरनागत कहँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ;
ते नर पामर पापमय, तिन्हैं बिलोकत हानि ॥ १४ ॥

जब दिनमनि श्रीकृष्ण दृगनि तें दूरि भए दुरि।
पसरि परयो अँधियार सकल संसार घुमड़ि घुरि ॥११॥

तिमिर-ग्रसित सब लोक-ओक लखि दुखित दया कर।
प्रगट कियो अद्‌भुत-प्रभाउ भागवत-बिभाकर ॥१२॥

ताहू मैं पुनि अति रहस्य यह पंचाध्याई।
तन मँह जैसे पंच प्रान अस सुक मुनि गाई ॥१३॥

परम रसिक इक मीत मोहिं तिन आज्ञा दीन्ह।
तातें मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्ही ॥१४॥

श्रीवृंदाबन चिद्‌घन कछु छबि बरनि न जाई।
कृष्ण-ललित लीला के काज धरि रह्यौ जड़ताई ॥१५॥

जहँ नग खग मृग कुंज लता बीरुध तृन जेते।
नहिंन काल गुन-प्रभा सदा सोभित रहे तेते ॥१६॥

सकल जंतु अविरुद्ध जहाँ हरि मृग सँग चरहीं।
काम-क्रोध-मद-लोभ-रहित लीला अनुसरहीं ॥१७॥

सब दिन रहत बसंत कृष्ण-अवलोकनि-लोभा।
त्रिभुवन कानन जा विभूति-करि सोभित सोभा ॥१८॥

देवन मैं श्रीरमारमन नारायन प्रभु जस।
बन मैं वृंदावन सुदेस सब दिन सोभित अस ॥१९॥

जदपि सहज माधुरी बिपिन सब दिन सुखदाई।
तदपि रँगीली सरद समय मिलि अति छबि पाई ॥२०॥

ज्यौं अमोल नग जगमगाय सुंदर जराय सँग।
रूपवंत गुनवंत भूरि भूषन भूषित अँग ॥२१॥

नव फूलनि सों फूलि फूल अस लगति लुनाई।
सरद छवीली छपा हँसता छबि सों मनु आई ॥२२॥

ताही छिन उडुराज उदित रस - रास - सहायक।
कुमकुम - मंडित प्रिया बदन जनु नागर नायक ॥२३॥

कोमल किरन अरुनिमा बन मैं व्यापि रही अस।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलाल जस ॥२४॥

फटिक छरी सी किरन कुंज - रंध्रनि जब आई।
मानों बितनु बितान सुदेस तनाउ तनाई ॥२५॥

मंद मंद चलि चारु चंद्रिका अस छबि पाई।
उझकति हैं पिय रमा - रमन कौं मनु तकि आई ॥२६॥

तब लीनी कर-कमल जोगमाया सी मुरली।
अघटित घटना चतुर बहुरि अधरासव जुर ली ॥२७॥

जाकी धुनि तें अगम निगम प्रगटे बड़ नागर।
नाद ब्रह्म की जननि मोहिनी सब सुख सागर ॥२८॥

नागर नवल किसोर कान्ह कल - गान कियो अस।
बाम बिलोचन बालन को मन हरन होई जस ॥२९॥

सुनत चलीं ब्रजबधू गीत - धुनि को मारग गहि।
भवन भीति द्रुम कुंज पुंज कितहूँ अटकीं नहिं ॥३०॥

नाद अमृत को पंथ रँगीलो सूछम भारी।
तिहि ब्रज तिय भले चलीं आन कोउ नहिं अधिकारी ॥३१॥

जे रहि गईं घर अति अधीर गुनमय सरीर बस।
पुण्य पाप प्रारब्ध सँच्यौ तन नहिंन पच्यौ रस ॥३२॥

परम दुसह श्री कृष्ण - बिरह - दुख व्याप्यो तिन मैं।
कोटि बरस लग नरक भोग अघ भुगते छिन मैं ॥३३॥

परम भागवत रतन रसिक जु परीछित राजा।
प्रश्न करयो रस पुष्ट करन निज सुख के काजा ॥३४॥

हो मुनि क्यों गुनमय सरीर परिहरि पाए हरि।
जानि भजे कमनीय कान्ह नहिं ब्रह्म-भाव करि ॥३५॥

तब कहि श्री शुकदेव देव यह अचिरज नाहीं।
सर्व भाव भगवान कान्ह जिनके हिय माहीं ॥३६॥

हरि-रस-ओपी गोपी ये सब तियनि तें न्यारी।
कँवल-नैन गोबिंद-चंद की प्रान-पियारी ॥३७॥

तिनके नूपुर नाद सुने जब परम सुहाए।
तब हरि के मन नैन सिमिटि सब स्रवननि आए ॥३८॥

सुभग बदन सब चितवन पिय के नैन बने यों।
बहुत सरद ससि माहि अरबरे द्वै चकोर ज्यों ॥३९॥

अति आदर करि लईं भई पिय पैं ठाढ़ी अनु।
छबिलि छटनि मिलि छैल्यौ मंजुल घन मूरति जनु॥४०॥

नागर-गुरु नँद-नंद चंद हँसि मंद मंद तब।
बोले बाँके बैन प्रेम के परम ऐन सब ॥४१॥

उज्जल रस कौ यह सुभाव बाँकी छबि छावै।
बंक चहनि पुनि कहनि बंक अति रसहिं बढ़ावै ॥४२॥

अहो तिया कहा जानि भवन तजि कानन डगरीं।
अर्द्ध गई सर्वरी कछुक डर डरीं न सगरीं ॥४३॥

लाल रसिक के बंक बचन सुनि चकित भईं यौं।
बाल-मृगिन की माल सघन बन भूलि परी ज्यौं ॥४४॥

मंद परसपर हँसीं लसीं तिरछी अँखियाँ अस।
रूप उदधि उतराति रँगीली मीन पाति जस ॥४५॥

जब पिय कह्यो घर जाहु अधिक चित चिंता बाढ़ी।
पुतरिन की सी पाँति, रहि गईं इक टक ठाढ़ी ॥४६॥

दुख के बोझ छबि-सींव ग्रीव नै चली नाल सी।
अलक अलिन के भार नमित मनु कमल माल सी ॥४७॥

हिय भरि बिरह हुतासन सासन सँग आवत झर।
चले कछुक मुरझाइ मधु भरे अधर बिंब बर ॥४८॥

तब बोली ब्रज बाल लाल मोहन अनुरागी।
गद्गद सुंदर गिरा गिरिधरहिं मधुरी लागी ॥४९॥

अहो अहो मोहन प्राननाथ सोहन सुखदायक।
क्रूर बचन जनि कहौ नहिंन ये तुम्हरे लायक ॥५०॥

जौ कोउ बूझै धरम तबहिं तासों कहिए पिय।
बिन ही बूझे धरम कहत क्यों, कहि दहिए हिय ॥५१॥

नेम धर्म जप तप ये सब कोउ फलहिं बतावैं।
यह कहुँ नाहिंन सुनी जो फल फिरि धरम सिखावै॥५२॥

अरु यह तुम्हरौ रूप धरमि के धरमहिं मोहै।
घर मैं को तिय भरम धरमझहि आगे को है ॥५३॥

सुनि गोपिन के प्रेम बचन सी आँच लगी जिय।
पिघरि चल्यो नवनीत-मीत नवनीत-सदृस हिय ॥५४॥

बिहँसि मिले नँदलाल निरखि ब्रजबाल बिरह बस।
जदपि आतमाराम रमत भए परम प्रेम बस ॥५५॥

अस अद्भुत पिय मोहन सों मिलि गोप-दुलारी।
नहिं अचरजु जौ गरब करहिं गिरिधर की प्यारी ॥५६॥

रूप भरीं गुन भरीं भरीं पुनि परम प्रेम रस।
क्यौं न करैं अभिमान कान्ह भगवान किए बस ॥५७॥

प्रेम-पुंज बरधन के काज ब्रजराज कुँअर पिय।
मंजु कुंज मैं नेकु दुरे अति प्रेम भरे हिय ॥५८॥

जिनके नैन निमेष ओट कोटिक जुग जाहीं।
तिनके गृह वन कुंज ओट दुख अगनित आहीं ॥५९॥

थकि सी रहीं व्रजबाल लाल गिरधर पिय बिनु यौं।
निधन महानिधि पाइ बहुरि ज्यों जाइ भई त्यौं ॥६०॥

ह्वै गईं बिरह विकल तब बूझत द्रुम बेली-बन।
को जड़ को चैतन्य कछु न जानत बिरही जन ॥६१॥

हे मालति! हे जाति! जूथिके! सुनियत दै चित।
मान-हरन मन-हरन गिरिधरन लाल लखे इत ॥६२॥

अपने मुख चाँदने चलैं सुंदरि तिन माहीं।
जहँ आव तम पुंज कुंज गहवर तरु छाहीं ॥६३॥

इहि बिधि वन घन बूझि ढूँढ़ि उनमत की नाईं।
करन लगीं मन-हरन-लाल-लीला मन भाईं ॥६४॥

मोहन लाल रसाल की लीला इनहीं सोहैं।
केवल तनमय भईं कछु न जानति हम को हैं ॥६५॥

भृंगी भय तें भृंग होत इक कीटु महा जड़।
कृष्ण भगति तें कृष्ण होन कछु नहिं अचरज बड़ ॥६६॥

कहन लगीं अहो कुँअर कान्ह व्रज प्रगटे जब तें।
अवधि भूत इंद्रादि इहाँ क्रीड़त हैं तब तें ॥६७॥

नैन-मूँदिवो महा शस्त्र लै हाँसी हाँसी।
मारत हौ कित सुहथ नाथ बिनु मोल की दासी ॥६८॥

विष तैं जलतैं व्याल अनल तैं चपला झर तें।
क्यों राखी, नहिं मरन दई नागर, नगधर तें ॥६९॥

अहो मीत, अहो प्राननाथ यह अचरज भारी।
अपननि जौ मरिहौ करिहौ काकी रखवारी ॥७०॥

यहि बिधि प्रेम-सुधानिधि में अति बढ़ी कलोलैं।
ह्वै गईं बिह्वल बाल लाल सों अलबल बोलैं ।।७१।।

तब तिनहीं में तें निकसे नँदनंदन पिय यौं।
दृष्टि बंध कै दुरै बहुरि प्रगटै नटवर ज्यौं ।।७२।।

पीत बसन बनमाल बनी मंजुल मुरली हथ।
मंद मधुरतर हँसत निपट मनमथ के मनमथ ।।७३।।

कोटि-कोटि ब्रह्मांड जदपि इकली ठकुराई।
ब्रज-देविन की सभा साँवरे अति छवि पाई ।।७४।।

त्यों सब गोपिन सनमुख सुंदर श्याम विराजै।
ज्यों नवदलनि मंडलहिं कमल कर्णिका भ्राजै ।।७५।।

बूझन लागीं नवल बाल नँदलाल पियहिं तब।
प्रीति रीति की बात मनहिं मुसकाति जाति सब ।।७६।।

इक भजते कों भजै एक अनभजतनि भजहीं।
कहो कान्ह ते कवन आहिं जे दुहुँअनि तजहीं ।।७७।।

जदपि जगत गुरु नागर जसुमति-नंद-दुलारे।
पै गोपिन के प्रेम अग्र अपने मुख हारे ।।७८।।

तब बोले पिय नव किसोर हम ऋनी तिहारे।
अपुने हिय तें दूरि करौ सब दोस हमारे ।।७९।।

सकल विश्व अप बस करि मो माया सोहति है।
मोह-मई तुम्हरी माया सोइ मोहिं मोहति है ।।८०।।

सो पिय भए अनुकूल तूल कोउ भयो न है अब।
निरबधि सुख को मूल सूल उनमूल करी सब ।।८१।।

आरंभित अद्भुत सु रास उहि कमल-चक्र पर।
नमित न कितहूँ होइ सबै निरतत बिचित्र बर ।।८२।।

नूपुर, कंकन, किंकिनी करतल मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली ॥८३॥

जो ब्रज देवी निरतत मंडल रास महा छबि।
सो रस कैसे बरनि सकै इहँ ऐसो को कवि ॥८४॥

अद्भुत रस रह्यौ रास गीत धुनि सुनि मोहे मुनि।
सिला सलिल ह्वै चली सलिल ह्वै रह्यो सिला पुनि ॥८५॥

यह उज्जल रस-माल कोटि जतनन कै पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ यहि तोरौ जिनि कोई ॥८६॥

भ्रमर-गीत

ऊधौ कौ उपदेस सुनौ ब्रज-नागरी।
रूप, सील, लावन्य सबै गुन आगरी॥
प्रेम-धुजा, रस-रूपिनी, उपजावनि सुख-पुंज।
सुंदर स्याम-विलासिनी, नव वृंदावन कुंज॥
सुनौ ब्रजनागरी ! ॥८७॥

कहन स्याम-संदेस एक मैं तुम पै आयौ !
कहन समै संकेत कहूँ ओसर नहिं पायौ॥
सोचत ही मन मैं रह्यौ कब पाऊँ एक-ठाउँ।
कहि सँदेस नँदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाँउँ॥
सुनौ ब्रजनागरी ! ॥८८॥

सुनत स्याम कौ नाम बाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनँद रस हृदय प्रेम बेली द्रुम फूली॥
पुलक रोम सब अँग भए भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गद्गद गिरा बोल्यो जात न बैन॥
बिवस्था प्रेम की ॥८९॥

कथोपकथन

अर्घासन बैठाय बहुरि परिकरिमा दीनी।
स्याम-सखा निज जानि बहुत हित सेवा कीनी॥
बूझत सुधि नँदलालकी बिहँसत मुख ब्रज-बाल।
ब्रज०—नीके हैं बलजोर जू, बोलति बचन रसाल॥
सखा ! सुनि स्याम के ॥९०॥

उद्धव—वे तुमतें नहिं दूरि ग्यान की आँखिन देखौ।
अखिल बिस्व भरि पूरि रूप सब उनहिं बिसेखौ॥
लोह दारु पाषान में जल थल मही अकास।
सचर अचर बरतत सबै जोति ब्रह्म-परकास॥
सुनौ ब्रजनागरी ! ॥९१॥

ब्रज०—कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहै ऊधौ ?
हमरे सुंदर स्याम प्रेम को मारग सूधौ॥
नैन, बैन स्रुति, नासिका मोहन रूप दिखाइ।
सुधि बुधि सब मुरली हरी प्रेम-ठगौरी लाइ॥
सखा ! सुनि स्याम के ॥९२॥

उद्धव—सगुन सब उपाधि रूप निर्गुन लै उनकौ।
निराकार निर्लेप लगत नहिं तीनों गुन कौ॥
हाथ पाँय नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत ज्योति प्रकासिका, सकल बिस्व कै प्रान॥
सुनौ ब्रजनागरी ! ॥९३॥

ब्रज०—जो मुख नाहिंन हुतो कहौ किन माखन खायौ ?
पायन बिन गो संग कहौ को बन बन धायौ ?
आँखिन में अंजन दियौ, गोबरधन लियौ हाथ।

नंद-जसोदा पूत है कुँवर कान्ह ब्रजनाथ ॥
सखा सुनि स्याम के ॥९४॥

उद्धव—जो हरि के गुन होइ वेद क्यों नेति बखानै ।
निर्गुन सर्गुन आतमा उपनिषद् जो गानै ॥
वेद पुराननि खोजिकै नहिं पायो गुन एक ।
गुनही के जो होहि गुन कहि अकास किहि टेक ? ॥
सुनौ ब्रज नागरी ! ॥९५॥

ब्रज०—जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहाँ तें ।
बीज बिना तरु जमें मोहि तुम कहौ कहाँ तें ॥
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच ।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल बारि मिलि कीच ॥
सखा ! सुनि स्याम के ॥९६॥

उद्धव—प्रेमहि कै कोउ वस्तु रूप देखत लौ लागे ।
वस्तु दृष्टि बिन कहो कहा प्रेमी अनुरागे ॥
तरनि चंद्र के रूप कौ नहिं पायौ गुन जान ।
तौ उनको कहा जानियै गुनातीत भगवान ॥
सुनौ ब्रज नागरी ! ॥९७॥

ब्रज०—तरनि अकास प्रकास जाहि में रह्यो दुराई ।
दिव्य दृष्टि बिनु कहौ कौन पै देख्यौ जाई ॥
जिनके वे आँखें नहीं देखैं क्यों वह रूप ।
क्यौं उपजै विस्वास जे परे कर्म के कूप ॥
सखा ! सुनि स्याम के ॥९८॥

उद्धव—जे गुन आवै दृष्टि माहिं नस्वर हैं सारे ।
इन सबह्निन तें बासुदेव अच्युत हैं न्यारे ॥

इंद्री दृष्टि विकार तें रहित अधोछज-जोति।
सुद्ध सरूपी ग्यान की प्रापति तिनको होति।।
सुनौ ब्रज नागरी ! ।।९९।।

ताही छिन एक भँवर कहूँ तें उड़ि तहँ आयौ।
ब्रज-बनिता के पुंज माँझ गुंजत छबि छायौ।।
बैठ्यौ चाहै पाय पर अरुन कमल-दल जानि।
सो मन ऊधौ को मनौं प्रथमहि प्रगट्यौ आनि।।
मधुप कौ भेष धरि ।।१००।।

कोउ कहै अहो मधुप कौन कहे तुमें मधुकारी।
लिये फिरत विष जोग गाँठि प्रेमी-बधकारी।।
रुधिर पान कियौ बहुत कें अधर अरुन रँगरात।
अब ब्रज में आये कहा करन कौन कों घात।।
जात किन पातकी ! ।।१०१।।

कोउ कहै रे मधुप भेष उनको क्यों धार्‌यौ।
स्याम पीत, गुंजार वेनु, किंकिनी झनकार्‌यौ।।
बापुर गोरस चोरिकै फिरि आयो या देस।
इनकौ जिनि मानौ कोऊ कपटी इनको भेस।।
चोरि जिनि जाय कछु ।।१०१।।

कोउ कहै रे मधुप कहा तू रस की जाने।
बहुत कुसुम पै बैठि सबन आपुन रस माने।।
आपुन सों हमकों कियौ चाहतु है मतिमंद।
दुविधा रस उपजाय कै दूषित प्रेम अनंद।।
कपट के छंद सों ।।१०३।।

कोउ कहै रे मधुप प्रेमपद को सुख देख्यो ।
अबलौं याहि बिदेस माहिं कोउ नाहि बिसेष्यो ॥
द्वै सिंघ आनन पर जमे कारो पीरो गात ।
खल अमृत सब पानही अमृत देखि डरात ॥
बादि यह रस कथा ॥१०४॥

इहि बिधि सुमिरि गोविंद कहत ऊधौ प्रति गोपी ।
भृँग संग्या करि कहत सकल कुल लज्या लोपी ॥
ता पाछें एक बारही रोइँ सकल ब्रजनारि ।
हा ! करुनामय नाथ हो ! केसौ ! कृष्ण ! मुरारि !
फाटि हिय दृग चल्यौ ॥१०५॥

प्रेम विवस्था देखि सुद्धि यों भक्ति प्रकासी ।
दुबिधा ग्यान गलानि मंदता सगरी नासी ॥
कहत भयौ निस्चै यहै हरि रस की निजपात्र ।
हौं तो कृतकृत्त ह्वै गयौ इनके दरसन मात्र ॥
मेटि मल ग्यान को ॥१०६॥

जे ऐसी मरजाद मेटि मोहन कों ध्यावैं ।
काहे न परमानंद प्रेम पदवी को पावैं ॥
ग्यान जोग सब कर्म तें परे प्रेम ही साँच ।
हौं या पटतर देत हौं हीरा आगे काँच ॥
विषमता बुद्धि की ॥१०७॥

कै ह्वै रहौं द्रुम गुल्म लता वेली बन माहीं ।
आवत जात सुभाय परै मोपै परछाहीं ॥
सोऊ मेरे बस नहीं जो कछु करौं उपाय ।
मोहन होहिं प्रसन्न जो यहि वर माँगौं जाय ॥
कृपा करि देहि जौ ॥१०८॥

ऐसे मग अभिलाष करत मथुरा फिरि आयौ।
गदगद पुलकित रोम अंग आवेस जनायौ॥
गोपी-गुन गावन लग्यौ, मोहन-गुन गयो भूलि।
जीवन कों लै का करौं पायौ जीवनमूलि॥
भक्ति कौ सार यह॥१०६॥

सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
बिबस प्रेम-आवेस रही नाहिंन सुधि कोऊ॥
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।
काम तरोवर सांवरो ब्रजबनिताही पात॥
उलहि अँग अँग तें॥११०॥

उद्धव को उपदेश

ह्वै सुचेत कहि भले सखा पठये सुधि लावन।
अवगुन हमरे आनि तहाँ तें लगे दिखावन॥
उनमैं मोमैं हे सखा छिन भरि अंतर नाहिं।
ज्यों देख्यौ मो माँहि वे हौं हूँ उनहीं माहिं॥
तरंगिनि बारि ज्यों॥१११॥

गोपी आप दिखाइ एक करिकै बनवारी।
ऊधौ के भरे नैन डारि व्यामोहक जारी॥
अपनौ रूप बिहार कौ लीन्हो बहुरि दुराय।
'नंददास' पावन भयौ सो यह लीला गाय॥
प्रेम रस पुंजनी॥११२॥

पदावली

रामकृष्ण कहियै उठि भोर।
वे अवधेस धनुष कर धारैं, ए ब्रज-जीवन माखनचोर।

उनकैं छत्र, चँवर, सिंहासन, भरत, सत्रुहन, लछमन जोर;
इनकैं लकुट, मुकुट, पीताम्बर, नित गायन सँग नंदकिसोर।
उन सागर में सिला तराईं, इन राख्यौ गिरि नख की कोर;
'नंददास' प्रभु सब तजि भजियै, जैसे निरतत चंद-चकोर ॥११३॥

ब्रज-महिमा

नँद-गाउँ नीकौं लागत री।
प्रात समें दधि मथत ग्वालिनी, बिपुल मधुर-धुनि गाजत री॥
धन गोपी, धन ग्वाल सँग ब्रज के, जिनके मोहन उर लागत री।
हलधर संग सखा सब राजत, गिरिधर लै दधि भागत री॥
जहाँ बसत सुर, देव, महा-मुनि, एकों पल नहिं त्यागत री।
'नंददास' प्रभु-कृपा कौं इहि फल, गिरिधर देखि मन जागत री ॥११४॥

बाल-क्रीड़ा

नंद कौं लाल, ब्रज पालनैं झूलैं।
कुटिल अलकावली, तिलक गोरोचन,
चरन-अँगूठा मुख किलक-किलक कूलैं।
नैननि अंजन सुरेख, भेष अभिराम सुचि,
कंठ कै हरि-नख, किंकिन कटि मूलैं।
'नंददास' के प्रभु नंद-नंदन,
कुँवर निरखि नागरि देह, गेह भूलैं ॥११५॥

❀

गंग

बैठी थी सखिन संग पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग आग भरकी।
'गङ्ग' कहै त्रिविध सुगन्ध लै पवन बह्यौ,
लागत ही ताके तन भई बिथाजर की॥
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर पहँ,
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो पङ्क सूख्यो भूमि दरकी॥१॥

नवल नवाब खानखाना जू तिहारी त्रास,
भागे देसपती धुनि सुनत निसान की।
'गङ्ग' कहै तिनहूँ की रानी राजधानी छाँड़ि,
फिरै विललानी सुधि भूली खानपान की॥
तेऊ मिली करिन हरिन मृग वानरन,
तिनहूँ की भली भई रच्छा तहाँ प्रान की।
सची जानी करिन भवानी जानी केहरिन,
मृगन कलानिधि कपिन जानकी॥२॥

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन तें एक मनो सुखमा जरद की।
कहै कवि 'गङ्ग' तेरे बल की बयारि लागे,
फूटी गज घटा घन घटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,
रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।

गौरी गह्यौ गिरिपति गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गह्यो पूँछ लपकि बरद की।।३।।

फूट गये हीरा की बिकानी कनी हाट हाट,
काहू घाट मोल काहू बाढ़ मोल को लयो।
टूट गई लङ्का फूट मिल्यो जो विभीषन है,
रावन समेत बंस आसमान को गयो।।
कहैं कवि 'गङ्ग' दुरजोधन से छत्रधारी,
तनक में फूटें तें गुमान वाको नै गयो।
फूटें तें नरद उठि जात बाजी चौसर की,
आपुस के फूटे कहु कौन को भलो भयो।।४।।

आवत हौं चले शिव शैलतें गिरीश जाँचे,
मिल्यो हुतो मोहि जहाँ सागर सगर को।
कविन की रसना की पालकी पै चढ़ो जात,
संग सोहै रावरो प्रताप तेज वर को।।
कवि 'गङ्ग' पूछी तुम को हौ कित जैहौ उन,
कह्यो मोसों हँसि कै सनेसो ऐसो थर को।
जस मेरो नाम मेरो दसो दिसि काम मेरो,
कहियो प्रनाम हौं गुलाम बीरबर को।।५।।

देखत के बृच्छन में दीरघ सुभायमान,
कीर चल्यो चाखिवे प्रेम जिय जग्यो है।
लाल फल देखि कै जटान मड़रान लागे,
देखत बटोही बहुतेरे डगमग्यो है।।
'गंग' कवि फल फूटे भुआ उधिरान लखि,
सबन निरास ह्वै कै निज गृह भग्यो है।
ऐसों फलहीन वृच्छ बसुधा में भयो यारो,
सेमर बिसासी बहुतेरन को ठग्यो है।।६।।

मृगहू ते सरस बिराजत बिसाल दृग,
देखिये न अति दुति कौलहू के दल मैं।
'गंग' घन दुज से लसत तन आभूषन ठाढ़े,
द्रुम छाँह देख ह्वै गई बिकल मैं।
चख चित चाय भरे शोभा के समुद्र माँझ,
रही ना सँभार दसा औरे भई पल मैं।
मन मेरो गरुओ गयोरी बूड़ि मैं न पायो,
नैन मेरे हरुये तिरत रूप जल मैं ॥७॥

चकई बिछुरि मिली तू न मिली प्रीतम सो
'गंग' कवि कहै ये तो कियो मान ठानरी।
अथये नक्षत्र ससि अथई न तेरी रिस,
तू न परसन परसन भयो भान री।
तू न खोली मुख खोलो कंज औ गुलाब मुख,
चली सीरी वाय तू न चली भो बिहान री।
राति सब घटी नाहीं कानी ना घटी तेरी,
दीपक मलीन ना मलीन तेरो मान री ॥८॥

अधर मधुप ऐसे वदन अधिकानी छवि,
विधि मानो बिधु कीन्हों रूप को उदधि कै।
कान्ह देखि आवत अचानक मुरछि पर्‌यो,
बदन छपाइ सखियान लीन्हो सधि कै॥
मारि गई 'गंग' दृग शर वेधि गिरिधर,
आधी चितवनि मैं अधीन कीन्हो अधिकै।
बान बधि बधिक बधे को खोज लेत फेरि,
बधिक वधू ना खोज लीन्ही फेरि बधि कै ॥९॥

राजे भाजे राज छोड़ि रन छोड़ि रजपूत,
रौतौ छोड़ि राउत रनाई छोड़ि रानाजू।

कहै कबि 'गंग' हूल समुद्र के चहूँ कूल,
किये न करै कबूल तिय खसमाना जू ॥
पश्चिम पुरतगाल कासमीर अवताल,
खक्खर को देस बाढ्यो भक्खर भखाना जू।
रूम साम लोम सोम बलक बदाखशान,
खल फैल खुरासान खीझे खानखाना जू ॥१०॥

तारा की जोत में चंद्र छिपे नहिं सूर छिपे नहिं बादर छाये।
रन्न चढ़े रजपूत छिपे नहिं दाता छिपे नहिं माँगन आये ॥
चंचल नारि कौ नैन छिपे नहिं प्रीति छिपे नहिं पीठ दिखाये।
'गंग' कहै सुन शाह अकब्बर कर्म छिपे न भभूत लगाये ॥११॥

मृगनैनी की पीठ पै बेनी लसै सुख साज सनेह समोइ रही।
सुचि चीकनी चारु चुभी चित मैं भरि भौन भरी खुशबोइ रही।
कवि 'गंग' जू या उपमा जो कियो लखि सूरति ता श्रुति गोइ रही।
मनो कंचन के कदलीदल पै अति साँवरी साँपिन सोइ रही ॥१२॥

❀

नरोत्तमदास

सुदामा-चरित

स्त्री—

लोचन-कमल दुख-मोचन तिलक भाल,
स्रवननि कुंडल मुकुट धरे माथ हैं।
ओढ़े पीत-बसन गरे मैं बैजयंती-माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं॥
कहत 'नरोत्तम' संदीपनि गुरू के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।
द्वारिका के गए हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ वै अनाथन के नाथ हैं॥१॥

सुदामा—

सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय, ताको कहा, अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत, संपति की तिनके नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरि के पद-पंकज, बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिय बावरि, बाँभन को धन केवल भिच्छा॥२॥

स्त्री—

दानी बड़े तिहुँ लोकन मैं जग, जीवत नाम सदा जिनको लै।
दीनन की सुधि लेत भली विधि, सिद्धि करौ पिय मेरो मतो लै॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो, और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्रीजदुनाथ-से जाके हितू सो, तिहूँ पन क्यों कन मागत डोलै॥३॥

सुदामा—

चक्कवै चौंकि रहे चकि-से, तहाँ भूले-से भूप अनेक गनाऊँ।
देव गंधर्व औ किन्नर जच्छ-से, साँझ लौं देखे खरे जिहिं ठाऊँ॥
तैं दरबार बिलोक्यौं नहीं अब तोहि कहा कहिकै समुझाऊँ।
रोकिए लोकन के मुखिया तहँ, हौं दुखिया किमि पैठन पाऊँ॥४॥

स्त्री—

भूले से भूप अनेक खरे रहौ ठाढ़े रहौ तिमि चक्कवै भारी।
देव गंधर्व औ किन्नर जच्छ-से रोके जे लोकन के अधिकारी॥
अंतरजामी वे आपुहि जानिहैं, मानौ यहै सिख लेहु हमारी।
द्वारिकानाथ के द्वार गए सबतें पहिले सुधि लै हैं तुम्हारी॥५॥

सुदामा—

दीनदयाल को ऐसोई द्वार है, दीनन की सुधि लेत सदाई।
द्रौपदी तैं, गज तैं, प्रहलाद तैं, जानि परी न बिलंब लगाई॥
याहिं तैं भावत मो-मन दीनता, जौ निबहैं निबही जस आई।
जौ ब्रजराज सों प्रीति नहीं, केहिं काज सुरेसहु की ठकुराई॥६॥

स्त्री—

फटे पट टूटी छानि खायौ भीख माँगि आनि,
बिना जग्य बिमुख रहत देव-पित्रई।
वै हैं दीनबंधु दुखी देखिकै, दयालु ह्वैहैं,
दैहैं कछु भलो सो हौं जानत अगत्रई॥
द्वारिका लौं जात पिय! केतौ अलसात तुम,
काहे कौं लजात भई कौन-सी बिचित्रई।
जौ पै सब जन्म या दरिद्र ही सतायौ तौ पै,
कौन काज आइहै कृपानिधि की मित्रई॥७॥

सुदामा—

तैं तो कही नीकी सुनि बात हित-ही की,
यही रीति मित्रई की नित प्रीति सरसाइए।
मित्र के मिले तें चित्त चाहिए परसपर,
मित्र के जो जेंइए तो आपहू जेंवाइए॥
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप,
तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइए।
सुख दुख करि दिन काटे ही बनैंगे, भूलि
बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए॥८॥

स्त्री—

हूजै कनावड़ौ बार हजार-लौं, जौ हितू दीनदयाल सों पाइए।
तीनहुँ लोक के ठाकुर हैं, तिनके दरबार न जात लजाइए॥
मेरी कही जिय मैं धरिके पिय भूलि न और प्रसंग चलाइए।
और के द्वार सो द्वार कहा पिय द्वारिकानाथ के द्वार सिधाइए॥९॥

सुदामा—

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू, आठहु जाम यहै जक तेरे।
जौ न कहौ करिए तो बड़ो दुख, जैए कहाँ अपनी गति हेरे॥
द्वार खरे प्रभु के छरिया तहँ भूपति जान न पावत नेरे।
पाँच सुपारी, तैं देखु बिचारिकै, भेंट को चारि न चाउर मेरे॥१०॥

कथा-सूत्र

यह सुनिकै तब ब्राह्मनी गई परोसिनि-पास।
पाव-सेर चाउर लिए, आई सहित-हुलास॥११॥

सिद्धि करी गनपति सुमिरि, बाँधि दुपटिया खूँट।
माँगत खात चले तहाँ, मारग बाली-बूट ॥१२॥

भाल तिलक घसिकै दियौ, गही सुमिरिनी हाथ।
देखि दिव्य द्वारावती, भयो अनाथ सनाथ ॥१३॥

दीठि चकचौंधि गई देखत सुबर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारिका के भौन हैं।
पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात,
देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन हैं॥
देखत सुदामैं धाय पौरजन गहे पाय,
'कृपा करि कहौ विप्र कहाँ कीन्ह गौन हैं?'
"धीरज अधीर के, रहन पर पीर के,
बताओ बलवीर के महल यहाँ कौन हैं?" ॥१४॥

दीन जानि काहू पुरुष, कर गहि लीन्हौ आय।
दीनहिं द्वार खरो कियौ, दीनदयाल के जाय ॥१५॥

द्वारपाल

सीस पगा न झँगा तन मैं, प्रभु! जानै को आहि! बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी-दुपटी, अरु पाँय उपानह की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सों वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥१६॥

कथा-सूत्र

बोल्यौ द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँड़े', सुनि,
छाँड़े राज-काज ऐसे जी की गति जानै को?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख-सानै को?

नैन दोऊ जल भरि पूँछत कुसल हरि,
बिप्र बोल्यौ 'बिपदा मैं मोहि पहिचानै को ?
जैसी तुम करी तैसी करै को कृपा के सिंधु !
ऐसी प्रीति दीनबंधु! दीनन सों मानै को ?' ॥१७॥

लोचन पूरि रहे जल सों, प्रभु दूरि तें देखत ही दुख मेट्यौ ।
सोच भयो सुरनायक के, कलपद्रुम के हिय माँझ खखेट्यौ ॥
कंप कुबेर-हिये सरसो, परसो पग जात सुमेरु समेट्यौ ।
रंक तें राउ भयौ तबहीं, जबहीं भरि अंक रमापति भेंट्यौ ॥१८॥

ऐसे बेहाल बेवाइन सों, पग कंटक-जाल लगे पुनि जोए ।
'हाय ? महादुख पायौ सखा, तुम आए इतै न किते दिन खोए ॥'
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिकै करुनानिधि रोए ।
पानी परात को हाथ छुयौ नहिं, नैनन के जल सों पग धोए ॥१९॥

आगे चना गुरु-मात दए ते लए तुम चाबि हमें नहिं दीने ।
स्याम कह्यौ मुसुकाय सुदामा सों, 'चोरी की बानि मैं हौ जू प्रवीने ॥
पोटरी काँख मैं चाँपि रहे तुम, खोलत नाहिं सुधा-रस-भीने ।
पाछिली बानि अजौ न तजो तुम, तैसेई भाभी के तंदुल कीने ॥२०॥

खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर ।
जीरन पट फटि छुटि परे, बखरि, गये तेहि ठौर ॥२१॥

एक मुठी हरि भरि लई, लीन्हीं मुख मैं डारि ।
चबत चबाउ करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि ॥२२॥

काँपि उठी कमला मन सोचत, 'मो सों कहा हरि को मन औंको ?
रिद्धि कँपीं, सब सिद्धि कँपीं, नव सिद्धि कँपीं 'बम्हना यह धौं को ?'
सोच भयौ सुरनायक कौ जब, दूसरि बार लियौ भरि झौंको ।
मेरु डर्‌यो 'बकसैं जनि मोहिं' कुबेर चबावत चाउर चौंको ॥२३॥

हूल हियरा मैं, सब-कानन परी है टेर,
'भेंटत सुदामैं स्याम चाबि न अघात ही।'
कहै 'नरोत्तम' रिद्धि सिद्धिन मैं सोर भयौ,
ठाढ़ी थरहरैं और सोचै कमला तहीं॥
नाक लोक, नाग लोक ओक-ओक-थोक-थोक
ठाढ़े थरहरैं मुख सूखे सब गातहीं।
हालो परो थोकन मैं, लालो परो लोकन मैं,
चालो परो चक्रन मैं चाउर चबातहीं ! ॥२४॥

भौन भरो पकवान मिठाइन, लोग कहैं निधि हैं सुषमा के।
साँझ सवेरे पिता अभिलाषत, दाख न चाखत सिंधु छमा के॥
बाँभन एक कोऊ दुखिया, सेर-पावक चाउर लायौ सभा के।
प्रीति की रीति कहा कहिए, तेहि बैठि चबात हैं कंत रमा के॥२५॥

मुठी तीसरी भरत ही, रुकुमिनि पकरी बाँह।
'ऐसी तुम्हैं कहा भई, संपति की अनचाह' ॥२६॥

कही रुकुमिनी कान मैं, 'यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामा आप सो, होत सुदामा आप' ॥२७॥

सात दिवस यहि बिधि रहे, दिन-दिन आदर-भाव।
चित्त चल्यौ घर चलन कौं, ताकर सुनौ बनाव ॥२८॥

दाहिने वेद पढ़ै चतुरानन, सामुहे ध्यान महेस धर्‌यौ।
बाएँ दुऔ कर जोरि लिए, सब देवन साथ सुरेस खर्‌यौ है॥
एतेइ बीच अनेक लिए धन, पायन आय कुबेर पर्‌यौ है।
देखि बिभौ अपनो सपनो, बपुरो वह बाँभन चौंकि पर्‌यौ है॥२९॥

देनो हुतौ सो दै चुके, बिप्र न जानी गाथ।
चलती बेर गोपालजू, कछू न दीन्हौं हाथ॥३०॥

हरि-दरसन तें दूरि दुख, भयौ, गयौ निज देस ।
गौतम-रिषि को नाउँ लै, कीन्हो नगर प्रवेश ॥३१॥

वैसई राज-समाज बने, गज-बाजि घने मन संभ्रम छायौ ।
वैसई कंचन के सब धाम हैं, द्वारिकै माहिं मनौं फिरि आयौ ॥
भौन बिलौकिबे को मन लोचत, सोचत ही सब गाँव मंझायो ।
पूछत पाँड़े फिरे सब सौं, पर झोपरी को कहूँ खोज न पायौ ॥३२॥

सुंदर -महल मनि-मानिक जटित अति,
सुबरन सूरज-प्रकाश मानौं दै रह्यौ ।
देखत सुदामाजू को नगर के लोग धाये,
भेंटे अकुलाय जोई सोई पाँव छ्वै रह्यौ ॥
बाँभनी के भूषन बिबिध बिधि देखि कह्यौ,
जैहौं हौं निकासौ सो तमासौ जग ज्वै रह्यौ ।
ऐसी दसा फिरि जब द्वारिका-दरस पायौ,
द्वारिका तें सरस सुदामा-पुर ह्वै रह्यौ ॥३३॥

सुदामा—

टूटी-सी मड़ैया मेरी परी हुती याही ठौट,
तामैं परो दुःख काटौं कहाँ हेम धाम-री ।
जेवर-जराऊ तुम साजे प्रति अंग-अंग,
सखी सोहैं संग वह छूछी हुती छाम री ॥
तुम तौ पटंबर री ! ओढ़े हौ किनारीदार,
सारी-जरतारी, वह ओढ़े कारी कामरी ।
मेरी वा पँड़ाइन तिहारी अनुहार ही पै,
बिपद-सताई वह पाई कहाँ पामरी ? ॥३४॥

कथा-सूत्र

ठाढ़ी ह्वै पँड़ाइन कहत मंजु-भायन सों,
'प्यारे परौं पायन तिहारोई जु घरु है।
आए चलि हरों श्रम कीन्हों तुम भूरि दुख,
दारिद गमायो यौं हँसत गह्यो करु है॥
रिद्धि-सिद्धि दासी करि दीन्हीं अबिनासी कृस्न,
पूरन-प्रकाशी, कामधेनु कोटि बरु है।
चलौ पति भूलौ मति तुम्हैं दीन्ही जदुपति,
संपति सो लीजिए समेत सुरतरु है' ॥३५॥

समुझायो निज कंत कों, मुदित गई लै गेह।
अन्हवायो तुरतहिं उबटि, सुचि सुगंध सों देह ॥३६॥

'कहूँ सपनेहूँ सुबरन के महल होते,
पौरि मनि-मंडप कलस कब धरते?
रतन-जटित वर सिंहासन बैठिबे कौं,
खरे ह्वै खवास मो पै चौंर कब ढरते?'
देखि राज-सामा निज बामा सों सुदामा कहैं,
कब ये भंडार मेरे रतनन भरते?
जो पै पतिव्रता तू न देती उपदेश तो पै,
एती कृपा मो पै द्वारिकेस कब करते? ॥३७॥

❀

रहीम

रहीम सतसई से

कहि 'रहीम' इक दीपतें, प्रगट सबै द्युति होय।
तनु सनेह कैसे दुरै, दृग दीपक जरु दोय ॥ १ ॥
को 'रहीम' पर द्वार पर, जात न जिय पछितात।
संपति के सब जात हैं, बिपति सबहिं लै जात ॥ २ ॥
जो 'रहीम' मन हाथ है, मनसा कहुँ किन जाहिं।
जल में जो छाया परी, काया भीजति नाहिं ॥ ३ ॥
माह मास लहि टेसुआ, मीन परे थल और।
त्यों 'रहीम' जग जानिए, छुटे आपनो ठौर ॥ ४ ॥
कहि 'रहीम' संपति सगे, बनत बहुत बहु रीति।
बिपति कसौटी जे कसे, तेई साँचे मीत ॥ ५ ॥
तबही लग जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै 'रहीम' ॥ ६ ॥
धनि 'रहीम' गति मीन की, जल बिछुरत जिय जाय।
जियत कंज तजि अंत बसि, कहा भौंर को भाय ॥ ७ ॥
सरवर के खग एक से, बाढ़त प्रीति न धीम।
पै मराल को मानसर, एकै ठौर 'रहीम' ॥ ८ ॥
दीरघ दोहा अर्थ के, आखर थोरे आहिं।
ज्यों 'रहीम' नट कुंडली, सिमिट कूदि कढ़ि जाहिं ॥ ९ ॥
जे 'रहीम' विधि बड़ किए, को कहि दूषण काढ़ि।
चन्द्र दूबरो कूबरो, तऊ नखत तें बाढ़ि ॥ १० ॥
'रहिमन' याचकता गहे, बड़े छोट है जात।
नारायण हूँ को भयो, बावन आँगुर गात ॥ ११ ॥

हरि 'रहीम' ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर।
खैंचि आपनी ओर को, डार दियो पुनि दूर ॥ १२ ॥

दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो 'रहीम' दीनहिं लखै, दीनबंधु सम होय ॥ १३ ॥

राम न जाते हरिन सँग, सीय न रावन साथ।
जो 'रहीम' भावी कतहुँ, होति आपने हाथ ॥ १४ ॥

जो 'रहीम' ओछो बढ़ै, तौ तितही इतराय।
प्यादे से फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥ १५ ॥

कमला थिर न 'रहीम' कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय ॥ १६ ॥

'रहिमन' सूधी चाल सों, प्यादा होत वजीर।
फरजी मीर न हो सकै, टेढ़े की तासीर ॥ १७ ॥

यों 'रहीम' सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखिया निरखि, आँखिन को सुख होत ॥ १८ ॥

जो बड़ेन को लघु कहौ, नहिं 'रहीम' घटि जाहिं।
गिरिधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहिं ॥ १९ ॥

शशि सकोच साहस सलिल, मान सनेह 'रहीम'।
बढ़त बढ़त बढ़ि जात है, घटत घटत घटि सीम ॥ २० ॥

पीतम छवि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, आप पथिक फिरि जाय ॥ २१ ॥

जो पुरुषारथ ते कहूँ, संपति मिलति 'रहीम'।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ॥ २२ ॥

सब कोऊ सब सों करै, राम जुहार सलाम।
हित 'रहीम' तब जानिये, जा दिन अँटकै काम ॥ २३ ॥

ज्यों 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय ॥ २४ ॥

धनि 'रहीम' जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥ २५ ॥
'रहिमन' कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेश।
भार धरैं संसार को, तऊ कहावत शेष ॥ २६ ॥
'रहिमन' अब वे बिरछ कहँ, जिनकी छाँह गँभीर।
बागन बिच बिच देखियत, सेंहुँड़ कंज करीर ॥ २७ ॥
मुकता करै कपूर करि, चातक जीवन जोय।
येतो बड़ो 'रहीम' जल, व्याल बदन बिष होय ॥ २८ ॥
'रहिमन' अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ ॥ २९ ॥
शीत हरत तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
'रहिमन' तेहि रवि को कहा, जो घटि लखै उलूक ॥ ३० ॥
'रहिमन' निज मन की व्यथा, मनहीं राखौ गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥ ३१ ॥
'रहिमन' वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं।
उनसे पहिले वे मुए, जिन मुख निकसति नाहिं ॥ ३२ ॥
जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोह।
'रहिमन' मछरी नीर को, तऊ न छाँड़त छोह ॥ ३३ ॥
'रहिमन' पानी राखिये, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरै, मोती मानुस चून ॥ ३४ ॥
अब 'रहीम' मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलैं न राम ॥ ३५ ॥

❀

केशवदास

रामचन्द्रिका

बालक मृनालनि ज्यों तोरि डारै सबै काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को;
बिपति हरत हठि पदुमिनि-पात-सम,
पंक ज्यों पाताल पेलि पठवै कलुष को।
दूरि कै कलंक अंक भव-सीस-ससि-सम,
राखत हैं 'केसौदास' दास के बपुष को;
साँकरे की साँकरनि सनमुख होत ही त्यों,
दसमुख मुख जोवै गजमुख मुख को ॥१॥

पूरन पुरान अरु पुरुष पुरान परि-
पूरन बतावैं न बतावैं और उक्ति को;
दरसन देत जिन्हें दरसन समुझै न,
नेति-नेति कहैं वेद छाँड़ि भेद जुक्ति को।
जानि यह 'केसौदास' अनुदिन राम-राम,
रटत रहत, न डरत पुनरुक्ति को;
रूप देहि अनिमाहि, गुन देहि गरिमाहि,
भक्ति देहि महिमाहि नाम देहि मुक्ति को ॥२॥

राम-जनकपुर-गमन

सातहु दीपनि के अवनीपति हारि रहे जिय मैं जब जाने;
बीस बिसे व्रत-भंग भयो सु कहौ अब 'केसव' को धनु ताने ?
सोक की आगि लगी परिपूरन, आइ गए घनस्याम बिहाने;
जानकि के जनकादिक के सब फूलि उठे तरु-पुण्य पुराने ॥३॥

परशुराम-संवाद

बर बान सिखीन असेष समुद्रहि सोखि सखा सुख ही तरिहौं;
पुनि लंकहि औटि कलंकित कै फिरि पंक कलंकहि की भरिहौं।
भल भूँजिकै राकस खाकस कै दुख दीरघ देवन को हरिहौं;
सितिकंठ के कंठन को कठुला दसकंठ के कंठन को करिहौं ॥४॥

प्रचंड हैहयादि राज दंड-मान जानिए;
अखंड कीर्ति लेय भूमि देयमान मानिए।
अदेव, देव जे अभीत रच्छमान लेखिए;
असेय तेज भर्ग भक्त भार्गवेस देखिए ॥५॥

टूटै टूटनहार तरु, वायुहि दीजत दोष;
त्यों अब हर के धनुष को, हम पर कीजत रोष।
हम पर कीजत रोष, काल-गति जानि न जाई;
होनहार ह्वै रहै, मिटै मेटे न मिटाई।
होनहार ह्वै रहै, मोह-मद सबको छूटै;
होय तिनूका वज्र, बज्र तिनुका ह्वै टूटै ॥६॥

'केसव' हैहयराज को मासु हलाहल कौरन खाय लियो रे;
ता लगि मेद महीपन को घृत घोरि दियो न सिरानो हियो रे।
खीर षड़ानन को मद पूरन, सों पल मैं करि पान लियो रे;
तौ लौं नहीं सुख जौ लौं न तू रघुबंस को सोनु-सुधा न पियो रे ॥७॥

कंठ-कुठार जसै अबहार कि फूलो असोक ससोक समूरो;
कै चितसारी चढ़ै कि चिता तन चंदन चित्र कि पावक पूरो।
लोक मैं लोक बड़ो अपलोक सु 'केसवदास' जु होउ सु होऊ;
बिप्रन के कुल को भृगुनंदन, सूरज के कुल सूर न कोऊ ॥८॥

सुनि सकल लोकगुरु जामदग्नि;
तप बिसिख असेषन की जु अग्नि।

सब बिसिख छाँड़ि सहिहौं अखंड;
हर - धनुष करयौ जिन खंड-खंड ॥९॥

भगन भयो हर-धनुष साल तुमको अब सालै;
बृथा होइ बिधि-सृष्टि, ईस आसन ते चालै।
सकल लोक संहरहुँ, सेष सिर ते धर डारो;
सप्तसिंधु मिलि जाहिं, होहि सब ही तम भारो।
अति अमल जोति नारायनी कहि 'केसव' बुझि जाहि बरु;
भृगुनंद सँभारु कुठार, मैं कियो सरासनजुक्त सरु ॥१०॥

राम-राम जब कोप करयो जू, लोक-लोक भय भूरि भयो जू;
बामदेव आपुन तब आए; रामदेव दोनों समुझाए ॥११॥

भरत-चित्रकूट-गमन

सब सारस हंस भए खग खेचर बारिद ज्यों बहु बारन गाजे,
बन के नर, बानर, किन्नर बालक लै मृग ज्यों मृगनायक भाजे।
तजि सिद्ध समाधिन 'केसव' दीरघ दौरि दरीन में आसन साजे;
सब भूतल भूधर हाले अचानक आए भरत्थ के दुंदुभि बाजे ॥१२॥

जुद्ध को आजु भरत्थ चढ़े धुनि दुंदुभि की दसहूँ दिसि धाई;
प्रात चली चतुरंग-चमू बरनी सु न 'केसव' कैसेहुँ जाई।
यों सबके तनत्राननि पै झलकी अरुनोदय की अरुनाई;
अंतर ते जनु रंजन को रजपूतनि की रज ऊपर आई ॥१३॥

उठिकै धर धूरि अकास चली;
बहु चंचल बाजि खुरीन दली।
भुव हालति जानि अकास हिए;
जनु थंभित ठौर-हि-ठौर किए ॥१४॥
अपने कुल को कलह क्यों देखहिं रबि भगवंत;
यहै जानि अंतर कियो मानौ मही अनंत ॥१५॥

बहु तामहँ दीह-पताक लसैं;
जनु धूम मैं अग्नि की ज्वाल बसैं।
रसना किधौं काल कराल घनी,
किधौं मीचु नचै चहुँ ओर बनी ॥१६॥
देखि भरत की चल धुजा धूरिन मैं सुख देति;
जुद्ध-जुरन को मनहुँ प्रति जोधन बोलें लेति ॥१७॥

स्फुट

भार के उतारिबे को औतरे हौ रामचंद्र,
किधौं 'केसौदास' भूरि भारत प्रबल दल;
टूटत हैं तरुवर, गिरे गन-गिरिबर,
सूखे सब सरबर, सरिता सकल जल।
उचकि चलतु हरि दचकनि-दचकत,
मंच ऐसे मचकत भूतल के थल-थल;
लचकि-लचकि जात सेष के असेष फन,
भागि गई भोगवती अतल-वितल-तल ॥१८॥

'केसव' आपु सदा ही सह्यो दुख, दासन देखि सके न दुखारे;
जाको भयो जेहि भाँति जहाँ दुख, ताहि तहाँ तिहि भाँति उधारे।
मेरियै बार अबार कहा, कहुँ नाहिन दास के दोष बिचारे;
बूड़त हौं महामोह-समुद्र मैं राखत काहे न राखनहारे ॥१९॥

विज्ञान-गीता

लोग लगे सिगरे अपमारग, पोच, भलो-बुरो जानि न जाई;
चंचल हस्तिन को सुखदा अचला बिच दामिनि को दुखदाई।
हंस, कलानिधि, सूर प्रभा हत, खंड सिखंडन की अधिकाई;
'केसव' पावसकाल, किधौं अबिबेक महीपति की ठकुराई ॥२०॥

कवि-प्रिया

नरायन कीन्हीं मनि उर अवदात गनि,
कमला की बान मनिसोभा सुभ सारु है;
'केसव' सुरभि केस सारदा सुबेस वेस,
नारद को उपदेस बिसद बिचारु है।
सौनक ऋषि बिसेषि सीरष सिखानि लेखि,
गंगा को तरंग देखि बिमल बिहारु है;
राजा दसरथ - सुत सुनो राजा रामचंद्र,
रावरो सुजस सब जग को सिंगारु है ॥२१॥

धिक मंगन बिनु गुनहिं, गुनहिं धिक सुनत न रीझिय;
रीझवु धिक बिनु मौज, मौज धिक देत जु खीजिय।
दीबो धिक बिनु साँचु, साँचु धिक धरम न भावै;
धरम सु धिक बिनु दया, दया धिक अरि पहँ आवै।
अरि धिक चित्त न सालई, चित धिक जहँ न उदार मति;
मति धिक 'केसव' ज्ञान बिनु, ज्ञान सुधिक बिनु हरि-भगति ॥२२॥

रसिक-प्रिया

'केसव' एक समै हरि-राधिका आसन एक लसैं रस-भीने;
आनँद सो तिय-आनन की दुत्ति देखत दर्पन त्यों दुति दीने।
बाल के भाल मैं लाल बिलोकत ही भरि लोचन लालन लीने;
सासन पीय सबासन सीय हुतासन मैं मनौं आसन कीने ॥२३॥

भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी लर मोतिन की सुख-दैनी;
ताहि बिलोकति आरसी लै कर आरस सौं यक सारस नैनी।
'केसव' स्याम दुरे दरसी परसी उपमा सुख की अति पैनी;
सूरज-मंडल मैं ससि-मंडल मद्धि धँसी मनो धार-त्रिबैनी ॥२४॥

❀

रसखान

सुजान-रसखान

मानुष हौं तो वहीं 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥१॥

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं॥
'रसखानि' कबौं इन आँखिन सों ब्रजके बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटि करौ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥२॥

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौं गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन गोधन ग्वारनि संग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो 'रसखानि' सों तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥३॥

गावैं गुनी गनिका गंधर्व औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यौं ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरंतर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर कि छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत॥४॥

कान्ह भए बस बाँसुरी के अब कौन सखी हमकों चहिहै।
निस द्योस रहै संग साथ लगी यह सौतिन तापन क्यों सहिहै॥
जिन मोहि लियो मनमोहन को 'रसखानि' सदा हमको दहिहै।
मिलि आओ सबै सखी भाग चलैं अब तो ब्रज मैं बसुरी रहिहै॥५॥

कौन ठगौरी भरी हरि आजु बजाई है बाँसुरिया रंग भीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं तबहीं तिन लाज विदा कर दीनी ॥
घूमै घड़ी घड़ी नंद के द्वार नवीनी कहा कहूँ बाल प्रवीनी।
या ब्रजमंडल में 'रसखानि' सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी ॥६॥

धूर भरे अति शोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरं अँगना पग पैजनी बाजती पीरी कछोटी ॥
वा छवि को 'रसखानि' विलोकत वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥७॥

आयो हुतो नियरें 'रसखानि' कहा कहूँ तू न गई वह ठैंया।
या ब्रज में सिगरी वनिता सब वारति प्राननि लेत बलैया ॥
कोऊ न काहू की कानि करै कछु चेटक सो जु करयो जदुरैया।
गाइगो तान जमाइ गो नेह रिझाइगो प्रान चराइगो गैया ॥८॥

सोहत हैं चँदवा सिर मौर के जैसियँ सुंदर पाग कसी है।
तसिय गोरज भाल बिराजति जैसी हिये बनमाल लसी है॥
'रसखानि' बिलोकत बौरी भई दृग मूँदि कै ग्वालि पुकारि हँसी है।
खोलि री घूँघट खोलौं कहा वह मूरति नैनन माँझ वसी है ॥९॥

कल कानन कुंडल मोरपखा उर पै वनमाल बिराजति है।
मुरली कर मै अधरा मुसकानि तरंग महाछवि छाजति है॥
'रसखानि' लखै तन पीतपटा सत दामिनी की दुति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परें कुलकानि हियो तजि भाजति है ॥१०॥

खंजन नैन फँदे पिंजरा छवि नाहिं रहै थिर कैसहूँ माई।
छूटि गई कुलकानि सखी 'रसखानि' लखी मुसिकानि सुहाई ॥
चित्र कढ़े से रहैं मेरे नैन न बैन कढ़ै मुख दीनी दुहाई।
कैसी करौं जिन जाव अली सब बोलि उठैं यह बावरी आई ॥११॥

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रहैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥१२॥

कानन दै अँगुरी रहिबो जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै।
मोहनी तानन सों 'रसखानि' अटा चढ़ि गोधन गैहै तो गैहै॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रजलोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माइ री वा मुख की मुसकानि सम्हारो न जैहै न जैहै न जैहै॥१३॥

गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल
आगे गैया पाछे ग्वाल गावै मृदु तान री।
तसी धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसी
बंक चितवनि मंद मंद मुसकानि री॥
कदम विटप के निकट तटनी के आय
अटा चढ़ि चाहि पीतपट फहरानि री।
रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन
प्राननि रिझावै यह आवै 'रसखानि' री॥१४॥

मेरो सुभाव चितैबे कों माइ री लाल निहारि कै बंसी बजाई।
वा दिन तें मोहि लागी ठगौरी सी लोग कहैं कोई बावरी आई॥
यों 'रसखानि' घिरयो सिगरी ब्रज जानत वे कि मेरो जियराई।
जो कोउ चाहै भलौ अपनौ तौ सनेह न काहू सों कीजियो माई॥१५॥

कोई है रास मै नैसुक नाचि कै नाच नचाए किए सबको जिन।
सोई है री 'रसखानि' इहै मनुहारिहूँ सूधैं चितौत न हो छिन॥
तो मै धौं कौन मनोहर भाव बिलोकि भयो बस हाहा करी तिन।
औसर ऐसो मिलै न मिलै फिर लंगर मोड़ो कनोड़ो करै किन॥१६॥

दानी भए नए माँगत दान सुनै जु पै कंस तौ बाँधि के जैहौ।
रोकत हौ बन में 'रसखानि' पसारत हाथ घनौ दुख पैहौ॥
टूटै छरा बछरा दिक गोधन जो धन है सु सबै धन दैहौ।
जैहै अभूषन काहू सखी को तो मोल छला के लला न बिकैहौ॥१७॥

लाज के लेप चढ़ाइ के अंग पचो सब सीख को मंत्र सुनाइकै।
गाड़रू ह्वै ब्रज लोग थक्यौ करि औषद बेसक सौंह दिवाइ कै॥
ऊधौ सो को 'रसखानि' कहै जिन चित्त धरौ तुम एते उपाइ कै।
कारे बिसारे कों चाहै उतारयौ अरे विष बावरे राख लगाई कै॥१८॥

ग्वालन सँग जैबो बन ऐबौ सुगाइन सँग
हेरि तान गैबो हाहा नैन फरकत हैं।
ह्याँ के गजमोती माल वारौं गुंजमालन पै
कुंज सुधि आए हाथ प्रान धरकत हैं॥
गोबर को गारो सुतौ मोहिं लगै प्यारौ
कहा भयो महल सोने को जटत मरकत हैं।
मंदिर तें ऊँचे यह मंदिर हैं द्वारिका के
ब्रज के खिरक मेरे हिए खरकत हैं॥१९॥

कहा 'रसखानि' सुखसंपति सुमार कहा
कहा तन जोगी ह्वै लगाए अंग छार को।
कहा साधे पंचानल कहा सोए बीच नल
कहा जीत लाए राज सिंधु आर पार को॥
जप बार बार तप संजम बयार व्रत
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
कीन्हों नहीं प्यार नहीं सेयो दरबार चित
चाह्यो न निहारो जो पैं नंद के कुमार को॥२०॥

संपति सों सकुचाइ कुबेरहिं रूप सों दीनी चिनौती अनंगहिं।
भोग कै कै ललचाइ पुरंदर जोग कै गंग लई धरि मंगहिं॥
ऐसे भए तो कहा 'रसखानि' रसै रसना जो जु मुक्ति तरंगहिं।
दै चित ताके न रंग रच्यो जु रह्यो रचि राधिका रानी के रंगहिं॥२१॥

द्रौपदी औ गनिका गज गीध अजामिल सों कियो सो न निहारो।
गौतम गेहिनी कैसी तरी प्रहलाद को कैसे हर्यो दुख भारो॥
काहे कों सोच कर 'रसखानि' कहा करिहैं रविनंद बिचारो।
ता खन जा खन राखिए माखन-चाखनहारो सो राखनहारो॥२२॥

लोग कहैं ब्रज के 'रसखानि' अनंदित नंद जसोमति जू पर।
छोहरा आजु नयो जनम्यो तुमसो कोऊ भाग भर्यो नहिं भू पर॥
वारि के दाम सावाँर करौ अपने अपचाल कुचाल लल्लू पर।
नाचत रावरो लाल गुपाल सो काल सो व्याल कपाल के ऊपर॥२३॥

सार की सारी सो भारी लगै धरिवे कहँ सीस बघंबर पैया।
हाँसी सो दासी सिखाइ लई हैं वेई जु वेई 'रसखानि' कन्हैया॥
जोग गयो कुबजा की कलानि मै री कब ऐहैं जसोमति मैया।
हा हा न ऊधौ कुढ़ावो हमैं अवहीं कहि दै ब्रज बाजै बधैया॥२४॥

बैन वही उनको गुन गाइ औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरैं अरु पाइ वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के संग औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों 'रसखानि' वही रसखानि जुहै रसखानि सो है रसखानी॥२५॥

❀

सेनापति

श्लेष-वर्णन

राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं
बुध कवि के जो उपकंठ ही बसति है।
जोए पद मन कौं हरष उपजावति है
तजै को करनसै जो छंद सरसति है॥
अच्छर हैं विशद करति उषै आप सम
जातैं जगत की जड़ताऊ बिनसति है।
मानौं छवि ताकी उदवत सविता की 'सेना-
पति' कवि ताकी कबिताई बिलसति है॥१॥

तुकन सहित भले फल कौं धरत सूधे,
दूरि कौं चलत जे हैं धीर जिय प्यारी के।
लागत बिविध पक्ष सोहत हैं गुन संग
स्रवन मिलत मूल कीरति उज्यारी के॥
सोई सीस धूनै जाके उर मैं चुभत नीके,
वेग बिधि जात मन मोहैं नर नारी के।
'सेनापति' कबि के कबित्त बिलसत अति,
मेरे जान बान हैं अचूक चापधारी के॥२॥

व्यापी देस देस बिस्व कीरति उज्यारी जाकी
सीतैं संग लीने जामैं केवल सुधाई है।
सुर-नर-मुनि जाके दरस कौं तरसत,
राखत न खर तेजै कला की निकाई है॥

करन के जोर जीति लेत है निसा कलंकै,
सेवक हैं तारे जाकी गिनती न पाई है।
राजा रामचंद अरु पून्यौं कौं उदित चन्द,
'सेनापति' बरनी दुहू की समताई है ॥३॥

सारंग धुनि सुनावै घन रस बरसावै,
मोर मन हरषावै अति अभिराम है।
जीवन अधार बड़ी गरज करन हार,
तपति हरनहार देत मन काम है ॥
सीतल सुभग जाकी छाया जग 'सेनापति',
पावत अधिक तन मन बिसराम है।
संपै संग लीने सनमुख तेरे बरसाऊ,
आयौ घनस्याम सखि मानौं घनस्याम है ॥४॥

नाहीं नाहीं करैं थोरी माँगे सब दैन कहैं,
मंगन कौं देखि पट देत बार बार हैं।
जिनकौं मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सदा सब जन मन भाए निरधार हैं।
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोर दान पाठ परिवार हैं।
'सेनापति' बचन की रचना बिचारौं जामैं,
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं ॥५॥

देखैं छिति अंबर जलै है चारि ओर छोर,
नित तरवर सब ही कौं रूप हरयो है।
महा झर लागै जोति भादव की होति चलै,
जलद पवन तन सेक मानौं परयो है ॥

दारुन तरनि तरैं नदी सुख पावैं सब,
सीरी घनछाँह चाहिबौई चित धरयो है।
देखौ चतुराई 'सेनापति' कविताई की जु,
ग्रीषम विषम बरषा को सम करयो है ॥६॥

कुस लव रस करि गाई सुर धुनि कहि,
भाई मन संतन के त्रिभुवन जानी है।
देवन उपाइ कीनौ यहै भौ उतारन कौं,
बिसद बरन जाकी सुधा सम बानी है॥
भुवपति रूप देह धारी पुत्र सील हरि,
आई सुरपुर तैं धरनि सियरानी है।
तीरथ सरब सिरोमनि 'सेनापति' जानी,
राम की कहानी गंगा-धार सी बखानी है ॥७॥

बानरन राखै तोरि डारत है अरि लंकै,
जाके बीर लछन बिराजत निदान है।
अंगद कौं राखै बाहु दूरि करै दूषन कौं,
हरि सभा राजै राज तेज कौं निधान है॥
आनंद मगन दृग देखि जाहि सियरानी,
'सेनापति' जाके हेम नगर कौं दान है।
महा बली बीर बसुदेव कौं कुँवर कान्ह,
सो तौ मेरे जान राजा राम के समान है ॥८॥

देखत न पीछै कौं निकसि कैयौ कोसन तैं,
लै कै करवाल बाग लेत बिलसत हैं।
साहस की ठौर भीर परे तें सिर कटाहैं,
सकतिन हूँ सौं लरिकानि कौं तजत हैं॥

राखत नगारौ रज पूरे रहैं समर मैं,
सदा कर करैं सरन कौं जे तकत हैं।
'सेनापति' बीर सौं लरत हाथ जोरत हैं,
तातैं सूर कातर समान से लगत हैं ॥९॥

तारन की जोति जाहि मिले पै बिमल होति,
जाके पाइ संग मैं न दीप सरसत है।
भुवन प्रकास उर जानियै ऊरध अध,
सोउ तही मध्य जाके जगतै रहत है॥
कामना लहत द्विज कौसिक सरब बिधि,
सज्जन भजत महातम हित रत है।
'सेनापति' बैन मरजाद कबिताई की जू,
हरि रबि अरुन तमी कौं बरनत है ॥१०॥

तजत न गाँठि जे अनेक परबन भरे,
आगे पीछे और और रस सरसात हैं।
गढ़ि गढ़ि छोलैं भली भाँति बोलैं आदर सौं,
तपति हरन हिय बीच सियरात हैं॥
'सेनापति' जगत बखाने जे रसाल उर,
बाढ़ै पित्त कोप जिन तैं न ठहरात हैं।
मानहु पियूष बाढ़ै स्रवन की भूख माह,
पूख कैसे ऊख बोल रावरे मिठात हैं ॥११॥

मैलन घटावै महा तिमिर मिटावै सुभ,
डीठि कौं बढ़ावै चारि बेदन बतायौ है।
सन्यौ घनसार सम सीतल सलिल रस,
'सेनापति' पुरबिले पुन्यन ही पायौ है॥

कैसे मन आवै अचरज उपजावै बीच,
फूलै सरसावै पीत बसन धरायौ है।
भव भय भंजन निरंजन के देखिबे कौं,
गंगा जू कौं मंजन सु अंजन बनायौ है ॥१२॥

ऋतु-वर्णन

लसत कुटज, घन चंपक, पलास बन,
फूली सब साखा जे हरति जन चित्त हैं।
सेत, पीत, लाल, फूल-जाल हैं बिसाल तहाँ
आछे अलि अछर, जे कारज के मित्त हैं॥
'सेनापति' माधव महीना भरि नेम करि,
बैठे द्विज कोकिल करत घोष नित्त हैं।
कागद रँगीन मैं प्रवीन हैं बसंत लिखे,
मानौं काम-चक्कवै के बिक्रम कबित्त हैं ॥१३॥

वृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग जरत झरनि सीरी,
छाँह कौं पकरि पंथी-पंछी बिरमत है।
'सेनापति' नैंक दुपहरी के ढरत, होत,
धमका बिषम, ज्यौं न पात खिरकत है॥
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घांमै बितवत है ॥१४॥

दामिनी दमक सोई मंद बिहसनि, बग-
माल है बिसाल सोई मोतिन कौं हारौ है।
बरन बरन घन रंगित बसन तन,
गरज गहर सोई बाजत नगारौ है॥

'सेनापति' सावन कौं बरसा नवल बधू,
मानौं है बराति साजि सकल सिंगारौ है।
त्रिविध बरन परयौ इंद्र कौं धनुष लाल,
पन्ना सौं जटित मानौं हेम खगवारौ है ॥१५॥

अब आयौ भादौं, मेह बरसै सघन कादौं,
'सेनापति' जादौ-पति बिना क्यों बिहात है।
रबि गयौ दबि, छबि अंजन तिमिर भयौ,
भेद निसि-दिन कौं न क्यौंहू जान्यो जात है॥
होति चकचौंधी जोति चपला के चमके तैं,
सूझि न परत पीछे मानौं अधरात है।
काजर तैं कारौ, अंधियारौ भारौ गगन मैं,
घुमरि घुमरि घन घोर घहरात है ॥१६॥

पाउस निकास तातैं पायौ अवकास, भयो
जोन्ह कौं प्रकास, सोभा ससि रमनीय कौं।
बिमल अकास, होत बारिज बिकास, 'सेना-
पति फूले कास, हित हंसन के हीय कौं॥
छिति न गरद, मानौं रंग है हरद सालि
सोहत जरद, को मिलावै हरि पीय कौं।
मत्त हैं दुरद, मिट्यौ खंजन दरद, रितु
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं ॥१७॥

बरन्यौ कबिन कलाधर कौं कलंक, तैसौ
को सके बरनि कबि हू की मति छीनी है।
'सेनापति' बरनी अपूरब जुगति ताहि,
कोबिद बिचारौ कौन भाँति बुद्धि दीनी है॥

मेरे जान जेतिक सौं सोभा होत जानी राखि,
तेतिकै कलान रजनी की छबि कीनी है।
बढ़ती के राखे, रैनि हू तें दिन ह्वैहै, यातें
आगरी मयंक तें कला निकासि लीनी है ॥१८॥

❀

सुंदरदास

कौन कुबुद्धि भई घट अंतर तू अपने प्रभुसूँ मन चोरै।
भूलि गयो बिषया सुख में सठ लालच लागि रह्यो अति थोरै।
ज्यूं कोउ कंचन छार मिलावत लेकरि पत्थर सूँ नग फोरै।
सुन्दर या नरदेह अमूलक तीर लगी नवका कित बोरै ॥१॥

गेह तज्यो पुनि नेह तज्यो पुनि खेह लगाइ के देह सँवारी।
मेघ सहै सिर सीत सहै तन धूप सहै जु पँचागिनि बारी॥
भूख सहै रहि रूख तरे पर 'सुन्दरदास' सहै दुख भारी।
डासन छाड़िके कासन ऊपर आसन मारिपै आस न मारी॥२॥

काहू सों न रोष काहू सों न राग,
द्वेष काहू सों न बैर भाव काहू सो न घात है॥
काहू सों न बकबाद काहू सों नहीं विषाद,
काहू सों न संग न तौ काहू पच्छपात है॥
काहू सों न दुष्ट बैन काहू सों न लेन देन,
ब्रह्म को बिचार कछू और न सुहात है॥
सुन्दर कहत सोई ईसन को महाईस,
सोई गुरुदेव जाके दूसरी न बात है॥३॥

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की सुधि होइ,
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिये।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की जानि परै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिये॥
गाइये तौ तब जब गाइबे को कंठ होइ,
स्रौन के सुनत ही मन जाइ गहिये॥

तुक भंग छन्द भंग अरथ मिलै न कछु;
'सुन्दर' कहत ऐसी बानी नहीं कहिये ।।४।।

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्व पुनि अहंकार है ।।
अहंकार हूते तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत बिषय पसार है ।।
रजहू तें इन्द्री दस पृथक पृथक भई,
सत्तहू तें मन आदि देवता विचार है ।।
ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सूँ कहत गुरु,
सुन्दर सकल यह मिथ्या भ्रम जार है ।।५।।

सुनत नगारे चोट बिकसै कमल मुख,
अधिक उछाह फूल्यो मायहू न तन में ।।
फेरे जब साँग तब कोई नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में ।।
कूद के पतंग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परै बहु सावँत के घन में ।।
मारि घमसान करि 'सुन्दर' जुहारै स्याम,
सोई सूर बीर रोपि रहै जाइ रन में ।।६।।

आसन बसन बहु भूषण सकल अंग,
सम्पति विविध भाँति भरयो सब घर है ।
श्रवण नगारो सुनि छिनन में छाँड़ि जात,
ऐसे नहिं जाने कछु मेरो वहाँ मर है ।
तन में उछाह रण माहिं टूक टूक होइ,
निर्भय निसंक वाके रंचहू न डर है ।
'सुंदर' कहत कोऊ देह को ममत्व नाहिं,
सूरमा को देखियत सीस बिनु धर है ।।७।।

पुरुष प्रकृति संयोग जगत उपजत है ऐसे।
रवि दर्पण दृष्टान्त अग्नि उपजत है तैसे ॥
सुई होंहिं चैतन्य यथा चुम्बक के संगा।
यथा पवन संयोग उदधि में उठहिं तरंगा ॥
अरु यथा सूर संयोग पुनि चक्षु रूप कौं गहत है।
यौं जड़ चेतन संयोग तें सृष्टि उपजती कहत है ॥८॥

❀

बिहारीलाल

मंगलाचरण

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, श्याम हरित दुति होय ॥१॥

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसो, सदा 'बिहारीलाल' ॥२॥

मोहनि मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अन्तर तऊ, प्रतिबिंबित जग होय ॥३॥

तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज केलि निकुंज मग, पगपग होत प्रयाग ॥४॥

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥५॥

सखि सोहति गोपाल के, उर गुञ्जन की माल।
बाहर लसति मनो पिये, दावानल की ज्वाल ॥६॥

जहाँ जहाँ ठाढ़ो लख्यो, स्याम सुभग-सिरमौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत, दृगनि अजहुँ वह ठौर ॥७॥

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥८॥

नित प्रति एकत ही रहत, बैस बरन मन एक।
चहियत जुगल किशोर लखि, लोचन जुगल अनेक ॥९॥

मोर मुकुट की चन्द्रिकनि, यों राजत नँदनन्द।
मनु ससिसेखर के अकस, किय सेखर सत चन्द ॥१०॥

नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर।
जानति ह्यौं नन्दित करी, यह दिसि नन्दकिसोर ॥११॥

प्रलय करन बरषन लगे, जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गर्ब हरयो हरषि, गिरिधर गिरिधर हाथ ॥१२॥

मकराकृति गोपाल के, कुण्डल सोहत कान।
धरयो समर हिय गढ़ मनो, ड्योढ़ी लसत निसान ॥१३॥

सोहत ओढ़े पीतपट, श्याम सलोने गात।
मनो नीलमणि सैल पर, आतप परयो प्रभात ॥१४॥

अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष सी होति ॥१५॥

शृङ्गार

लटपटात - सी ससि-मुखी, मुख घूँघट-पट ढाँकि ;
पावक - झर - सी झमकि कै, गई झरोखे झाँकि ॥१६॥

फिरि-फिरि दौरत देखिए, निचले नेक रहैं न ;
ये कजरारे कौन पै करत कजा की नैन ॥१७॥

सघन कुंज घन घन तिमिर, अधिक अँधेरी राति ;
तऊ न दुरिहै स्याम यह, दीप - सिखा - सी जाति ॥१८॥

कहत सबै कबि कमल - से, मो मत नैन - पखान ;
नतरुक कत इन घिसि लगत, उपजत बिरह-कृसान ॥१९॥

इन अँखियाँ दुखियान को, सुख सिरज्योई नाहिं ;
देखे बनै न देखिबो, बिन देखे अकुलाहिं ॥२०॥

लाज - लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं ;
ये मुँहजोर - तुरंग - लौं ऐंचत हू चलि जाहिं ॥२१॥

चित - वित बचत न, हरत हठि, लालन दृग बरजोर;
सावधान के बटपरा, ये जागत के चोर ॥२२॥

उर लीने अति चटपटी, सुनि मुरली - धुनि धाय ;
हौं निकसीं हुलसी सु तौ गो हुल सी उर लाय ॥२३॥

भाल लाल बेंदी छए, छुटे बार छबि देत ;
गह्यो राहु अति आहु करि, मनु ससि - सूर - समेत ॥२४॥

छप्यो छबीली मुख लसै, नीले अंचल चीर ;
मनौ कलानिधि झलमलै, कालिंदी के नीर ॥२५॥

जोग - जुगुति सिखए सबै, मनो महामुनि मैन ;
चाहत पिय - अद्वैतता, सेवत कानन नैन ॥२६॥

बेसरि - मोती - दुति - झलक, परी अधर पर आय;
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पटु पोंछ्यो जाय ॥२७॥

पग - पग मन अगमन परति, चरन अरुन-दुति ऊलि;
ठौर - ठौर लखियत उठै, दुपहरिया - सी फूलि ॥२८॥

भूषन - भार सम्हारिहै, क्यों यह तन सुकुमार ;
सूधे पाँय न परत धरि सोभा ही के भार ॥२९॥

जुवति जोन्ह में मिलि गई, नैन न होति लखाइ ;
सौंधे के डोरन लगी, अली - चली - सँग जाइ ॥३०॥

करी बिरह ऐसी तऊ, गल न छाँड़त नीचु ;
दीने हूँ चसमा धरै, चाहै लहै न मीचु ॥३१॥

नित संसो हंसो बचतु, मनो सो यह उनमान;
बिरह-अगिनि-लपट न सकै, झपटि न मीचु-सिचान ॥३२॥

कौन सुनै, कासों कहौं, सुरति बिसारी नाह;
बदाबदी जिय लेत हैं ये बदरा बदराह ॥३३॥

स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर;
अँसुवनि करति तरौस को खिनक खरौहौं नीर ॥३४॥

तर झुरसी ऊपर गरी, कज्जल जल छिरकाय;
पिय-पाती बिनु ही लिखी, बाँची बिरह बलाय ॥३५॥

टटकी धोई धोवती चटकीली मुख-जोति;
लसति रसोईं के बगर जगर-मगर दुति होति ॥३६॥

प्रकृति-वर्णन

छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध ॥३७॥

फिरि घरको नूतन पथिक, चले चकित चित भागि।
फूल्यो देखि पलास बन, समुहें समुझि दवागि ॥३८॥

बैठ रही अति सघनबन, पैठि सदन तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाँह ॥३९॥

पावस-निसि अँधियार मैं, रह्यौ भेद नहिं आन।
राति द्यौस जान्यो परत, लखि चकई चकवान ॥४०॥

पावक-झर तें मेह-झर, दाहक दुसह विशेष।
दहै देह वाके परस, याहि दृगन ही देख ॥४१॥

घन घेरो छुटिगो हरषि, चली चहूँ दिसि राह।
कियो सुचैनो आय जग, सरद सूर नरनाह ॥४२॥

ज्यों ज्यों बढ़ति बिभावरी, त्यों त्यों बढ़त अनंत।
ओक ओक सब लोक सुख, कोक सोक हेमंत ॥४३॥

आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस दिन मान ॥४४॥

रुनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंजसमीर ॥४५॥

चुवत सेद मकरंद कन, तरु तरु तर बिरमाय।
आवत दक्षिण देस ते, थक्यो बटोही बाय॥४६॥

नीति-भक्ति और वैराग्य

तंत्रीनाद कबित्तरस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े, बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अङ्ग॥४७॥

गिरि ते ऊँचे रसिक मन, बूड़े जहाँ हजार।
वहै सदा पसु नरन कहँ, प्रेम पयोधि पगार॥४८॥

चटक न छाँड़त घटत हू, सज्जन नेह गम्भीर।
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल रँग चीर॥४९॥

नये बिसंसिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय।
आँटे परि प्रानन हरैं, काँटे लौं लगि पाय॥५०॥

कबौं न ओछे नरन सों, सरत बड़न को काम।
मढ़ो दमामो जात कहुँ, कहि चूहे के चाम॥५१॥

कोरि जतन कोऊ करो, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचे चढ़ै, तऊ नीच को नीच॥५२॥

लटुवा लौं प्रभु कर गहै, निगुनी गुन लपटाय।
वहै गुनी कर तें छुटे, निगुनीयै ह्वै जाय॥५३॥

दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़ै अति दंद।
अधिक अँधेरो, जग करै, मिलि मावस रवि चंद॥५४॥

बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छाँड़िये, खोटे ग्रह जप दान॥५५॥

कहैं इहै सब स्रुति सुमृति, इहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक राजा रोग॥५६॥

बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढो न जाय॥५७॥

गुनी गुनी सब कोउ कहै, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत ॥५८॥

संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध ॥५९॥

सबै हँसत करतारि दै, नागरता के नाँव।
गयो गरब गुन को सबै, बसे गँवारे गाँव ॥६०॥

नर की अरु नलनीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होय ॥६१॥

बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत सुन फिरि घटै, बरु समूल कुम्भिलाय ॥६२॥

जो चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥६३॥

अति अगाध अति औथरे, नदी कूप सर वाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥६४॥

मीत न नीति गलीत है, जो धन धरिये जोरि।
खाये खरचे जो बचै, तो जोरिये करोरि ॥६५॥

अरे परेखो को करै, तुही बिलोकि बिचारि।
किहिं नर किहिं सर राखियो, खरे बढ़े पर पारि ॥६६॥

जिन दिन देखे वे सुमन, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलाव की, अपत कँटीली डार ॥६७॥

इहि आसा अटक्यो रहै, अलि गुलाव के मूल।
ह्वै हैं बहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वे फूल ॥६८॥

जदपि पुराने, बक तऊ, सरवर निपट कुचाल।
नये भये तु कहा भयो, ये मनहरन मराल ॥६९॥

को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी हू भूल ।
दीने दई गुलाब कों, इन डारन ये फूल ॥७०॥

वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब ।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गाँव गुलाब ॥७१॥

पट पाँखे, भखु काँकरे, सदा परेई संग ।
सुखी परेवा जगत में, एकै तुही विहंग ॥७२॥

दिन दस आदर पायकै, करिलै आपु बखान ।
जौलौं काग सराधपख, तौलौं तो सनमान ॥७३॥

मरत प्यास पिंजरा परो, सुवा दिनन के फेर ।
आदर दै दै बोलियत, बायस बलि की बेर ॥७४॥

जाके एकौ एकहू, जग व्यवसाय न कोय ।
सो निदाघ फूलै फलै, आक डहडहा होय ॥७५॥

नहिं पावस ऋतुराज यह, सुनि तरुवर मति भूल ।
अपत भये बिनु पाइहैं, क्यौं नव दल फल फूल ॥७६॥

जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं ।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं ॥७७॥

तौलगि या मन सदन में, हरि आवैं किहि बाट ।
बिकट जड़े जौलौं निपट, खुलैं न कपट कपाट ॥७८॥

या भव पारावार को, उलँघि पार को जाय ।
तिय-छबि-छाया-ग्राहनी, गहै बीच ही आय ॥७९॥

भजन कह्यौ तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार ।
दूर भजन जासों कह्यौ, सो तूँ भज्यो गँवार ॥८०॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन बिस्तारन-काल ।
प्रगटत निर्गुन निकट ही, चंग रंग गोपाल ॥८१॥

❀

चिन्तामणि

चोखी चरचा ज्ञान की, आछी मन की जोति।
संगति सज्जन की भली, नीकी हरि कां प्रीति ॥१॥

सरद तें जल की ज्यों दिन तें कमल की ज्यों,
धन तें ज्यों थल की निपट सरसाई है।
घन तें सावन की ज्यों आप तें रतन की ज्यों,
गुन तें सुजन की ज्यों परम सुहाई है॥
चिन्तामनि कहै आछे अच्छरन छन्द की ज्यों,
निसागम चन्द की ज्यों दृग सुखदाई है।
नग तें ज्यों कंचन बसन्त तें ज्यों बन की,
यों जोबन तें तनकी निकाई अधिकाई है॥ २॥

कोटि बिलास कटाक्ष कलोल बढ़ावै हुलास न प्रीतम हीतर।
यों मनि यामे अनूपम रूप जो मैनका मैन बधू कहि ईतर॥
सुन्दरि सारी सुफेद ये सोहत यों छबि ऊँचे उरोजन की तर।
जोबन मत्त गयन्द के कुम्भ लसै जनु गङ्ग तरङ्गनि भीतर॥ ३॥

❀

भूषण

शिवराज-भूषण

पावक-तुल्य अमीतन को भयो, मीतन को भयो धाम सुधा को ;
आनँद भो गहिरो समुदै कुमुदावलि तारन को बहुधा को।
भूतल माहिं बली सिवराज भो, 'भूषन' भाषत सत्रु सुधा को ;
बंदन तेज त्यों चंदनि कीरति, साधे सिंगार बधू - बसुधा को ॥१॥

कामिनि कंत सौं, जामिनि चंद सौं, दामिनि पावस - मेघ घटा सौं ;
कीरति दान सौं, सूरति ज्ञान सौं, प्रीति बड़ी सनमान महा सौं।
'भूषन' भूषन सौं तरुनी; नलिनी नव पूषन - देव - प्रभा सौं ;
जाहिर चारिहु ओर जहान लसै हिंदुआन खुमान सिवा सौं ॥२॥

जै जयंति, जै आदि - सकति जै कालि, कपर्दिनि ;
जै मधुकैटभ - छलनि, देवि, जै महिष - बिमर्दिनि।
जै चमुंडि जै चंड - मुंड - भंडासुर - खंडिनि ;
जै सुरक्त जै रक्तबीज - बिड्डाल - बिहंडिनि।
जै - जै निसुंभ - सुंभद्दलनि, भनि 'भूषन' जै-जै भननि ;
सरजा समत्थ सिवराज कहँ देहि बिजै, जै जग-जननि ॥३॥

चंदन मैं नाग, मद - भर्‌यो इंद्र - नाग; बिष-
भरो सेस नाग, कहै उपमा अबस को ;
चोर ठहरात, न कपूर बहरात, मेघ,
सरद उड़ात, बात लागे दिसि दल को।
संभु नीलग्रीव, भौंर पुंडरीक ही बसत,
सरजा सिवाजी सन 'भूषन' सरस को ;

छीरधि मैं पंक, कलानिधि, मैं कलंक, याते,
रूप एक टंक ये लहैं न तुव जस को ।।४।।

इंद्र जिमि जंभ पर, बाड़व सु अंभ पर,
रावन - सदंभ पर रघुकुल राज है;
पौन बारिबाहु पर, संभु रतिनाहु पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम-द्विजराज है।
दावा द्रुम-दंड पर, चीता मृग-झुंड पर,
'भूषन' वितुंड पर जैसे मृगराज है;
तेज तम-अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ-बंस पर सेर सिवराज है ।।५।।

साहि तनै सरजा सिवा की सभा जा मधि है,
मेरुवारीं सुर की सभा को निदरति है;
'भूषन' भनत जाके एक-एक सिखर ते,
केते धौं नदी-नद की रेल उतरति है।
जोन्ह को हँसति जोति हीरा-मनि-मंदिरन,
कंदरन मैं छवि कुहूकि उछरति है;
ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को, जामैं,
नखतावली सों बहस दिपावली करति है ।।६।।

जेते हैं पहार, भुव माहिं पारावार, तिन,
सुनिकै अपार कृपा गहे सुख फल है;
'भूषन' भनत साहि-तनै सरजा के पास,
आइबे को चढ़ी उर हौंसनि की ऐल है।
किरवान वज्र सों बिपच्छ करिबे के डर,
आनि कै कितेक आए सरन की गैल है;
मघवा मही मैं तेजवान सिवराज बीर,
कोटि-करि सकल सपच्छ किए सैल है ।।७।।

कबि कहैं करन, करनजीत कमनैत,
अरिन के उर माहिं कीन्हो इमि छेव है;
कहत धरेस सब धराधर सेस, ऐसो
और धराधरन को मेट्यो अहमेव है।
'भूषन' भनत महाराज सिवराज, तेरो
राज-काज देखि कोऊ पावत न भेव है;
कहरी यदिल, मौज लहरी कुतुब कहैं,
बहरी निजाम के जितैया कहैं देव है ॥८॥

चमकतीं चपला न फेरत फिरंगै भट,
इंद्र को न चाप रूप बैरख-समाज को;
धाए धुरवा न छाए धूरि के पटल, मेघ,
गाजिबो न बाजिबो है दुंदुभी दराज को।
भौंसिला के डरन डरानी रिपु-रानी, कहैं
पिय भजौ देखि उदौ पावस के साज को;
घन की घटा न गज घटनि सनाह साजे,
'भूषन' भनत आयो सैन सिवराज को ॥९॥

दानव आयो दगा करि जावली, दीह भयारो महामद भारयो;
'भूषन' बाहुबली सरजा, तेहि भेंटिबे को निरसंक पधारयो।
बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि ऊपर ही सिवराज निहारयो;
दाबि यों बैठो नरिंद अरिंदहि, मानो मयंद गयंद पछारयो ॥१०॥

बासव-से बिसरत, बिक्रम की कहा चली,
बिक्रम लखत बीर बखतबुलंद के;
जागे तेजवृंद सिवाजी नरिंद मसनंद,
माल-मकरंद कुलचंद साहिनंद के।

'भूषन' भनत देस-देस बैरि-नारिन मैं,
होत अचरज घर-घर दुख-दंद के;
कनक लतानि इंदु, इंदु माहि अरबिंदु,
झरैं अरबिंदन ते बुंद मकरंद के ॥११॥

मद-जलधरन दुरद-बल राजत,
बहु जल-धरन जलद छबि साजै;
पुहुमिधरन फनि-नाथ लसत अति,
तेज-धरन ग्रीषम रबि छाजै।
खग्ग-धरन सोभा तहँ राजत,
रुचि 'भूषन' गुनधरन-समाजै;
दिल्लि-दलन, दक्खिन-दिसि थंभन,
एेंड़-धरन सिवराज बिराजै ॥१२॥

श्रीसरजा सिव, तो जस सेत सों, होत हैं बैरिन के मुँह कारे;
'भूषन' तेरे अरुन्न प्रताप, सपेद लखे कुनबा नृप सारे।
साहि-तनै, तव कोप-कृषानु ते बैरि गरे सब पानिपवारे;
एक अचंभव होत बड़ौ, तिन ओठ गहे अरि जात न जारे ॥१३॥

ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक मैं,
जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं;
सुनत नगारन अगार तजि अरिन की,
दारगन भाजत, न बार परखत हैं।
छूटे बार-बार, छूटे बारन ते लाल देखि,
'भूषन' सुकवि बरनत हरखत हैं;
क्यों न उतपात होहिं बैरिन के झुंडन में,
कारे घन उमड़ि अँगारे बरखत हैं ॥१४॥

मानसर-बासी हंस बंस न समान होत,
चंदन सौं घस्यो घनसारऊ घरीक है ;
नारद कि सारद कि हासी मैं कहाँ सी आभा,
सरंद की सुरसरी कौन पुंडरीक है ?
'भूषन' भनत छक्यो छीरधि मैं थाह लेत,
फेन लपटानो ऐरावत को करी कहै ?
कयलास-ईस, ईस-सीस रजनीस, वहाँ
अवनीस सिवा के न जस को सरीक है ॥१५॥

इंद्र निज हेरत-फिरत गज-इंद्र अरु
इंद्र को अनुज हेरै दुगध नदीस को ;
'भूषन' भनत सुरसरिता को हंस हेरै,
विधि हेरै हंस को, चकोर रजनीस को ।
साहि-तनै सिवराज, करनी करी हैं तं जु,
होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को ;
पावत न हेरे जस मैं हिराने निज,
गिरि को गिरीस हेरैं, गिरिजा गिरीस को ॥१६॥

भुज-भुजगेस की वै संगिनी भुजंगिनी-सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के ;
बखतर पाखरिन बीच धसि जाती मीन,
पैरि पार जात परवाह ज्यों जलन के ।
रैया-राय चंपति को छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखानि यौं बलन के ;
पच्छी पर-छीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के ॥१७॥

अजौं भूतनाथ मुंडमाल लेत हरषत,
भूतन अहार लेत अजहूँ उछाह है;
'भूषन' भनत अजौं काटे करवालन के,
कारे कुंजरन परी कठिन कराह है।
सिंह सिवराज सलहेरि के समीप ऐसो,
कियो कतलाम दिली-दल को सिपाह है;
नदी रन-मंडल रुहेलन-रुधिर अजौं
अजौं रबि-मंडल रुहेलन की राह है ॥१८॥

ऐसे बाजिराज देत महाराज सिवराज,
'भूषन' जे बाज की समाजैं निदरत हैं;
पौन-पायहीन, हग-घूँघट मैं लीन, मीन
जल मैं विलीन क्यों बराबरी करत हैं।
सबते चलाक चित तेऊ कुल आलम के,
रहैं उर अंतर में धीर न धरत हैं;
जिन चढ़ि आगे को चलाइयतु तीर, तीर
एव भरि तऊ तीर पीछे ही परत हैं ॥१९॥

शिवा-बावनी से

साजि चतुरंग बीर-रंग मैं तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत हैं;
'भूषन' भनत नाद बिहद-नगारन के,
नदी-नद मद गब्बरन के रलत हैं।
ऐल-फैल खैल भैल खलक मैं गैल-गैल,
गजन कि ठेल पेल सैल उसलत हैं;
तारा-सो तरनि धूरि-धारा मैं लगत, जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत है ॥२०॥

❀

ध्रुवदास

सिंगार-सत

हरिबंस-चरन 'ध्रुव' चिंतवन, होत जु हिय हुल्लास।
जो रस दुरलभ सबनि कों, सों पैयतु अनयास ॥१॥

हँसनि में फूलनि की, चाहनि में अमृत की,
नखसिख रूप ही की बरषा-सी होति है।
केसनि की चंद्रिका, सुहाग-अनुराग-घटा,
दामिनी की लसनि दसन, ही की द्योति है॥
'हित ध्रुव', पानिप तरंग रस छलकत,
ताकौ मनो सहज सिंगार-सींव पोति है।
अति अलबेली प्रियां भूषिताभरन बिन,
छिन-छिन औरै-और बदन की जोति है॥२॥

आजु की छबीली छबि-छटा चित बेधि रही,
कही नहिं जाति कछू कौन गति भई है।
नवल जुगुल हँसि चितवति ठाढ़ी पासि,
मानों तिहि उर नई नेह-बेलि बई है॥
'हित ध्रुव', नीरज-से नीर-भरे ढरे नैन,
बोलति न कछु बैन चित्र-सी ह्वै गई है।
नैन छाइ लीने रूप परी तब प्रेमकूप,
वाकी गति जानै सोई जिहि अनभई है॥३॥

सहज सुभाउ पर्‌यौ नवलकिसोरीजू कौ,
मृदुता, दयालुता, कृपालुता की रासि है।

नेकहूँ न रिस के हूँ भूलेहूँ न होति सखी,
रहति प्रसन्न सदा हियें मुख हासि हैं ॥
ऐसी सुकुमारी, प्यारे लालजू की प्रानप्यारीं,
धन्य-धन्य धनि तेई, जिनके उपासि हैं ॥
'हित ध्रुव' और सब जहँलगि देखियतु,
सुनियतु तहँलगि सबै दुख-पासि हैं ॥४॥

ऐसी करी नवलाल रँगीले जू चित्त, न और कहूँ ललचाई ।
जे सुख-दुःख रहै लगि देह सों ते मिट जाहिंऽरु लोक-बड़ाई ॥
संगति साधु, वृन्दाबन कानन तो गुन-गाननि माझ बिहाई ।
कुंज-पगो में तिहारे बसौं बस देहु यहै 'ध्रुव' को ध्रुवताई ॥५॥

महाप्रेम गति सब तें न्यारी । पिय जानै, कै प्रान-पियारी ॥
उरझे मन सुरझत नहिं केहू । जिहि अंग ढरत होत सुख तेहू ॥
एकै रुचि दुहुँ में सखि बाढी । परि गई प्रेम-ग्रंथि अति गाढ़ी ॥
देखत-देखत कल नहिं माई । तिनकौ प्रेम कह्यौ नहिं जाई ॥
सहज सुभाइ अनमनी देखैं । निमिषनि कोटि कलप-सम लेखैं ॥
हँसि चितवति जब प्रीतम माहीं । सोई कलप निमिष है जाहीं ॥
खेलनि-हँसनि लाल कों भावै । नेह की देवी नितहिं मनावै ॥
कौतुक प्रेम छिनहि-छिन होई । यह रस बिरलो समुझै कोई ॥
ज्यों-ज्यों रूपहिं देखत माई । प्रेम-तृषा की ताप न जाई ॥६॥

प्रेम-तृषा की ताप 'ध्रुव', कैसेहुँ कही न जात ।
रूप-नीर छिरकत रहैं, तऊँ न नैन अघात ॥७॥

कौन प्रेम तिहि ठाँकौ कहिए । दुहुँ कोद चितवत सखि रहिए ।
नित्य सुप्रेम एकरस-धारा । अति अगाध तिहि नाहिन पारा ॥
महा मधुर रस प्रम कौ प्रेमा । पीवत ताहिं भूलि गये नेमा ॥
तैसी सखी रहैं दिन-राती । हित 'ध्रुव' जुगुल-नेह-मदमाती ॥८॥

भजन-सत

रसिकन के रहु संग, रे मन, आन बिचार तजि।
नैनिन कौ लै रंग, मिथुन-रूप-रस-रंग करि ॥९॥

रे मन रसिकन संग बिनु, रंच न उपजै प्रेम।
या रस कौ साधन यहै, और करहु जिन नेम ॥१०॥

सेवा अरु तीरथ-भ्रमन, फल तेहि कालहि पाइ।
भक्तन-सँग छिन एक में, परमभक्ति उपजाइ ॥११॥

जिनके हिय में बसत हैं, राधावल्लभ लाल।
तिनकी पदरज लेइ 'ध्रुव', पिवत रहौ सब काल ॥१२॥

महा मधुर सुकुँवार दोउ, जिनके उर बस आनि।
तिनहूँ ते तिनकों अधिक, निहचै कै 'ध्रुव' जानि ॥१३॥

जिनके जाने जानिए, जुगुलचंद सुकुमार।
तिनकी पद-रज सीस धरि, 'ध्रुव' के यहै अधार ॥१४॥

तृन-सम जब ह्वै जाहिं, प्रभुता सुख त्रैलोक के।
यह आवै मन माहिं, उपजै रंचक प्रेम तब ॥१५॥

जीव-दशा

जीव-दसा कछु इक सुनु भाई। हरि-जस-अम्रत तजि, विष्र खाई ॥
छिनभंगुर यह देह न जानी। उलटी समझि अमर ही मानी ॥
घर-घरनी केरँग यों राच्यौ। छिन-छिन में नट कपि ज्यौं नाच्यौ ॥
बय गइ बीति,जाति नहिं जानी। जिमि सावन-सरिता कौ पानी ॥
माया सुख में यों लपटान्यौ। विषय-स्वादु ही सरबसु जान्यौ ॥
कालसमय जब आनि तुलानो। तन-मन की सुधि तबै भुलानो ॥१६॥

भक्त-नामावली से

लाज छाँड़ि गिरिधर भजी, करी न कछु कुल-कानि।
सोई मीरा जग-विदित, प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हूँ लई बोलिकैं, तासो हो अति हेत।
आनँद सों निरखत फिरै, बृन्दाबन-रस खेत॥
नृत्यति नूपुर बाँधिकै, गावति लै करतार।
बिमल होय भक्तनि मिलि, तृनसम गनि संसार॥
बन्धुनि विष ताकों दियो, करि बिचार चित आनि।
सो बिष फिरि अमरत भयौ, तब लागे पछतानि॥
अजहूँ सोचि-बिचारिकैं, गहि भक्तिनि-पद-ओट।
हरि कृपालु सब पाछिली, छमिहैं तेरी खोट॥१७॥

❀

घनानंद

सुजानसागर

नेही महा ब्रजभाषाप्रबीन और सुंदरतानि के भेद कों जानै।
जोग वियोग की रीति मैं कोविद भावना भेद स्वरूप कौं ठानै॥
चाह के रंग मैं भींज्यो हियो बिछुरें मिलें प्रीतम सांति न मानै।
भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै सो 'घनजी' के कवित्त बखानै॥१॥

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कैं सबके मन लालच दौरै पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी॥
जग की कविताई के धोखे रहैं ह्याँ प्रवीननि की मति जाति जकी।
समुझै कबिता 'घनआनँद' की हिय आँखिन नेह कौ पीर तकी॥२॥

जा हित मात कौ नाम जसोदा सुवंस कौ चन्द्रकला-कुलधारी।
सोभा-समूहमयी 'घनआनन्द' मूरति रंग अनंग जिवारी॥
जान महा, सहजै रिझवार, उदार-बिलास, सु रासबिहारी।
मेरो मनोरथ हूँ पुरवौ तुम हीं मो मनोरथ पूरनकारी॥३॥

छबि को सदन मोद मंडित बदन चंद,
तृषित चषनि लाल कबधौं दिखायहौ।
चटकीलौ भेष करें मटकीली भाँति सौही,
मुरली अधर धरें लटकंत आयहौ॥
लोचन ढराय कछू मृदु मुसिक्याय नेह,
भीनी बतियानि लड़काय बतरायहौ।
बिरह जरत जिय जानि आनि प्रान प्यारे,
कृपानिधि आनँद को 'घन' बरसायहौ॥४॥

आँखिन कों जो सुख निहारें जमुना के होत,
सो सुख बखानें न बनत देखिवेई है।
गौर-स्याम-रूप-आदरस है दरस जाकौ,
गुपुत-प्रगट . भावना बिसेखिबेई है॥
जुग कूल सरस सलाका दीठि परत हीं,
अंजन सिंगाररूप अवरेखिवेई है।
आनँद के 'घन' माधुरी की झर लागि रहै,
तरल तरंगिनि की गति लेखिबेई है॥५॥

भोर तें साँझ लों कानन ओर निहारति बावरी नैकु न हारति।
साँझ तें भोर लों तारनि ताकिवो तारन सौं इक तार न टारति॥
जौ कहूँ भावतो दीठि परै 'घनआनँद' आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के मन आरति॥६॥

भए अति निठुर मिटाय पहिचान डारी,
याही दुख हमैं जक लगी हाय हाय है।
तुम तौ निपट निरदई गई भूलि सुधि,
हमैं सूल सलनि सो केहूँ न भुलाय है॥
मीठे मीठे बोल बोलि ठगी पहिलें तौ तब,
अब जिय जारत कहो धौं कौन न्याय है।
सुनी है कै नाहीं यह प्रगट कहावति जू,
काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है॥७॥

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरिए जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरिए जू॥
'घनआनँद' आपने चातक कों गुन बांधिलै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कैं ज्याय बढ़ाय कैं आस बिसास मैं यों विष घोरिए जू॥८॥

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारिए।
त्यों इन आँखिनि बानि अनोखी अघानि कहूँ नहीं आन तिहारिए॥
एकही जीव हुतौ सुतौ वारयो सुजान सकोच औ सोच सहारिए।
रोकी रहै न दहै 'घनआनँद' बावरी रीझ के हाथनि हारिए॥६॥

घेरि घबरानी उबरानिही रहति 'घन-
आनँद' आरत राती साधनि मरति हैं।
जीवन अधार जान रूप के अधार बिन,
व्याकुल विकार भरी खरी सुजरति हैं॥
अतन जतन तें अनखि अरसानी वीर,
परी पीर भीर क्यों हूँ धीर न धरति हैं।
देखिए दसा असाध अँखियाँ निपेटिनि की,
भसमी विथा पैं नित लंघन करति हैं॥१०॥

अकुलानि के पानि परयो दिन-राति सु ज्यो छिनको न कहूँ बहरै।
फिरबोई करै चित चेटक चाक लौं धीरज को ठिक क्यों ठहरै॥
भए कागद नाव उपाव सबै 'घनआनँद' नेह नदी गहरै।
बिन जान सजीवन कौन हरै सजनीं विरहानल की लहरै॥११॥

राति द्योस कटक सजेही रहै दहै दुख,
कहा कहौं गति या बियोग बजमारे की।
लियो घेरि औचक अकेलौ कै बिचारौ जीव,
कछु न बसाति यों उपाय बलहारें की॥
जान प्यारे लागो न गुहार तौ जुहार करि,
जूझि है निकसि टेक गहे पन धारे की।
हेत खेत धूरि चूरि चूरि ह्वै मिलैगो तब,
चलैगी कहानी 'घनआनँद' तिहारे की॥१२॥

एरे बीर पौन तेरो सबै ओर गौन वारी,
तो सो और कौन मानै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े सों समान 'घन-
आनँद निधान सुख दान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुन भारे अति मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह बिथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायनि की हाहा नैकु आनि दै॥१३॥

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपन पौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
'घनआनँद' प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥१४॥

जिन आँखिनि रूप चिन्हारि भई तिनकी नित नींद ही जागनि है।
हित पीर सों पूरित जो हियरा फिर ताहि कहौ कहाँ लागनि है॥
'घनआनँद' प्यारे सुजान सुनौ जियराहिं सदा दुख दागनि है।
सुख मैं मुखचंद बिना निरखे नख तें सिख लौं बिष पागनि है॥१५॥

पूरन प्रेम को मंत्र महा पन जा मधि सोधि सुधार है लेख्यो।
ताही के चारु चरित्र बिचित्रनि यों पचि कै रचि राखि बिसेख्यो॥
ऐसो हियो हित पत्र पवित्र जु आन कथा न कहूँ अवरेख्यो।
सो 'घनआनँद' जान अजान लौं टूक कियो पर बाँचि न देख्यो॥१६॥

जीव की बात जनाइए क्योंकरि जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरनि मारि कै पीर न पावत एक-सो मानत रोइबो रागौ॥
ऐसी बनी 'घनआनँद' आनि जु आन न सूझत सो किन त्यागौ।
प्रान मरैंगे भरैंगे बिथा पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ॥१७॥

पर-काजहि देह को धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा की समान करौ सबही बिधि सज्जनता सरसौ॥
'घनआनँद' जीवनदायक हौ कछू मेरियौ पीर हिएँ परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानिहिं लै बरसौ॥१८॥

मानस को बन है जग पै बिन मानस के वन सो दरसै सो।
जे बन मानस ते सरसे तिन सों मिलि मानस क्यों सरसै हो॥
हाय दई ढरि नेकु इतै सु कितै परसै जिहि ज्यो तरसै जो।
चातक प्रान जिवाय दै ज्यान हहा 'घनआनँद' कों बरसै जो॥१९॥

धुनि पूरि रहै नित काननि में, अज कों उपराजिबोई सी करै॥
मनमोहन गोहन जोहन के, अभिलाष समाजिबोई-सी करै!
'घनआनँद' तीखियै ताननि सों सर से सुर साजिबोई-सी करै।
कित तें यह बैरिनि बाँसुरिया, बिन बाजेई बाजिबोई-सी करै॥२०॥

जिनको नित नीकें निहारत हीं तिनकों अँखिया अब रोवति हैं।
पल पाँवड़े पायनि चायनि सों अँसुवानि के धारनि धोवति हैं॥
'घनआनंद' जान सजीवन कों सपने बिन पायेई खोवति हैं।
न खुली मुँदी जानि परैं कछु ये दुखहाई जगे पर सोवति हैं॥२१॥

पहिलें पहिचानि जु मानि लई अब तो सु भई दुख मूल महा।
इतकै हित बैर लियो उत ह्वै करि ज्यों हरि ज्योहरि लोभ महा॥
'घनआनँद' मीत सुनौ अरु उत्तर दूर तें देहु न देहु हहा।
तुम्हैं पाय अजू हम खोयो सबै हमैं खोय कहौ तुम पायो कहा॥२२॥

जब तैं तुम आवन आस दई तब तें तरफौं कब आयहौ जू।
मन आतुरता मन ही मैं लखौ मनभावन जान सुभाय हौ जू॥
विधि के दिन लौं छिन बाढ़ि परे यह जानि बियोग बितायहौ जू।
सरसौ 'घनआनँद' वा रस कौं जु रसा रस सो वरसायहौ जू॥२३॥

तुमही गति हौ तुमही मति हौ तुमही पतिहौ अति दीनन की।
नित प्रीति करौ गुन हीननि सों यह रीति सुजान प्रवीनन की॥
बरसौ 'घनआनँद' जीवन कों सरसौ सुधि चातक छीनन की।
मृदु तो चित के पन पै इत के निधि हौ हित के रुचि मीनन की ॥२४॥

सदा कृपानिधान हौ कहा कहौं सुजान हौ
अमानि दान मान हौ समान काहि दीजिए।
रसाल सिंधु प्रीति के भरे खरे प्रतीति के
निकेत नीति रीति के सुदृष्टि देखि जीजिए॥
टगी लगी तिहारियै सु आप त्यों निहारियै
समीप ह्वै बिहारियै उमंग रंग भीजिए।
पयोद मोद छाइए बिनोद को बढ़ाइए
बिलंब छाड़ि आइए किधों बुलाय लीजिए ॥२५॥

मो-से अन पहिचान कों, पहिचानें हरि कौन।
कृपा कान मधि नैन ज्यों, त्यों पुकार मधि मौन ॥२६॥

मो ही मोह जनाय कै, अहै अमोही जोहि।
सो ही मो ही सो कठिन, क्यों करि सोही तोहि ॥२७॥

❀

मतिराम

रसराज

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई ;
आँखिन मैं अलसानि, चितौनि मैं मंजु बिलासन की सरसाई ।
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लखे मुसुकानि-मिठाई ;
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई ॥१॥

क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै ;
नेकु निहारे कलंक लगै, इहि गाँव बसे कहु कैसेक जीजै ?
होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै ;
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस-लीजै ॥२॥

रावरे नेह को लाज तजी, अरु गेह के काज सबै बिसरायो ;
डारि दियो गुरुलोगन को डरु, गाँव चवाव मैं नाँव धरायो ।
हेत कियो हम जेतो कहा, तुम तौ 'मतिराम' सबै बिसरायो ;
कोऊ कितेक उपायौ करौ, कहुँ होत है आपनो पीउ परायो ॥३॥

गुच्छन को अवतंस लसै, सिखि-पच्छन अच्छ किरीट बनायो ;
पल्लव लाल समेत छरी, कर-पल्लव मों 'मतिराम' सुहायो ।
गुंजन को उर मंजुल हार निकुंजन ते कढ़ि बाहर आयो ;
आजु को रूपु लखे ब्रजराज को आजु ही आँखिन को फलु पायो ॥४॥

मोर-पखा 'मतिराम' किरीट मैं, कंठ बनी बनमाल सुहाई ;
मोहन की मुसुकानि मनोहर कुंडल लोलनि मैं छबि छाई ।
लोचन लोल, बिसाल बिलोकनि, को न बिलोकि भयो बस माई ?
वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥५॥

ललित-ललाम

जंग मैं अंग कठोर महा, मद-नीर झरैं झरना, सरसे हैं ;
झूलनि रंगघने 'मतिराम' महीरुह फूल प्रभा निकसे हैं ।
सुन्दर सिंदुर-मंडित कुंभनि, गैरिक शृंग समान लसे हैं ;
भाऊ दिवान उदार अपार, सजीव पहार करी बकसे हैं ॥६॥

छाँह करैं छिति-मंडल पै सब ऊपर यों 'मतिराम' भए हैं ;
पानिप को सरसावत हैं, सिगरे जग के मिटि ताप गए हैं ।
भूमि-पुरंदर भाऊ के हाथ पयोदन ही सब काज ठए हैं ;
पंथिन के पथ रोकन को घने बारिद-वृन्द वृथा उनए हैं ॥७॥

बारि के बिहार बर बारन के बोरिबे को
बारि-चर बिरची इलाज जयकाज की ;
कबि 'मतिराम' बलवंत जल-जंतु जानि ,
दूरि भई हिम्मत दुरद-सिरताज की ।

असरन - सरन - चरन की सरन ताकी ,
त्यों हीं दीनबन्धु निज नाम की सुलाज की ;
दौरे एते मान अति आतुर उताल-मिली
बीच ब्रजराज को गरज गजराज की ॥८॥

मतिराम-सतसई

तिरछी चितवन स्याम की लसत राधिका ओर ;
भोगनाथ को दीजिए वह मन सुख बरजोर ॥ ९ ॥

मेरी मति मैं राम है, कवि मेरे 'मतिराम';
चित मेरो आराम मैं, हित मेरे आराम ॥१०॥

मो मन-तम-तोमहि हरौ राधा को मुख-चंद ;
बढ़ै जाहि लखि सिंधु लौं नँदनंदन-आनंद ॥ ११ ॥

मंजु गुञ्ज को हार उर, मुकुट मोर-पर-पुंज ;
कुंजबिहारी बिहरिए मेरेई मन-कुंज ॥ १२ ॥

अनिमिख नैन कहै न कछु, समुझै सुनै न कान ;
निरखे मोर-पखान के भई पखान-समान ॥ १३ ॥

सुनि-सुनि गुन सब गोपिकनि समुझ्यो सरस सवाद ;
कढ़ी अधर की माधुरी ह्वै मुरली के नाद ॥ १४ ॥

करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष ;
नाह-सनेह-समुद्र मैं बूड़ि जात सब दोष ॥ १५ ॥

❀

कुलपति मिश्र

दान बिन धनी सनमान बिन गुनी ऐसे।
विष बिन फनी अनी सूर न सहत हैं।
मंत्र बिन भूप ऐसे जल बिन कूप जैसे।
लाज बिन कामिनि के गुननि कहत हैं।
वेद बिन यज्ञ जप जोग मन वस बिन।
ज्ञान बिन योगी मन ऐसे निबहत हैं।
चंद बिन निशा प्राणप्यारी अनुराग बिन।
सील बिन लोचन ज्यों सोभा को लहत हैं॥ १॥

दिसि पूरि प्रभा करिकै दसहू गुन कोकन के अति मोद लहै।
राखी रसा रँग के अलि ज़त ते जस पुंज कहै।
निसि एक ह्वै पंकज की पतनीन के वाके हिये अनुराग रहै।
मनो याही ते सूरज प्रात समै नित आवत है अरुनाई लहै॥ २॥

नीति बिना न बिराजत राज न राजत नीति जु धर्म बिना है।
फीको लगै बिन साहस रूप रु लाज बिना कुल की अबला है।
सूर के हाथ बिना हथियार गयंद बिना दरबार न भा है।
मान बिना कविता की न ओप है दान बिना जस पावै कहा है॥ ३॥

❀

बेनी

संभु नैन जाल औ फनी फूतकार कहा।
जाके आगे महाकाल दौरत हरौलीतें।
सातो चिरजीवी पुनि मारकंडे लोमस लों।
देख कम्पमान होत खोलें जब झोलीते॥
गरल अनल औ प्रलै को दावानल भल।
'वेनी' कवि छेदि लेत गिरत हथोलीतें।
बचन न पावें धनवन्तरि जो आवें।
हर गोविन्द बचावै हरगोविंद की गोली तें॥ १॥

गड़ि जात बाजी औ गयन्द गन अड़ि जात।
सुतुर अकडि जात मुसकिल गऊ की।
दानव उठाय पाय धोखे जो धरत होत।
आप गरकाप रहिजात पाग मऊ की॥
'वेन' कवि कहै देखि थर थर काँपे गात।
रथन के पथ ना विपंद बरदऊ की।
वार बार कहत पुकार करतार तोसों।
मीच्र है क़बूल पै न कीच लखनऊ को॥ २॥

चूक सो लगत चाखे लूक सो लगावै कंठ।
ताप सरसावै है अपूरब अराम के।
रस को न लेस चोपी रेसा है विसेस,
छाँड़ि दीन्हे सब देस पकसाने परे घाम के।
बुरे बदसूरत बिलाने बदबोयदार,
'वेनी' कहै बकला बनाये मानो चाम के।

कौड़ी के न काम के सु आये विन दाम के हैं।
निपट निकाम हैं ये आम दयाराम के ॥ ३ ॥

चींटी की चलावै को मसा के मुख आय जायँ,
साँस की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाय मरू मरू कै निहारे परै,
अनु परमानु की समानता खगत हैं ॥
'वेनी' कवि कहै हाल कहाँ लौं वखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसौं सुमेरु सी लगत है ॥ ४ ॥

बिग्गत बिलोकत ही मुनि मन डोलि उठे,
बोलि उठे बहरी बिनोद भरे बन बन।
अकल बिकल ह्वै बिकाने रे पथिक जन,
उर्द्ध मुख चातक अधोमुख मराल गन ॥
'वेनी' कवि कहत मही के महाभाग भये,
सुखद सँयोगिन बियोगिन के ताप तन।
कंज-पुंज गंजन कृपीदल के रंजन सो,
आये मानभंजन ये अंजन बरन घन ॥ ५ ॥

करि की चुराई चाल सिंह को चुरायो लङ्क।
शशि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन,
दसन अनार हाँसी बीजरी गम्भीर की ॥
कहै कवि बेनी 'बेनी' ब्याल की चुराइ लीनी,
रती रती शोभा सब रति के शरीर की।

अब तौ कन्हैया जू को चितहू चुराइ लीन्ही,
छोरटी है गोरटी या चोरटी अहीर की ।।६।।

पृथु नल जनक जजाति मानधाता ऐसे,
केते भये भूप यश छिति पर छाइगे ।
काल चक्र परे सक्र सैकरन होत जात,
कहाँ लौं गनावों विधि बासर बिताइगे ।।
'बेनी' साज सम्पति समाज साज सेना कहाँ,
पायन पसारि हाथ खोले मुख बाइगे ।
छुद्र छितिपालन की गिनती गिनावै कौन,
रावन से बली तेऊ बुल्ला से बिलाइगे ।।७।।

बेद मत सोधि सोधि देखि कै पुरान सबै,
सन्तन असन्तन को भेद को बतावतो ।
कपटी कपूत कूर कलि के कुचाली लोग,
कौन रामनाम हू की चरचा चलावतो ।।
'बेनी' कवि कहै मानो मानो रे प्रमान यही,
पाहन से हिये कौन प्रेम उमगावतो ।
भारी भवसागर में कैसे जीव होते पार,
जो पै रामायण ना तुलसी बनावतो ।।८।।

मानव बनाये देव दानव बनाये यच्छ,
किन्नर बनाये पशु पच्छी नाग कारे हैं ।
दुरद बनाये लघु दीरघ बनाये केते,
सागर उजागर बनाये नदी नारे हैं ।।
रचना सकल लोक लोकन बनाये ऐसी,
जुगुति में 'बेनी' पर बीनन के प्यारे हैं ।

राधे को बनाय विधि धोयो हाथ जाम्यो रंग,
ताको भयो चन्द्र कर भारे भये तारे हैं ॥९॥

बाजी के सुपीठ पै चढ़ायो पीठि आपनी दै,
कवि हरिनाथ को कछोहा मान सादरै।
चक्कवै दिली के जे अथक्क अकबर सोउ
नरहरि पालकी को आपने कँधा धरै॥
'बेनी' कवि देनी की (औ, न देनी की न
मोको सोच,
नावै नैन नीचे लखि बीरन को कादरै।
राजन को दीबो कविराजन को काज अब,
राजन को लाज कविराजन को आदरै ॥१०॥

❀

तोष

श्रीहरि की छवि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमन मैं करि देतो।
बैनन के सुनिबे कहँ श्रौन जितै तित सो करतो करि हेतो॥
मो ढिग छोड़ि न काम कछू कहि 'तोष' यहै लिखितो विधि एतो।
तौ करतार इती करनी करि कै कलि मैं कलकीरति लेतो॥१॥

भूषण भूषित दूषणहीन प्रवीन महा रस मैं छवि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जिहि में परमारथ स्वारथ पाई॥
औ उकतें मुकतें उलही कवि 'तोष' अनोख भरी चतुराई।
होति सबै सुख की जनिता बनि आवति जो बनिता कविताई॥२॥

❀

दूलह

फल विपरीत को जतन सों "विचित्र" हरि
ऊँचे हेत बामन में बलि के सदन मैं।
आधार बड़े तें बड़ो आधेय "अधिक"
जानो चरन समानो नाहिं चौदहो भुवन मैं ॥
आधेय अधिक तें आधार की अधिकताई
दूसरो अधिक आयों ऐसो गणनन मैं।
तीनों लोग तन मैं अमान्यो ना गगन मैं
बसैं ते संत मन मैं कितेक कहौं मन मैं ॥१॥

उत्तर उत्तर उतकरष बखानो "सार"
दीरघ तें दीरख लघू तें लघू भारी को।
सब तें मधुर ऊख ऊख तें पियूष ना
पियूष हूँ ते मधुर है अधर पियारी को ॥
जहाँ कमिकन को क्रमैं तें यथा क्रम
"यथा सख्य" बैन, नैन, नैनकोन ऐसे धारी को।
कोकिल तें कल, कंजदल तें अदल भाव
जीत्यो जिन काम की कटारी नोकवारी को ॥२॥

माने सनमाने तेई माने सनमाने सन
माने सनमाने सनमान पाइयतु है।

कहैं कवि 'दूलह' अजाने अपमाने ; अप
मान सों सदन तिनहीं को. छाइयतु है ॥
जानत हैं जेऊ तेऊ जात हैं बिराने द्वार
जान बूझ भूले तिनको सुनाइयतु है।
काम बस परे कोऊ गहत गरूर तो वा
अपनी जरूर जाजरूर जाइयतु है ॥३॥

❀

देव

प्रेम-चन्द्रिका

एकै अभिलाष लाख-लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न 'देव' चराचर मैं;
जासों मनु राचै, तासों तनु-मनु राचै, रुचि
भरि कै उघरि जाँचै साँचै करि कर मैं।

पाँचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देह प्यारे की सती लौं बैठि सर मैं;
प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहिरे, तौ पैठो प्रेम-घर मैं ॥१॥

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गए एक संग मैं;
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागर,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचै चितभंग मैं।

आँखिन मैं तिमिर अमावस की रैनि, जिमि
जंबु-रस-बुंद जमुना-जल-तरंग मैं;
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग मैं ॥२॥

'देव' न देखति हौं दुति दूसरी, देखे हैं जा दिन ते ब्रजभूप मैं;
पूरि रही री वही धुनि कानन आन न आनन ओप अनूप मैं।
ये अँखियाँ सखियाँ न हमारियै जाय मिलीं जल-बुंद ज्यों कूप मैं;
कोटि उपाय न पाइय फेरि, समाइ गईं रँगराइ के रूप मैं ॥३॥

साँसन ही सों समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ;
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि।
'देव' जियै मिलिबेई कि आस कै आसहू पास अकास रह्यो भरि;
जा दिन ते मुख फेर हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजू हरि ॥४॥

धार मैं धाइ धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसीं उकसी न अवेरी ;
री अँगराइ गिरीं गहिरी गहि फेरे फिरीं औ घिरीं नहिं घेरी।
'देव' कछू अपनो बसु ना रस, लालच लाल चितै भईं चेरी ;
वेगि ही बूड़ि गईं पँखिआँ अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ॥५॥

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि, कुनारी हौं ;
कैसो परलोक, नरलोक बर लोकन मैं,
लीन्हीं मैं अलोक लोक-लीकन ते न्यारी हौं।

तन जाहि, मन जाहि 'देव' गुरुजन जाहि,
जीव क्यों न जाहि, टेक टरति न टारी हौं ;
बृन्दावनवारी बनवारी के मुकुट पर,
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ॥६॥

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों स्रुति सानो ;
गात मैं देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारिए बात बखानो।
ऊधो, हहा हरि सों कहियो, तुम हौ न इहाँ, यह हौं नहिं मानो ;
या तन ते बिछुरे तो कहा, मन ते अनते जु बसौ तब जानो ॥७॥

जौ न जी मैं प्रेम, तब कीजै ब्रत-नेम, जब
कंज-मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए ;
आस नहीं पी की, तब आसन ही बाँधियत,
सासन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए।

नख ते सिखा लौं सब स्याममई बाम भई,
बाहिर हूँ भीतर न दूजो 'देव' देखिए ;
जोग करि मिलैं जो बियोग होय बालम, जु
ह्याँ न हरि होयँ, तब ध्यान धरि देखिए ।।८।।

जोगहि सिखै हैं ऊधौं जो गहि कै हाथ हम,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ कै चुकीं ;
'देव' पं सायक नचाय खोलि पंचन मैं,
पंचहू करनि पंचामृत सो अचै चुकीं ।
कुल-बधू ह्वै कै हाय कुलटा कहाईं, अरु
गोकुल मैं, कुल मैं, कलंक सिर लै चुकीं ;
चित होत हित न हमारे नित और, सो तौ
वाही चितचोरहि चितौत चित दै चुकीं ।।९।।

'देव' प्रीति-पंथा चीरि, चीर गरे कंथा डारि,
भसम रमाय खान-पान हू न छूजिए ;
दूरि दुख-दुंद राखि, मुंदरा पहिरि कान,
ध्यान सुन्दरानन गुरू के पग पूजिए ।
शृंगी की टकी लगाय, भृङ्गी-कीट के मनु,
बिरागिनि ह्वै बपु बिरहागिनि मैं भूजिए ;
केली तजि राधिका अकेली होय जोगिनि, तौ
अलख जगाय हेली चेली चलि हूजिए ।।१०।।

जब ते कुँवर कान रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी-सी ;
तब ही ते 'देव' देखी देवता-सी, हँसति-सी,
खीझति-सी, रीझति-सी, रुसति-रिसानी-सी ।

छोही-सी, छली-सी, छीनि लीनी-सी, छकी-सी-छीन,
जकी-सी, टकी-सी लगी थकी थहरानी-सी ;
बीधी-सी, बँधी-सी, विष बूड़ी-सी, बिमोहित-सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी-सी ॥११॥

देखि न परति 'देव' देखिबे की परी बानि,
देखि-देखि दूनी दिखसाध उपजति है ;
सरद-उदित इन्दु बिंदु सों लगत, लखे
मुदित मुखारबिंद इंदिरा लजति है।
अद्भुत ऊख - सी, पियूख - सी मधुर धुनि,
सुनि-सुनि स्रवननि भूख-सी भजति है ;
मंत्री कर्‌यो मैन, परतंत्री कर्‌यो बैन नीके,
बिना तार-तंत्री जीभ जंत्री-सी बजति है ॥१२॥

छीर की-सी लहरि छहरि गई छिति माँह,
जामिनी की जोति भागिनी को मन ऐठ्यो है।
ठौर-ठौर छूटत फुहारे मनौ मोतिन के,
'देव' बनु याको मनु काको न अमैठ्यो है।
सुधा के सरोवरु-सो अंबर उदित, ससि
मुदित मराल मनु पैरिबै को पैठ्यो है;
बेलि के बिमल फूल फूलत समूल, मनौ
गगन ते उड़ि उड़गन-गन बैठ्यो है ॥१३॥

आस-पास पूरन-प्रकास के पगार सूझैं,
बन न अगार डीठि गली औनि-बरते।
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
चंड ब्रह्मंड उतरात बिधु बरते।

सरद जुन्हाई जह्न - जाई - धार सहस,
सुधाई सुधासिंधु नभ-सुभ्र गिरिबर ते;
उमड़्यो परत जोतिमंडल अखंड सुधा-
मंडल मही में विधुमंडल - बिबर ते ॥१४॥

रस-विलास

पाँयन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई;
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसो, मुख - चंद जुन्हाई;
जै जगमंदिर - दीपक सुन्दर, श्रीव्रजदूलह 'देव' सहाई ॥१५॥

❀

बैताल

जीभि जोग अरु भोग जीभि बहु रोग बढ़ावै ।
जीभि करै उद्योग जीभि लै कैद करावै ॥
जीभि स्वर्ग लै जाय जीभि सब नरक दिखावै ।
जीभि मिलावै राम जीभि सब देह धरावै ॥
निज जीभि ओठ एकग्र करि बाँट सहारै तोलिये ।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो जीभि सँभारे बोलिये ॥१॥

टका करै कुलहूल टका मिरदङ्ग बजावै ।
टका चढ़े सुखपाल टका सिर छत्र धरावै ॥
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया ।
टका सास अरु ससुर टका सीर लाड़ लड़ैया ॥
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रातदिन ।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो धिक जीवन एक टके बिन ॥२॥

राजा चंचल होय मुलुक को सर करि लावै ।
पंडित चंचल होय सभा उत्तर दै आवै ॥
हाथी चंचल होय समर में सूँड़ि उठावै ।
घोड़ा चंचल होय झपटि मैदान दिखावै ॥
हैं ये चारों चंचल भले राजा पंडित गज तुरी ।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो तिरिया चंचल अति बुरी ॥३॥

दया चट्ट ह्वै गई धरम धँसि गयो धरन में ।
पुन्य गयो पाताल पाप भी बरन बरन में ॥

राजा करै न न्याय प्रजा की होत खुवारी ।
घर घर में बेपीर दुखित भे सब नर नारी ॥
अब उलटि दान गजपति मँगै सील सँतोष किते गयो ।
'बैताल' कहै बिक्रम सुनो यह कलजुग परगट भयो ॥४॥

मर्द सीस पर नवै मर्द बोली पहिचानै ।
मर्द खिलावै खाय मर्द चिंता नहिं मानै ॥
मर्द देय औ लेय मर्द को मर्द बचावै ।
गाढ़े सँकरे काम मर्द के मर्दै आवै ॥
पुनि मर्द उनहि को जानिये दुख-सुख साथी दर्द के ।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो लच्छन हैं ये मर्द के ॥५॥

ससि बिन सूनी रैन ज्ञान बिन हिरदै सूनो ।
कुल सूनो बिनु पुत्र पत्र बिन तरुवर सूनो ॥
गज सूनो इक दंत ललित बिन सायर सूनो ।
बिप्र सून बिन वेद और बिन पुहुप बिहूनो ॥
हरिनाम भजन बिन संत अरु घटा सून बिन दामिनी ।
'बैताल' कहै विक्रम सुनो पति बिन सूनी कामिनी ॥६॥

बुधि बिन करे बेपार दृष्टि बिन नाव चलावे ।
सुर बिन गावे गीत अर्थ बिन नाच नचावे ॥
गुन बिन जाय बिदेस अकल बिन चतुर कहावे ।
बल बिन बाँधे युद्ध हौंस बिन हेत जनावे ॥
अनइच्छा इच्छा करे। अनदीठी बाताँ कहे ।
'बैताल' कहे विक्रम सुनो, यह मूरख की जात है ॥७॥

पग बिन कटे न पंथ बाहु बिन हटे न दुर्जन ।
तप बिन मिले न राज भाग्य बिन मिले न सज्जन ॥

गुरु बिन मिले न ज्ञान द्रव्य विन मिले न आदर ।
बिना पुरुष सिंगार मेघ विन कैसे दादुर ॥
'बैताल' कहै विक्रम सुनो, बोल बोल बोली हटे ।
धिक धिक ये पुरुष को, मन मिलाइ अंतर कटे ॥८॥

❀

वृंद

जो कछु वेद पुरान कही सुनि लीनी सवै जुगं कान पसारे ।
लोकहु में यह ख्यात प्रथा छिन में खल कोटि अनेकन तारे ॥
'बृन्द' कहै गहि मौन रहै किमि हौं हठ कै बहु बार पुकारे ।
बाहर ही के नहीं सुनौ हे हरि ! भीतर हू ते अहौ तुम कारे ॥ १ ॥

नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात ।
जैसे बरनत युद्ध में, रस शृंगार न सुहात ॥ २ ॥

जो जाको गुन जानही, सो तिहिं आदर देत ।
कोकिल अंबहि लेत है, काग निबौरी हेत ॥ ३ ॥

जाही ते कछु पाइये, करिये ताकी आस ।
रीते सरवर पै गये, कैसे बुझत पियास ॥ ४ ॥

कैसे निबहै निबल जन, कर सबलन सों गैर ।
जैसे बस सागर विषे, करत मगर सों वैर ॥ ५ ॥

अपनी पहुंच विचारि कै, करतब करिये दौर ।
तेते पाँव पसारिये, जेती लाँबी सौर ॥ ६ ॥

पिसुनछल्यो नर सुजन सों, करत बिसास न चूकि ।
जैसे दाध्यो दूध को, पीवत छाँछहि फूँकि ॥ ७ ॥

विद्याधन उद्यम बिना, कहौ जु पावै कौन ।
बिना डुलाये न मिले, ज्यों पंखा की पौन ॥ ८ ॥

बुरे लगत सिख के वचन, हिये विचारो आप ।
करुवी भेषज बिन पिये, मिटै न तन की ताप ॥ ९ ॥

गुरुता लघुत पुरुष की, आश्रय वसतें होय।
करी 'वृन्द' में विंध्य सों, दर्पण में लघु सोय।।१०।।

फेर न ह्वै है कपट सों, जो कीजै व्यौपार।
जैसे हाँड़ी काठ की, चढ़ै न दूजी बार।।११।।

करिये सुखको होत दुख, यह कहो कौन सयान।
वा सोने को जारिये, जासों टूटे कान।।१२।।

नयना देत बताय सब, हिय कौ हेत अहेत।
जैसे निर्मल आरसी, भली बुरी कहि देत।।१३।।

अति परचै ते होत है, अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी, चंदन देति जराय।।१४।।

भले बुरे सब एक सों, जौं लौं बोलत नाहिं।
जानि परतु हैं काक पिक, ऋतु बसन्त के माहिं।।१५।।

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय।।१६।।

कछु बसाय नहिं सबल सों, करै निबल पर जोर।
चलें त अचल उखार तरु, डारत पवन झकोर।।१७।।

रोष मिटे कैसे कहत, रिस उपजावन बात।
ईंधन डारे आगमों, कैसे आग बुझात।।१८।।

जैसे बंधन प्रेम को, तैसो बंध न और।
काठहि भेदै कमल को, छेद न निकरै भौंर।।१९।।

जिहि प्रसंग दूषन लगे, तजिये ताको साथ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ।।२०।।

मूरख गुन समझै नहीं, तौ न गुनी में चूक।
कहा घट्यो दिन को विभौ, देखै जौ न उलूक।।२१।।

करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोइ।
रोपै बिरवा आक को, आम कहाँ ते होइ ॥२२॥

कारज धीरे होतु है, काहे होत अधीर।
समय पाय तरुवर फलै, केतक खींचो नीर ॥२३॥

क्यों कीजै ऐसो जतन, जाते काज न होय।
परब्रत पर खोदै कुँआ, कैसे निकसै तोय ॥२४॥

उत्तम जनसों मिलत ही, अवगुन सो गुन होय।
घनसँग खारो उदधि मिलि, बरसै मीठो तोय ॥२५॥

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निसान ॥२६॥

भली करत लागति बिलम, बिलम न बुरे बिचार।
भवन बनावत दिन लगै, ढाहत लगत न बार ॥२७॥

कुल सपूत जान्यौ परै, लखि सुभ लच्छन गात।
होनहार बिरवान के, होत चीकने पात ॥२८॥

होत निवाह न आपनो, लीने फिरै समाज।
चूहा बिल न समात है, पूँछ बाँधिये छाज ॥२९॥

कछु कहि नीच न छेड़िये, भलो न वाको संग।
पाथर डारे कीच में, उछरि बिगारै अंग ॥३०॥

बुरौ तऊ लागत भलौ, भली ठौर पर लीन।
तिय नैननि नीकौ लगै, काजर जदपि मलीन ॥३१॥

छमा खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय।
अगिन परी तृनरहित थल, आपहि ते बुझि जाय ॥३२॥

सरस्वति के भंडार की, बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात ॥३३॥

कहा कहौं विधिको अविधि, भूले परे प्रबीन।
मूरख को संपति दई, पंडित संपतिहीन ॥३४॥

वह संपति केहि काम की, जिन काहू पै होउ।
नित्य कमावै कष्ट करि, विलसै औरहि कोउ ॥३५॥

तृनहूँ ते अरु तूल ते, हरुवो याचक आहि।
जानतु है कछु माँगि है, पवन उड़ावत नाहिं ॥३६॥

❀

भिखारीदास

सुजस जनावै भगत नहीं से प्रेम करै।
चित्त अति ऊजरे भजत हरि नाम हैं॥
दीन के दुखन देखै आपनो सुखन लेखै।
विप्र पापरत तन मैन मोहै धाम हैं॥
जग पर जाहिर है धरम निबाहि रहै।
देव दरसन ते लहत बिसराम हैं॥
'दास' जू गनाये जे असज्जन के काम हैं।
समुझि देखो एई सब सज्जन के काम हैं॥१॥

धूरि चढ़ै नभ पौन प्रसंग तें कीच भई जल संगति पाई।
फूल मिलै नृप पै पहुँचै कृमि कीटनि संग अनेक बिथाई॥
चन्दन संग कुदारु सुगन्ध ह्वै नीच प्रसंग लहै करुआई।
'दास' जू देख्यो सही सब ठौरनि संगति को गुन दोष न जाई॥२॥

पंडित पंडित सों सुख मंडित सायर सायर के मन मानै।
संतहि संत भनंत भलौ गुनवंतनि को गुनवंत बखानै॥
जा पहँ जा सह हेतु नहीं कहिये सु कहा तिहि की गति जानै।
सूर को सूर सती को सती अरु 'दास' जती को जती पहचानै॥३॥

प्रान बिहीन के पाइ पलोटि अकेले ह्वै जाइ घने बन रोयो।
आरसी अन्ध के आगे धर्यो बहिरे को मतौ करि उत्तर जोयो॥
ऊसर में बरस्यो बहु बारि पखान के ऊपर पंकज बोयो।
'दास' बृथा जिन साहिब सूम की सेवनि मैं अपनो दिन खोयो॥४॥

कंज सकोच गड़े रहे कीच में मीनन बोंरि दियो दह नीरन।
दास कहै मृगहू को उदास कै बास दियो है अरन्य गँभीरन ॥
आपुस में उपमा उपमेय ह्वै नैन ये निन्दित हैं कवि धीरन।
खंजनहूँ को उड़ाय दियो हलुके करि डारे अनङ्ग के तीरन ॥५॥

❀

नागरीदास

भक्ति और प्रेम

काहे कोरे नाना मत सुनै तू पुरानन के,
तैंही कहा तेरी मूढ़, गूढ़ मति पंग की।
बेद के बिबादनि कौ पावेगो न पार कहूँ,
छाँड़ि देहि आसा सब दान-न्हान गंग की ॥
और सिद्ध सोधे अब 'नागर' न सिद्ध कछू,
मानि लेहि मेरी कही वारता सुढंग की।
जाहि ब्रज भोरे, कोरे मन को रँगाइ लै रे,
बृन्दावन-रैन रचो गौर-स्याम-रंग की ॥१॥

जो मेरे तन होते दोय ।
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोतें कछु कहतो नहिं कोय ॥
एक जु तन हरि-बिमुखनि के सँग रहतो देस-बिदेस ।
बिबिध भाँति के जग-दुख-सुख जहँ, नहीं भक्ति-लवलेस ॥
एक जु तन सतसंग-रंग रँगि, रहतो अति सुख-पूरि ।
जनम सफल कर लेतो ब्रज बसि, जहँ ब्रज-जीवनमूरि ॥
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वैहैं, आयु सु छिन-छिन छीजै ।
'नागरिदास' एक तनतें अब, कहा कहा करि लीजै ॥२॥

दरपन देखत, देखत नाहीं ।
बालापन फिरि प्रगट स्याम कच, बहुरि स्वेत होइ जाहीं ॥
तीन रूप या मुख के पलटे, नहिं अयानता छूटीं ।
नियरे आवत मृत्यु न सूझत, आँखें हिय की फूटीं ॥

कृष्ण-भक्ति-सुख लेत न अजहूँ, वृद्ध देह दुख-रासी।
'नागरिया' सोई नर निहचै, जीवत नरक-निवासी ॥३॥

हरिजू अजुगत जुगत करेंगे।
परबत ऊपर बहल काँच की नीके लै निकरेंगे॥
गहिरे जल पाषान नाव बिच, आछी भाँति तरेंगे।
मैन-तुरंग चढ़े पावक बिच, नाहीं पघरि परेंगे॥
याहूँ ते असमंजस हो किन, प्रभु दृढ़ करि पकरेंगे।
'नागर' सब आधीन कृपा के, हम इन डर न डरेंगे ॥४॥

ब्रज के लोग सब ठग महा।
आप ठग, ठग के उपासक, अधिक कहिए कहा॥
कंनक-बीज-सी बचन-रचना, देत तनिक चखाय।
बावरो ह्वै रहत सो फिरि, धाम धन बिसराय।
छाड़िकैं रज लुटत रज में, दीन दीसत अंग।
और जग-सुख-रंग उड़िकै, चढ़त कारो-रंग॥
भूमि ठग, द्रुम, देस, ठग, इत, ठगे स्याम सुजान।
राखै सयानप सोऽब इनके, और कौन समान॥
इहाँ आवत हीं परत दृढ़ प्रेम की गर-पास।
भूलि ह्याँ कोउ आइयौ मति कहत 'नागरिदास' ॥५॥

❀

लाल

दान दया घमसान में, जाके हिये उछाह।
सोई वीर बखानिये, ज्यों छत्ता छितिनाह॥

जिनमें छिति छत्री छवि छाजे। चारिहु युगन होत जे आये॥
भूमि भार भुज दंडनि थम्भे। पूरन करैं जु काज अरम्भे॥
गाय वेद द्विज के रखवारे। जुद्ध जीति जे देत नगारे॥
छत्रिन की यह बृत्ति बनाई। सदा जङ्ग की खायँ कमाई॥
गाय वेद विप्रन प्रतिपालैं। घाउ ऐंड़धारिन पर घालैं॥
उद्यम तें संपति घर आवै। उद्यम करै सपूत कहावै॥
उद्यम करै संग सब लागै। उद्यम तें जग में जस जागै॥
समुद उतरि उद्यम तें जैये। उद्यम तें परमेश्वर पैये॥
जब यह सृष्टि प्रथम उपजाई। जंग बृत्ति क्षत्रिन तब पाई॥
यह संसार कठिन रे भाई। सबल उमड़ि निर्बल को खाई॥
छनिक राज संपति के काजै। बंधुन मारत बंधु न लाजै॥
कछू कालगति जानि न जाई। सब में कठिन कालगति भाई॥
सदा प्रबुद्ध बुद्धि है जाकी। तासों कैसे चले कजाकी॥
बिपति माँह हिम्मति ठिक ठाने। बढ़ती भये छिमा उर आने॥
बचन सुदेस सभनि में भाखै। सुजस जोरिबे में रुचि राखै॥
जुद्धनि जुरैं अकेले जैसे। सहज सुभाय बड़ेन के ऐसे॥
जाकी धरम रीति जग गावे। जो प्रसिद्ध बलवन्त कहावै॥

❀

गिरिधर कविराय

साईं अपने चित्त की , भूलि न कहिये कोइ।
तबलग मनमें राखिये , जबलग कारज होइ॥
जबलग कारज होइ , भूलि कबहूँ नहिं कहिये।
दुरजन हँसे न कोय , आप सियरे ह्वै रहिये॥
कह 'गिरधर कविराय' , बात चतुरन के ताईं।
करतूती कहि देत , आप कहिये नहिं साईं॥ १॥

साईं अपने भ्रात को , कबहुँ न दीजै त्रास।
पलक दूर नहिं कीजिये , सदा राखिये पास॥
सदा राखिये पास , त्रास कबहूँ नहिं दीजै।
त्रास दियो लंकेश , ताहि की गति सुनि लीजै॥
कह 'गिरधर कविराय' , रामसों मिलियो जाई।
पाय विभीषण राज , लंकपति बाज्यो साईं॥ २॥

साईं समय न चूकिये , यथाशक्ति सन्मान।
को जाने को आइ है , तेरी पौरि प्रमान॥
तेरी पौरि प्रमान , समय असमय तकि आवे।
ताको तू मन खोलि , अंक भरि हृदय लगावै॥
कह 'गिरिधर कविराय' , सबै यामैं सधि आई।
शीतल जल फल फूल , समय जनि चूको साईं॥ ३॥

पानी बाढ़ो नाव में , घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये , यही सयानो काम॥

यही सयानो काम , राम को सुमिरन कीजै ।
परस्वारथ के काज , शीश आगे धरि दीजै ॥
कह 'गिरिधर कविराय' , बड़ेन की याही बानो ।
चलिये चाल सुचाल , राखिये अपनो पानी ॥ ४ ॥

❀

ठाकुर

वैर प्रीति करिवे की मन में न राखै संक
राजा राव देखि कै न छाती धकधाकरी।
अपनी उमंग की निबाहिवे की चाह जिन्हें
एक सो दिखात तिन्हें बाघ और बाकरी॥
'ठाकुर' कहत मैं बिचार कै विचार देखो
यहै मरदानन की टेक बात आकरी।
गही जौन गही जौन छोड़ी तौन छोड़ दई
करी तौन करी बात ना करी सो ना करी ॥१॥

सामिल में पीर में शरीर में न भेद राखै
हिम्मत कपट को उधारै तौ उघरि जाय।
ऐसे ठान ठानै तौ विनाहू जन्त्र मन्त्र किये
साँप के जहर को उतारै तो उतरि जाय॥
ठाकुर कहत कछु कठिन न जानौ अब
हिम्मत किये तें कहो कहा न सुधरि जाय।
चारि जने चारिहू दिसा तें चारो कोन गहि
मेरु को हिलाय कै उखारै तौ उखरि जाय ॥२॥

सुकवि सिपाही हम उन रजपूतन के
दान युद्ध वीरता में नेकहू न मुरके।
जस के करैया हैं मही के महिपालन के
हिये के विशुद्ध हैं सनेही साँचे उरके॥

'ठाकुर' कहत हम बैरी बेवकूफन के
जालिम दमाद हैं अदेनियाँ ससुर के।
चोजन के चोजी महा मौजिन के महाराज
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के ॥३॥

ग्वारन को यार है सिंगार सुख सोभन को
साँचो सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देख आपनो बखत लेख
आनंद विशेष रूप अकह कहानी को॥
'ठाकुर' कहत साँचो प्रेम को प्रसंगवारो
जा लख अनंग रंग दंग दधिदानी को।
पुण्य नंद जू को अनुराग ब्रजबासिन को
भाग यसुमति को सुहाग राधारानी को ॥४॥

लगी अन्तर में करै बाहिर को बिन जाहिर कोऊ न मानतु है।
दुख औ सुख हानि औ लाभ सबै घर की कोउ बाहर भानतु है॥
कवि 'ठाकुर' अपनी चातुरी सों सबही सब भाँति बखानतु है।
पर बीर मिलै बिछुरै की विथा मिलि कै बिछुरै सोई जानतु है ॥५॥

यह प्रेम कथा कहिये किहिसों सौ कहेसां कहा कोऊ मानत हैं।
पर ऊपरी धीर बँधायो चहैं तन रोग न वा पहिचानत हैं॥
कहि 'ठाकुर' जाहि लगी कसकै सु तो को कसकै उर आनत है।
बिन आपने पाय बेवाय गये कोऊ पीर पराई न जानत है ॥६॥

ये जे कहैं ते भले कहिबो करैं मान सही सौ सबै सहि लीजै।
ते बकि आपुहि ते चुप होयँगी काहे को काहुवै उत्तर दीजै॥
'ठाकुर' मेरे मते की यहै धनि मान कै जोबन रूप पतीजै।
या जग मैं जनमैं को जियै को यहै फल है हरि सों हित कीजै ॥७॥

एक ही सों चित चाहिये और लों बीच दगा को परै नहिं टाँको।
मानिक सों चित बेंचि कै जू अब फेरि कहाँ परखावनो ताको॥
'ठाकुर' काम नहीं सब को इक लाखन में परबीन है जाको।
प्रीति कहा करिबे में लगै करिकै इक ओर निबाहनो वाको॥८॥

❀

सूदन

एकै एक सरस अनेक जे निहारे तन।
भा लाज भारे स्वामिकाज प्रतिपाल के॥
चङ्ग लौं उड़ायो जिन दिल्ली की वजीर भीर।
मारी बहु मीरन किये हैं बे हवाल के॥
सिंह बदनेस के सपूत श्री सुजानसिंह।
सिंह लौं झपटि नख दीन्हे करवाल के॥
वेई पठनेटे सेल साँगन खखेटे भूरि।
धूरि सौं लपेटे लेटे भेटे महाकाल के॥१॥

आप बिस चाखै भैया षटमुख राखै देखि।
आसन में राखै बस बास जाको अचलै॥
भूतन के छैया आस पास के रखैया और।
काली के नथैया हूँ के ध्यान हूँ ते न चलै॥
बैल बाघ बाहन बसन को गयन्द खाल।
भाँग को धतूरे को पसारि देत अँचलै॥
घर को हवाल यहै संकर की बाल कहै।
लाज रहै कैसे पूत मोदक को मचलै॥२॥

पूत मजबूत बानी सुनि कै सुजान मानी।
सोई बात जानी जासों उर मैं छमा रहै॥
जुद्ध रीति जानौ मत भारत को मानौ जैसो।
होइ पुठवार ताते ऊन अगमा रहै॥

बाम और दच्छिन समान बलवान जान।
कहत पुरान लोक रीति मों रमा रहै॥
'सूदन' समर घर दोउन कीं एकै विधि।
घर में ज़मा रहै तो खातिर जमा रहै॥३॥

❀

बोधा

अति खीन मृनाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै आवतो है।
सुई बेह ते द्वार सको न तहां परतीति को टांड़ो लदावतो है॥
कवि 'बोधा' अनी घनी नेजहु ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है॥ १॥

एक सुभान के आनन पै कुरवान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटियै लखि कै मुसुकाहट ताको॥
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि 'बोधा' जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तो जहान मिलैं नहिं जान मिलै तो जहान कहाँ को॥ २॥

लोक की लाज औ सोक प्रलोक को वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गाँव को गेह को देह को नातो सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ॥
'बोधा' सुनिति निबाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीत डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंड़े परै जनि कोऊ॥ ३॥

'बोधा' किसू सो कहा कहिये सो बिथा सुनि पूरि रहै अरगाइ कै।
याते भले मुख मौन धरैं उपचार करैं कहुं औसर पाइ कै॥
ऐसो न कोऊ मिल्यो कबहूँ जो कहै कछु रंच दया उर लाई कै।
आवतु है मुख लौं बढ़ि कै फिरि पीर रहै या सरीर समाइ कै॥ ४॥

कबहूँ मिलिबो कबहूँ मिलिबो यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर ते कढ़ि आवै गरे ते फिरै मन की मनहीं में सिरैबो करै॥
कवि 'बोधा' न चाउ सरी कबहूँ नितही हरवासों हिरैबो करै।
सहते ही बनै कहते न बनै मन ही मन पीर पिरैबो करै॥ ५॥

हिलि मिलि जानै तासों मिलि कै जनावै हेत ।
हित को न जानै ताको हितु न बिसाहिये ॥
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै ।
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिये ॥
'बोधा' कवि नीति को निवेरो यही भाँति अहै ।
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिये ॥
दाता कहा सूर कहा सुन्दर सुजान कहा ।
आपको न चाहै ताके बाप को न चाहिये ॥ ६ ॥

वह प्रीति की रीति को जानत थो तबही तौ बच्यो गिरि ढाहन तें ।
गजराज चिकारि कै प्रान तज्यो न जर्यो सँग होलिका दाहन तें ॥
'कबि' बोधा कछू न अनोखी यहै का बनै नहीं प्रिति निबाहन तें ।
प्रहलाद की ऐसी प्रतीति करै तब क्यों न कढ़ै प्रभु पाहन तें ॥ ७ ॥

❀

पद्माकर

कूलन में केलि में कछारन में कुंजन में।
क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत है॥
कहै 'पदमाकर' परागन में पानहूँ में।
पानन में पीक में पलाशन पगंत है॥
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में।
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है॥
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में।
वनन में बागन में बगरो बसंत है॥ १॥

पात बिन कीन्हें ऐसी भाँति गन बेलिन के।
परत न चीन्हें जे ये लरजत लुंज हैं॥
कहै 'पदमाकर' बिसासी या बसंत के सु।
ऐसे उतपात गात गोपिन के भुंज हैं॥
ऊधो यह सूधो सों सँदेसौ कहि दीजो भलो।
हरि सों हमारे ह्याँ न फूले वन कंज हैं॥
किंशुक गुलाब कचनार औ अनारन की।
डारनपै डोलत अँगारन के पुंज हैं॥ २॥

ये ब्रजचन्द्र चलो किन वा ब्रज लूक बसंत की ऊकन लागी।
त्यों 'पदमाकर' पेखो पलासन पावक सो मनो फूँकन लागी॥
वै ब्रजनारी विचारी बधू बन बावरी लौं हिये हूकन लागी।
कारी कुरूप कसाइन पै सु कुहू कुहू क्वैलिया कूकन लागी॥ ३॥

रे मन साहसी साहस राख सु साहस सों सब जेर फिरैंगे।
त्यों 'पद्माकर' या सुख में दुख त्यों दुख में सुख सेर फिरैंगे॥
वैसे ही वेणु बजावत श्याम सुनाम हमारो हू टेर फिरैंगे।
एक दिना नहिं एक दिना कबहूँ फिर वे दिन फेर फिरैंगे॥ ४॥

जैसो तै न मोसों कहूँ नेकहूँ डरात हुतो।
तैसो अब हौहूँ नेकहूँ न तोसों डरिहौं॥
कहै 'पदमाकर' प्रचंड जो परैगो तो।
उमंड करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहौं॥
चलो चलु चलो चलु बिचलु न बीच हि ते।
कीच बीच नीच तो कुटुम्ब को कचरिहौं॥
येरे दगादार मेरे पातक अपार तोहिं।
गंगा के कछार में पछार छार करिहौं॥ ५॥

बगसि वितुण्ड दिये झुण्डन के झुण्ड रिपु।
मुंडन की मालिका दई ज्यों त्रिपुरारी को॥
कहै 'पदमाकर' करोरन को कोष दये।
षोड़सहू दीन्हें महादान अधिकारी को॥
ग्राम दये धाम दये अमित अराम दये।
अन्न जल दीने जगती के जीवधारी को॥
दाता जयसिंह दोय बातैं तौ न दीन्ही कहूँ।
वैरिन को पीठि और दीठि परनारी को॥ ६॥

सम्पति सुमेर की कुबेर की जो पावै तांहि।
तुरत लुटावत बिलम्ब उर धारै ना॥
कहै 'पदमाकर सुहेम हय हाथिन के।
हलके हजारन के वितर बिचारै ना॥

दीन्हे गज बकस महीप रघुनाथ राय।
याहि गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना॥
याहि डर गिरिजा गजानन को गोइ रही।
गिरितें गरेतें निज गोद तें उतारै ना॥ ७॥

देव नर किन्नर कितेक गुन गावत पै।
पावत न पार जा अनन्त गुन पूरे को॥
कहै 'पदमाकर' सु गाल के बजावत ही।
काज करि देत जन जाचक जरूरे को॥
चन्द की छटान जुत पन्नग फटान जुत।
मुकुट विराजै जटा जूटन के जूरे को॥
देखो त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ।
पैये फल चार फूल एक दै धतूरे को॥ ८॥

व्याधहूँ ते बिहद असाधु हौं अजामिल लौं।
ग्राह तें गुनाही कहौ तिनमें गिनाओगे॥
स्योरी हौं न सूद्र हौं न केवट कहुँ को त्यों न।
गौतमी तिया हौं जापै पग धरि आओगे॥
राम सों कहत 'पदमाकर' पुकारि तुम।
मेरे महा पापन को पारहू न पाओगे॥
झूठोही कलंक सुनि सीता ऐसी सती तजी हौं तो।
साँचोहूँ कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे॥ ९॥

❀

ग्वाल

गीधे गीध तारि कै सुतारि कै उतारि कै जू।
धारि कै हिये मैं निज बात जटि जायगी ॥
तारि कै अवधि करी अवधि सुतारिवे की।
विपति विदारिवे की फाँस कटि जायगी ॥
'ग्वाल' कवि सहज न तारिबो हमारो गिनो।
कठिन परैगी पाप पाँति पटि जायगी ॥
यातें जो न तारिहौ तुम्हारी सौंह रघुनाथ।
अधम उधारिवे की साख घटि जायगी ॥१॥

राम घनश्याम के न नाम तैं उचारे कभूँ।
काम वश ह्वै कै बाम गरे बाँह डाली है ॥
एक एक स्वाँस ये अमोल कढ़े जात हाय।
लोल चित यहै ढोल फोरत उताली है ॥
'ग्वाल' कवि कहै तू विचारै बर्ष बढ़े मेरे एरे।
घटे छिन छिन आयु की बहाली है ॥
जैसे धार दीखत फुहारे की बढ़त आछे।
पाछे जल घटे हौज होत आवे खाली है ॥२॥

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम।
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी ॥
भीजे खस वीजन झले हूँ ना सुखात स्वेद।
गात ना सुहात बात दावा सी डरापिनी ॥

'ग्वाल' कवि कहै कोरे कुंभन तें कूपन तें।
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी ॥
जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब।
पीवत हू पीवंत मिटै न प्यास पापिनी ॥३॥

ईरषा की सैन लिये कलिजुग भूप आयो।
झूँठ के नगारे सो बजत दिन रात है ॥
काम क्रोध लोभ मोह तेग तीर धनु नेजा।
अदया अखंड तोप चंड घहरात हैं ॥
'ग्वाल' कवि गब्बर गसीले गोल गोला चलै।
टोला कूर बचनों के पूर लहरात हैं ॥
हूजियो हुस्यार यार साँच के मवासे माँहिं।
पाप की पताका आसमान फहरात है ॥४॥

चाहिये जरूर इनसानियत मानस कौ।
नौबत बजे पै फेर भेर वजनो कहा ॥
जात औ अजात कहा हिन्दू औ मुसलमान।
जाते कियो नेह फेर ताते भजनो कहा ॥
'ग्वाल' कवि जाके लिये सीस पै बुराई लई।
लाजहू गमाई कहो फेर लजनो कहा ॥
यातो रंग काहू के न रँगिये सुजान प्यारे।
रँगे तो रँगेई रहै फेर तजनो कहा ॥५॥

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो 'ग्वाल' कवि।
खाव पिओ देव लेव यही रह जाना है ॥
राजा राव उमराव केते बादशाह भये।
कहा तें कहाँ को गयो लाग्यो ना ठिकाना है ॥

ऐसी जिन्दगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे।
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है॥
आये परवाना पर चले ना बहाना इहाँ।
नेकी करि जाना फेरि आना है न जाना है॥६॥

❀

प्रानहूँ तें प्यारो रहै तूँ सदाई, प्यारे,
पीत-पट सदा हिय बीच फहर्यौ करै ॥१०॥

आइकैं जगत-बीच काहू सों न करै बैर,
कोऊ कछू काम करै इच्छा जौन जोई की।
ब्राह्मन की छत्रिन की, वैसनि की, सूद्रनि की,
अंत्यज मलेच्छ की, न ग्वाल की न भोई की ॥

भले की, बुरे की, 'हरिचन्द' से पतित हूँ की,
थोरे की, बहुत की, न एक की न दोई को!
चाहे जो चुनिंदा भयौ जग बीच मेरे मन,
तौ न तूँ कबहूँ निंदा करु कोई की ॥११॥

सुन्दर सचिक्कन सुढार स्याम सोहै महा,
कोटि लावन्य-धाम लटक निज अंग की।
कोमल चरन कौंल नटवर ढोर मोर,
पोर-पोर छोरै छबि कोटिन अनंग की।
बंक गति लंक तें, सुअंक लौं तिरीछे ठाढ़े,
मृदु कर कीन्हें मुद्रा बेनु के प्रसंग की।
कुण्डल स्रवन सीस चन्द्रिका नमन, जै जै
राधिकारमनलाल, ललित त्रिभंग की ॥१२॥

पूरन सुकृत-फल श्रीभट गुपालजू के,
भक्त महिपालजू के संकट-समनजू।
दौरे गजराज-काज लाज राखी द्रौपदी की,
धार्यौ गिरिराज देव-मद के दमनजू।

निज दासी दीन-दुख हरन चरन चारु,
सुख के करन सदा संपदा-भमनजू, ।
मुरली - लकुटवारे, चन्द्रिका - मुकुटवारे,
दुरित हमारे दरौ राधिका रमनजू ॥१३॥

❀

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

बगियान बसंत बसेरो कियो, बसिये तिहि त्याग तवाइयै ना।
दिन काम कुतूहल के जे बने, तिन बीच बियोग बुलाइयै ना॥
'घनप्रेम' बढ़ाय कै प्रेम अहो, बिथा बारि बृथा बरसाइयै ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइयै ना॥

जय जय भारत भूमि भवानी।
जाकी सुजस पताका जग के दसहूँ दिसि फहरानी॥
सब सुख सामग्री पूरित ऋतु सकल समान सोहानी।
जा श्री सोभा लखि अलंका अरु अमरावती खिसानी॥
धर्म सूर जित उयो नीति जहँ गई प्रथम पहिचानी।
सकल कला गुन सहित सभ्यता जहँ सो सबहिं सुभानी॥
भये असंख्य जहाँ जोगो तापस ऋषिवर मुनि ज्ञानी।
बिबुध बिप्र बिज्ञान सकल बिद्या जिनते जग जानी॥
जग विजयी नृप रहे कबहुँ जहँ न्याय निरत गुन खानी।
जिन प्रताप सुर असुरनहू की हिम्मत बिनसि बिलानी॥
कालहु सम अरि तृन समझत जहँ के सभी अभिमानी।
बीर बधू बुध जननि रहीं लाखन जित सती सयानी॥
कोटि कोटि जिन कोटि पती रत बनिन बनिक धन दानी।
सेवत शिल्प यथोचित सेवा सूद समृद्ध बढ़ानी॥
जाको अन्न खाय ऐड़ति जग जाति अनेक अघानी।
जाको संपति लुटत हजारन बरसनहूँ न खोटानी॥
सहस सहस बरिसन दुख नित नव जो न ग्लानि उर आनी।
धन्य धन्य पूरब सम जग नृपगन मन अजहूँ लोभानी॥

प्रनमत तीस कोटि जन अजहूँ जाहि जोरि जुग पानी।
जिनमैं झलक एकता की लखि जग मति सहम सकानी॥
ईस कृपा लहि बहुरि 'प्रेमघन' बनहु सोई छबि छानी।
सोइ प्रताप गुणजन गर्वित ह्वै भरी पुरी धन धानी॥२॥

सब विदेशी वस्तु नर, गति रति रीति लखात।
भारतीयता कछु न अब, भारत मैं दरसात॥३॥

मनुज भारती देखि कोउ, सकत नहीं पहिचान।
मुसल्मान, हिंदू किधौं, कै हैं ये क्रिस्तान॥४॥

पढ़ि बिद्या परदेस की, बुद्धि विदेसी पाय।
चाल चलन परदेस की, गई इन्हैं अति भाय॥५॥

ठटे विदेसी ठाट सब, बनयो देस विदेस।
सपनेहूँ जिनमें न कहुँ, भारतीयता लेस॥६॥

बोलि सकत हिंदी नहीं, अब मिलि हिंदू लोग।
अंगरेजी भाखत करत, अंगरेजी उपभोग॥७॥

अंगरेजी बाहन, बसन, वेष रीति औ नीति।
अंगरेजी रुचि, गृह, सकल, बस्तु देस विपरीति॥८॥

हिंदुस्तानी नाम सुनि, अब ये सकुचि लजात।
भारतीय सब वस्तु ही, सों ये हाय घिनात॥९॥

देस नगर बानक बनो, सब अंगरेजी चाल।
हाटन मैं देखहु भरा, बस अंगरेजी माल॥१०॥

कौन भरौसे इत अब रहिये, कुमति आय घर घाली।
फूट्यौ फूट बैर फलि फूंल्यो, बधि की कठिन कुचाली॥११॥

जिन कर नाहिं छड़ी ते करिहैं, कहा करद करवाली।
छमा कवच धारी ये बिहँसत, खाय लात औ गारी॥१२॥

जिनसों सम्हल सकत नहिं तन की, धोती ढीली-ढाली।
देस प्रबंध करहिंगे वे यह, कैसी खाम खयाली ॥१३॥

दास-वृत्ति को चाह चहुँ दिसि चारहु बरन बढ़ाली।
करत खुशामद झूठ प्रशंसा मानहुँ बने डफाली ॥१४॥

❀

प्रतापनारायण मिश्र

स्फुट छन्द

बूड़ि मरै न समुद्र में हाय, ये नाहक हाथ निछोछे डुबावैं ।
का तजि लाज जराग क्रिये, मुख कारो लिये इतही उत धावैं ॥
नारि दुखारिन पै बजमारे, वृथा बुँदियान के बान चलावैं ।
वीर हैं तौ वलबीरहिं जाय कै, वीर बली धुरवा धमकावैं ॥१॥

आगे रहे गनिका गज गीध सुनौ अब कोऊ दिखात नहीं हैं ।
पाप परायन ताप भरे 'परताप' समान न आन कहीं हैं ॥
हे सुखदायक प्रेमनिधे जग यों तो भले औ बुरे सबहीं हैं ।
दीनदयाल औ दीनप्रभो, तुमसे तुमही हम से हम हीं हैं ॥२॥

क्रंदन

तब लखिहौं जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत ।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत ॥३॥

जहँ आमन की गुठली. अरु बिरछन की छालैं ।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिव रहिं पालैं ॥४॥

नौन तेल लकरी घासहु पर टिकस लगे जहँ ।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहँ दीन प्रजा कहँ ॥५॥

जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं ।
देशन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं ॥६॥

कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ रिन भारन ।
तहँ तिनकी धन कथा कौन जे गृही सधारन ॥७॥

नाथूराम शंकर शर्मा

शंकर के दुलारे सेवक दुलारे गुरु लोगन के।
नीति के निकेत निगमागम पढ़त हैं।।
जीवन के चारों फल चाखन की चाह कर।
उन्नति की ओर निसि-बासर बढ़त हैं।।
भारती के भूषण प्रतापशील पूसण से।
जिनकी कृपासे पर दूषण कढ़त हैं।।
ऐसे नर नागर तरंगे भवसागर को।
प्यारे परमारथ के पोत पै चढ़त हैं।। १ ।।

द्विज वेद पढ़ैं सुविचार बढ़ैं बल पाय चढ़ैं सब ऊपर को।
अविरुद्ध रहैं ऋजुपंथ गहैं परिवार कहैं वसुधा भर को।।
ध्रुव धर्म धरैं पर दुःख हरैं तन त्याग तरैं भवसागर को।
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता कवि 'शंकर' को।।२।।

भरिबो है समुद्र को शंबुक में छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बँधिबो है मृणाल सों मत्त करी जुही फूल सों सैल बिदारिबो है।।
गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर' रेणु सों तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारिबो है।।३।।

शब्द अर्थ संबंध युक्त भाषा विशाल थल।
शास्त्र सरोवर गद्य पद्य रचना विशुद्ध जल।।
आशय मूल प्रबंध नाल भूषण सुन्दर दल।
'शंकर' नवरस फूल ग्रंथ मकरंद मोद फल।।

पर हित पराग छकि छकि मुदित।
रसिक भृंग गण गुंजरत॥
नित या साहित्य-सरोज की।
उन्नति कवि - कुल - रवि करत॥४॥

❀

श्रीधर पाठक

काश्मीर-सुषमा

कै यह जादू भरी विश्व बाजीगर-थैली।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली॥
पुरुष-प्रकृति कौं किधौं जबै जोवन-रस आयौ।
प्रेम-केलि-रस-रेलि करन रंग-महल सजायौ॥
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु-सिंगार-पिटारी॥
प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति।
विमल अंबु-सर मुकुरन महँ मुख-बिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन-मन वारति॥
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुरकानन सुन्दर।
यहिं अमरन कौ ओक यहीं कहुँ बसत पुरंदर॥१॥

भारत-सुत

एहो नव युव वर, प्रिय छात्र वृंद!
भारत - हृदि - नंदन, आनंद कंद!
जीवन-तरु - सुंदर - सुख - फल अमंद!
भारत - उर - आशा - आकाश - चंद!
आरण - गृह - गौरव - आधार - थंब!
भारत - भुवि - सर्वस प्रानावलंब!
तुम्ही तिहि तन, मन, धन, रजत - जोति!

हीरा, मनि, मरकत, मानिक्य मोति !
तुमही तिहि आतम - अंतर - शरीर !
प्रानाधिक-प्रियतम सुत, धीर, वीर !
तुम्हरे नव विकसित सुठि सबल अंग।
उन्नत मति चंचल चित, चपल ढंग ॥
शैशव - गुन - संभव, नव - नव तरंग।
नव वय, नव विद्या, नव - युव - उमंग ॥
बाढ़हु भुवि स्वर्गिक सेवा के हेतु।
फहरै जग भारत-कीरति कौ केतु ॥२॥

❀

मदनमोहन मालवीय 'मकरंद'

मन पिरात धीरज छुटत, समुझि चूक अरु पाप ।
सब प्रानिन के प्रान प्रभु, हरहु शोक संताप ॥ १ ॥

वे कबके उत ठाढ़े अहे इत बैठी रहो तुम नारि चुपानी।
थाकी तुम्हें समझावत सामते ऐसी मैं रावरी बानि न जानी ॥
मोहि कहा पै यहैं 'मकरन्दहुँ' जो कहुँ खीजि के रूसन ठानी।
आजु मनाए न मानती हौ कल्ह आपु मनाइहौ राधिका रानी ॥२॥

धूम मची ब्रज फागुरी आजु बजै डफ झाँझ अबीर उड़ानी ।
ताकि चलैं पिचिका दुहुँ ओर गलीन में रंग की धार वहानी ॥
भीजें भिगोवें उड़े 'मकरंद' दुहूँ लखि शोभा न जाति बखानी ।
ग्वालन साथ इते नंदलाल इते संग ग्वालिनं राधिका रानी ॥३॥

❀

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

तेरी ही कला से कलानिधि है कलानिधान,
है सकेलि तेरी केलि-कलित पतंग मैं।
गुरु गिरिगन हैं तिहारी गुरुता के लहे,
पावन प्रसंग है तिहारो पूत संग मैं॥
'हरिऔध' तेरी हरियाली से हरे हैं तरु,
तू ही हरि विहर रहा है, हर अंग मैं।
तेरो रंग ही है रंग-रंग के प्रसूनन मैं,
तू ही है तरंगित तरंगिनी-तरंग मैं॥१॥

उठो-उठो बीरो चीरो अरि के करेजन को,
पीरो मुख परे वनी बातहू विगरिहै।
छटकि छटकि छाती छगुनी करैयन को,
कौन आज उछरि उछरि के पछरिहै॥
'हरिऔध' कहै बीर बाँकुरे न वेर करो,
हाँक से तिहारी बीर हू ना धीर धरिहै।
पारावार-धार में उड़ेगी छार आँच लगे,
ठोकर की मार से पहार गिरि परिहै॥२॥

मिलि-मिलि मोदवारी मुकुलित मल्लि कासों,
कुंज-कुंज क्यारिन कलोल करि फूले हो।
पान कै प्रकाम रस आम मंजरीन हू के,
अभिराम उरके अराम उनमूले हो॥

'हरिऔध' ठौर-ठौर झौंरि-झुकि झूमि झूमि,
चूमि चूमि कंज की कलीन अनुकूले हौ।
तजि महमदी मंजु मालती चमेलिन को,
कौन भ्रम वेलिन भ्रमर आज भूले हौ ॥३॥

❀

राधाकृष्णदास

प्रताप-विसर्जन

उन्नत सिर गिरि अवलि गगन सों उत बतरावत।
इत सरवर पाताल भेदि अति छवि छहरावत॥
मंद पवन सरी वहै होन लगे पतझार।
पर्नकुटी नरसिंह लसत इक मानों कोड अवतार॥
हरन भुवभार को॥

लखि निज प्रभु की अन्त समय की वेदन भारी।
व्याकुल सब मुख तकैं सकैं धीरज नहिं धारी॥
राव सलूमर रोकि निज हिय उद्वेग महान।
हाथ जोर विनती कियो अति हरुए लगि प्रभु कान॥
वन आरत सने॥

अहो नाथ, अहो वीर-सिरोमनि-भारत-स्वामी!
हिंदू-कीरति थापन में समर्थ सुभ नामी!
कहाँ वृत्ति है आपकी, कौन सोच, कहँ ध्यान?
देखि कष्ट हिय करत है, केहि संकट में हैं प्रान।
कृपा करिकै कहो॥

सुनत दुख भरे वैन नैन तिनके दिशि फेर्‍यो।
भरिकैं दीरघ साँस सबन तन व्याकुल हेर्‍यो॥
पुनि लखि सुत तन फेरि मुख संतप्त अधीर।
धरि धीरज अति छीन सुर बोले वचन गँभीर॥
परम आतंक सों॥

बदलि पास कछु सँभरि वैन परताप कह्यो पुनि।
अति गंभीर सतेज मनहुँ गुंजत केहरि धुनि॥
"सुनो वीर मेवार के गौरव राखन हार।
मेरे हिय की वेदना जो कियो आस सब छार॥
अमर के कर्मने॥

एक दिवस एहि कुटी अन्न मेरे ढिग बैठ्यो।
इतने हि मृग एक आनि के वहाँ जु पैठ्यो॥
हरबराइ संधानि सर अमर चल्यो ता ओर।
कुटिया के या बाँस फँस्यो पाग को छोर॥
अमर तौहुँ न रुक्यो॥

बढ़न चहत आगे वह पगिया खैंचत पाछे।
पै नहिं जिय में धीर छुड़ावै ताको आछे॥
पागहु फटी सिकारहू लग्यो न याके हाथ।
पटकि पाग लखि झोपड़हिं अतिहिं क्रोध के साथ॥
वैन मुख ते कढ़े॥"

हिंदूपति के वैन सुनत छत्री कोपे सब।
अति-पवित्र रजपूत रुधिर नस-नस दौर्‌यो तब॥
लै लै असि दृढ़ पन कियो छ्वै-छ्वै प्रभु के पाय।
"जौ लौं तन, स्वाधीनता तौ लौं रखौं बचाय॥
संक करिये न कछु॥"

❀

बालमुकुन्द गुप्त

श्रीराम-स्तोत्र

अब आये तुम्हरी सरन, हारे के हरि नाम।
साख सुनी रघुवंशमणि, 'निर्बल के बल राम' ॥१॥

जपबल, तपबल, बाहुबल, चौथो बल है दाम।
हमरे बल एकौ नहीं, पाहि, पाहि श्रीराम ॥२॥

बार-बार मारी परत, बारहिं बार अकाल।
काल फिरत नित सीस पै, खोले गाल कराल ॥३॥

अब तुम सों विनती यहै, राम गरीब नेवाज।
इन दुखियन अँखियान महँ, बसै आपको राज ॥४॥

बहु दिन बीते राम प्रभु, खोये अपनो देस।
खोवत हैं अब बैठके, भाषा, भोजन भेष ॥५॥

कौन काज जनमत मरत, पूछत जोरे हाथ।
कौन पाप यह गति भई, हमरी रघुकुलनाथ ॥६॥

लक्ष्मी-पूजा

जयति जयति लच्छमी जयति मा जग उजियारी।
सर्वोपरि सर्वोपम सर्वहुँ ते अति प्यारी॥
व्यापि रह्यो चहुँ ओर तेज जननी एक तेरो।
तव आनन की जोति होत यह विस्व उजेरो॥
जहँ चंद्रमुखी मुखचंद्र की, किरनन उजियारो करैं।
तहँ तम न कटै युग कोटि लौं, कोटि भानु पचि पचि मरैं ॥१॥

बिन तेरे सब जगत जननि, मृतवत् अरु निसफल ।
देवन बात कही यह साँची छाँडि छोभ छल ॥
तोहि छाड़ि मा, देवन केतो ही दुख पायो ।
सुरपति चंद्र कुबेरहुँ तै नहिं मिट्यौ मिटायो ॥
जन सूखे तालू ओठ मुख, चरन गहे तव आय के ।
तब दूर भयो दुख सुरन को, रहै नैन झर वाय के ॥२॥

॰